TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182124

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—556—13-7-71—4,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H83 311A Accession No. P.G. H2659

Author सब्बरवाल, कंचनलता

Title अनचाहा · 1960·

This book should be returned on or before the date last marked below.

अनचाहा

डा० कंचनलता सब्बरवाल

किताबमहल, इलाहाबाद
बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, जयपुर, हैदराबाद
१९६०

प्रकाशक—किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद।
मुद्रक—अनुपम प्रेस, १७ जीरो रोड, इलाहाबाद।

समर्पण

उन्हें,

जिन्हें अकारण ही युगयुगों तक पराया बोझ ढोना पड़ता है·····न जाने क्यों·····

उन्हें,

जिन्हें अकारण ही युगयुगों तक सहन करना पड़ता है सभी कुछ···
···न जाने क्यों·····

उन्हें,

जिन्हें अकारण ही वेदना के भार को जीवन भर भीतर ही भीतर दबाये रखना पड़ता है·····न जाने क्यों·····

उसकी ओर से जिसकी आँखें भीग-भीग जाती हैं उनका बोझ उनकी वेदना पहचान कर·····

—कंचन

दो शब्द

इस कथा की भी कथा है पर उसे जाने दो। इसका जन्म तो 'श्याम' की प्रेरणा, तकाज़ों से हुआ है। 'श्याम' मुझे प्रिय है और उसका आग्रह भी उतना ही प्रिय है। उसी का तकाज़ा था कि यह कथा लिख ही दी जाय। लिखना आरम्भ करके भी अपने व्यस्त दैनिक कार्यक्रम में से बहुत ही कम समय इसे पूरा करने को निकाल पाती थी किन्तु उसके तकाज़े भी तो रुकने वाले नहीं थे। चलो कथा पूरी हो गई। उसकी इच्छा पूर्ण हुई। जीवन के चित्र इसमें हैं सम्भवतः स्वाभाविक भी हों। मन से, कल्पना से इन्हें निर्वासित कर देने पर मेरा अधिकार तो इन पर रह गया ही नहीं है। अब तो यह आप सब की वस्तु है···अब तो मैं 'श्याम' से भी कह सकती हूँ कि लो यह तुम्हारे हैं।

कंचनलता सब्बरवाल

१

बोझिल पलकें उठीं, बार-बार गिरीं, उठीं और उठ कर स्थिर-सी हो गईं। घनी दबी हुई निःश्वास एक बार हिली और फिर धीरे-धीरे घुट गई। काली पुतलियाँ मानों अन्तर को छू-छूकर चमक उठती थीं और दोनों होठों का कम्पन···

उसके दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बँधी हुई थीं और हस्त, पीठ पर नसें उभर-सी आई थीं···निस्पन्द शरीर अनन्त शिव या महा बुद्ध की पत्थर की तराशी हुई प्रतिमा की भाँति दीख पड़ता था। स्थिर-सी हुई पलकें रह-रह कर काँप उठती थीं और···और गालों के दोनों ओर उभरी हुई हड्डियाँ कुछ पीली-सी त्वचा से मढ़ी हुई-सी विचित्र दीख पड़ती थीं। वह बैठा था। उसका सिर उसके घुटनों पर टिका हुआ था और उसके उलझे बाल कभी-कभी हवा का हलका-सा झोंका आने से हिल उठते थे और··· और काँपती हुई-सी पलकें···शून्य-सी···बोझिल-सी पलकें···चमकती हुई धुँधली-सी, काली-सी पुतलियाँ···ओह उसके होठों की थिरकन···उसका स्पन्दनरहित शरीर···उसकी स्थान-स्थान पर उभरी हुई नसें और···और उसकी शून्य दृष्टि···सब मिल कर कुछ विचित्र-सा, वीभत्स-सा दृश्य उपस्थित कर रहे थे और···और आकाश के तनिक घिर-से रहे मेघ गरज उठे···इस बार उसकी स्थिर पलकें काँपीं और काँप कर रह गईं। उसके होठ हिले और हिल कर रह गये···जान पड़ता था उसकी पलकें, भ्रौंनियाँ, पुतलियाँ सभी कुछ एकबारगी स्थिरप्राय-सी हो गई हैं···

वातावरण शान्त, निस्तब्ध, गम्भीर था और वह अन्यमनस्क था।

बहुत देर पश्चात् उसने एक लम्बा श्वास लिया···देह में कुछ स्पन्दन-सा हुआ और उसकी अधमुँदी-सी आँखे कुछ अधिक खुलने लगीं···निरुपाय, निरुद्देश्य उन नेत्रों से वह धुँधले-से प्रकाश को चीर कर कुछ देखने की चेष्टा करने लगा किन्तु देखने को वहाँ था क्या! एक गहन, गम्भीर उदासी, एक धुँधला-सा वातावरण और···और···और उसकी बोझिल पलके झुक गई, फिर झुक गई···उसका तनिक उठा हुआ सिर फिर नत होकर लगभग घुटने छूने लगा। उसकी सस्पन्द देह फिर निस्पन्द-सी होने लगी···उसका बोझिल मन फिर अव्यक्त-सी वेदना के भार से तड़प-तड़प उठने लगा।

अतीत नाच उठा कल्पना मे और जल उठा वर्तमान। उसने सुदूर घने तममय अतीत में कुछ खोजने, टटोलने का-सा प्रयत्न किया किन्तु खो गया वह नीरव मूक, सघन अन्धकारमय अतीत और···और उसकी दृष्टि शून्य मे खो गई। उसने देखा एक बार उस स्थान, उस धरती, उस मिट्टी की ओर जहाँ इस समय भी उसके पैरो के चिह्न स्पष्ट ही उभरे हुये दिखाई पड़ रहे थे···जहाँ इस समय भी उसके कंकाल प्रायः शरीर का बोझ उठाये हुये दो नितान्त असहाय, नितान्त नीरव, नितान्त दुर्बल पग डगमगाते हुये अपने धुँधले से चिह्न छोड़ गये थे और चिह्न इस समय भी एकबारगी स्पष्ट थे। उसे बीस वर्ष पूर्व के वे सुनहरे दिन स्वप्न की भाँति दिखाई दिये जब कि वह भी मानव था, इसी जगत का वासी था, इसी जगत का प्राणी था। उसे जान पड़ा कि वह आज प्रेत है, सचमुच का प्रेत अशरीरी प्रेत···भूत·· और वह अचानक ठठाकर हँस पड़ा। बोझिल-से वातावरण में उसकी विचित्र भयंकर हास्य-ध्वनि और भी घनी और भयकर हो उठी थी किन्तु उसका मौन भी तो उतना ही भयावह, उतना ही कठिन और उतना ही भयकर था।

मुझे जीवित रहना ही होगा। किन्तु क्यों? किसके लिये? क्या किसी के लिये ही जीवित रहना आवश्यक होता है? क्या, क्योंकर, किस

लिए की मीमांसा हो जाने पर ही जिया जा सकता है ? उसका भाराक्रान्त मन और भी उलझ उठा और···और उसके मस्तिष्क पर सैकड़ों हथौड़ों की-सी चोटें पड़ने लगीं। वातावरण तब भी शून्य था, निस्तब्ध था और अन्धकार तब भी धीरे-धीरे बढ़ रहा था। उसे आश्चर्य हुआ कि उसे प्राणदण्ड क्यों नहीं दिया गया था···उसे अनेकों वर्ष पूर्व के अपने वकील के शब्द स्मरण हो आये 'चलो, प्राण तो बचे'। और वह एक-बारगी काँप उठा। मन प्राण तक स्पन्दित हो उठे। उसका जी चाहा कि कुछ कहे, कुछ सुने किन्तु···किन्तु वहाँ था ही कौन···कहीं भी उसका था ही कौन ! वह धूमिल अन्धकार के बीच तनिक-तनिक-सी उजली रेखाओं के बीच देखने का प्रयत्न करने लगा अपना अतीत···चित्रपट के दृश्यों की भाँति···अतीत स्मृतियों की भाँति···पीड़ा की कसक की भाँति···स्व-प्निल उजले-धुँधले, हँसते-रोते, जीवित-सुप्त चित्रों की भाँति···उसका जी चाहा कि जीवितों के जगत में लौट जाय—वहाँ जहाँ कि उसका एक नीड़ था, भले ही वह टूटे तिनकों से ही जुड़-मिलकर बना हो, जहाँ कि उसके निज जन थे, भले ही विश्व के स्वार्थों के बीच, उन्हीं स्वार्थों को लिये-दिये ही वे चल रहे हों, जहाँ कि उसके मीठे-खट्टे···ऊँचे-नीचे···स्पष्ट धुँधले कल्पना-महल थे, भले ही उसकी ईंटें कभी की टूट-फूट गई हों, किन्तु मार्ग था ही कहाँ···लौटने का मार्ग कहाँ था···वहाँ तक लौट कर पहुँच पाने का उपाय ही क्या था ? उसका जी चाहा कि अपनी विवशता पर ठठाकर हँस उठे, किन्तु हँस न सका। जी चाहा कि रो दे किन्तु रो भी कहाँ सका ! अतीत के चित्रों को परे ठेल-ठाल कर वह वर्तमान, भयंकर, कठोर, जघन्य वर्तमान को ही गले लगा लेना चाहता था, किन्तु वह भी तो कहीं हो पा रहा था···तब···तब उसे लगा कि वह पागल हो रहा है, उसका मस्तिष्क विकृत होता जा रहा है। उसका सिर चकरा रहा है। और ···और वे क्षीण स्मृतियाँ भी, कहीं सुदूर अतीत की प्रिय धरोहरें भी खोई जा रही हैं···वह काँपने लगा···उसे लगा कि उसका समस्त जीवन

विधाता की एक भयंकर भूल मात्र ही होकर रह गया···और···और उसकी स्मृतियाँ उसे धोखा दे रही थीं···उसका जीवन···जीवन के चित्र ही स्मृतिपट पर धुल-पुँछकर एकाकार हुये जा रहे थे और वह···वह उन्हीं में स्वयं भी खोया-खोया-सा जा रहा था···उसका विस्तृत करुणाजनक, कठिन, कठोर अतीत भी एकबारगी···एक ही बार जान पड़ता था कि चित्रपट पर चलने वाले चित्रों के समाप्त हो जाने पर शून्य-सा हुआ जा रहा है। उस शून्यता में बोझिलपन तो था ही नहीं···थी केवल भयंकरता···उदासी और कठिन, कठोर उपहास···व्यंग्य···व्यंग्यात्मक अट्टहास···वर्षों पूर्व के बचे हुए प्राण मानो इस समय उसके लिये एक कठिन समस्या से बन गये···वही आज उसके लिए कठिन भार-सा हो गये···और उसकी रह-रहकर हिल उठने वाली पलकें कुछ-कुछ स्थिर-सी···सुदूर अन्तरिक्ष में कुछ टिकने-सी लगीं। रात घिरती जा रही थी किन्तु वह उसी प्रकार स्थिर था। धीरे-धीरे सुदूर दिखाई देने वाला हलका-सा धब्बा निकटतर···निकटतम होता गया। एक नारी मूर्ति स्पष्ट हो रही थी···होती जा रही थी···वह स्थिर···अपलक दृष्टि से देखता रहा···नारी ने निकट आकर स्नेह से उसकी उभरी हुई नसों वाले हाथ पर हाथ रख कर कहा 'उठो···चलो।' वह चौंक पड़ा 'तुम··· मृदुला···तुम···' 'हाँ, मैं ही हूँ। क्यों आश्चर्य होता है?'

'तुम क्यों आई कुँवरानी···मैं जो कुछ भी दे सकता था दे चुका हूँ··· अब और क्या चाहती हो···' संयम का बाँध टूट चुका था···विवश निरुपाय मानव मन तिक्त होकर बिखर रहा था। नारी ने असीम धैर्य से कहा—'असीम गौरव से भरे-पूरे दान की चर्चा करके अपने को छोटा न करो। जो एक दिन बिना माँगे ही याचक की झोली में तुमने डाला है वह अमूल्य है उसका मूल्य किसी भी स्वार्थ के साथ रख कर आँकना तुम्हें शोभा नहीं देगा···।' पुरुष पिघल उठा···यह मेरी कौन है···शायद कुछ भी नहीं···कोई भी नहीं शायद सब कुछ···सब कुछ···सर्वस्व 'ओह!' कह कर घनी वेदना से वह कराह उठा···और अन्धकार में भी नारी का

श्वेत मुख पीला हो उठा। मन ही मन नारी ने कहा—'मर नहीं सकी जीवित हूँ, इसीलिये आ सकी हूँ ···' पुरुष की ध्वनि अन्त तक दुर्बल होकर डूब गई···स्वर अन्त तक दुर्बल होकर मिट-मिट कर घुलता-घुलता-सा छिप गया···नारी के पीले मुख पर प्रगाढ़ अन्धकार की एक छाया-सी आई और चली गई। इस बार कुछ भी न कह कर उसने पुरुष के हाथ पर धीरे से बहुत धीरे से हाथ रख कर कहा—धीरे-धीरे माता की तरह सान्त्वना देते हुए थपकते हुए 'उठो' 'पर मैं तुम्हारी सहानुभूति भी क्यों लूँ···किस अधिकार से लूँ···' 'अधिकारों की' परिभाषा जिस कोष में की जाती है आज हम उससे बहुत दूर हो चुके हैं···' पुरुष कातर होकर उठ खड़ा हुआ उसके दोनों पैर डगमगा रहे थे, उसकी पलकें तक हिल रही थीं। नारी ने उसका दाहिना हाथ पकड़ रखा था, उसके रूखे केश हवा में लहरा रहे थे। नारी शान्त जान पड़ती थी किंतु उसके शान्त मुख पर रह-रह कर भीतर भयंकर रूप से उठते तूफान के दबे होने पर भी कुछ-कुछ लक्षण उभर उठते थे फिर भी वह शान्त थी, महिमामयी थी···गौरवमयी थी पुरुष शायद चलना नहीं चाहता था। नारी ने स्वर को यथासम्भव सहज बना कर कहा—'विश्वास नहीं होता है मुझ पर क्या ?'

'होता तो है किंतु करना चाहता नहीं···' नारी के मुख की दीप्ति बुझ-सी गई। उसके चेहरे का समस्त रक्त निचुड़-सा गया···उसकी दृष्टि खो-सी गई किन्तु वह उसी प्रकार शान्त खड़ी रही। कुछ देर मौन, अवाक··· निश्चल रह कर उसने कहा, 'इस प्रकार दुर्बलता दिखा कर अपनी ही दृष्टि में छोटे न बनो अरुण ! मेरे मास्टर !! यदि विश्वास होता है तो उसके न होने की चाहना न करो···यदि प्राप्ति का दम्भ नहीं कर सकते तो अप्राप्ति की पीड़ा को उछाल कर ओछा न करो···तुम ऐसा नहीं कर सकोगे···मेरे मास्टर···' पुरुष फिर बैठ गया। वायु साँय-साँय करके चल रही थी और धूल के कण उड़-उड़ कर दोनों के मुँह पर पड़ रहे थे। पुरुष का समस्त शरीर काँप रहा था और उसके माथे पर स्वेद-बिन्दु चमक

रहे थे। नारी की देह भी रह-रहकर काँप उठती थी किंतु वह खड़ी ही रही···उस समय भी वह पुरुष की आँखों में देखने की चेष्टा कर रही थी किंतु पुरुष दूर सुदूर क्षितिज की ओर एक टक देख रहा था।'

२

'सुख और दुःख दोनों को ही परे ठेल कर उनके ठीक बीचोबीच मार्ग बना कर जो चल पाते हैं क्या वे श्रद्धेय नहीं हैं ?'

'होंगे' बड़ी लापरवाही से घास पर दोनों पैर फैलाते हुये उसने कहा। वातावरण की मस्ती उसके स्वर में भरी हुई-सी जान पड़ती थी। 'तू भी विचित्र है।' 'सच ?' कह कर वह स्वयम् ही हँस पड़ी। पास ही बैठी हुई दूसरी किशोरिका भी खिलखिला उठी। हँसी थमने पर उसने कहा, 'कभी किसी दिन तेरे जीवन में गम्भीरता भी आयेगी ?'

'तो तू क्या यह चाहती है कि मैं १५ वर्ष की आयु में ही तेरी भाँति वेद-पुराण की बातें करने लगूँ।'

इस बार दूसरी किशोरी का मुख और भी गम्भीर हो उठा था।

'वेद पुराण की बात नहीं कहती, रानी ! मैं तो इसी लौकिक शृङ्खला-बद्ध वातावरण की बातें करती हूँ और···और फिर तेरी जैसी मस्ती लाऊँ भी कहाँ से ?'

'लाऊँ भी कहाँ से !' मुँह चिढ़ाते हुये पहली किशोरी ने कहा, 'मूर्ख ! इन हरे-हरे पत्तों को देख, उस ओर खिले हुये रंग-बिरंगे फूलों को देख··· इन नन्हें-नन्हें पौधों को देख और पैरों तले बिछी हुई हरी-हरी घास को देख···सभी तो मस्त हैं···फिर तू ही एक···' और वह फिर हँस दी।

दूसरी बालिका मौन ही रही। फिर उसने धीमे स्वर में कहा—'क्या कहीं कुछ भी तेरे लिए श्रद्धेय नहीं है ? आदरणीय, पूजनीय नहीं है। क्यों, मृदुला ?' प्रश्न उसके मन से उमड़ रहा था।

इस बार पहली किशोरी ने जिसका नाम मृदुला है तनिक-सा सिर उठा कर दूसरी को ओर देखते हुये कहा---'यदि मिस सरकार ने तेरी यह उक्ति सुन ली तो फिर मेरी कुशल नहीं है, पगली !' वाक्य के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उसकी मुद्रा में भरा हास्य झलक उठा और दोनों फिर खिलखिला कर हँस पड़ीं।

मृदुला स्वभाव से ही मस्त, लापरवाह, हँसोड़ और सदा प्रसन्न प्रकृति की है किन्तु मंजुला उतनी ही अधिक गम्भीर, सतर्क और सोच-विचार करने वाली बालिका है। दोनों में घना स्नेह है। पाठशाला में दोनों प्रायः एक साथ ही रहती हैं। घर में भी एक-दूसरे के पास आना-जाना रहता ही है। मृदुला भावुक, सौन्दर्यप्रिय, अत्यन्त सरल, शिशु की-सी प्रकृति की है। मंजुला कुशाग्र-बुद्धि एवं दार्शनिक प्रकृति की प्रतिभावान् बालिका है। मृदुला का जन्म अतुल सुख-सौभाग्य के बीच हुआ था और मंजुला का भी दुःख से परिचय कभी नहीं रहा। फिर भी दोनों कभी-कभी दुःख-सुख की चर्चा करती हैं। उस दिन विद्यालय में उत्सव था। उत्सव की तैयारियों में दोनों सखियों ने उत्साह से भाग लिया था। उत्सव आरम्भ हो गया था। नाटक हो रहा था। छोटी-बड़ी सभी बालिकायें अपना-अपना अभिनय सफलतापूर्वक कर रही थीं। मंजुला का कार्य समाप्त हो चुका था; वह पर्दे के बगल में खड़ी अभिनय देख रही थी। मृदुला ने कोई भूमिका नहीं ली थी। उसे केवल एक नृत्य करना था, जो कि वह कर भी चुकी थी एकाएक किसी ने मंजुला के कन्धे को दबा दिया। हलकी-सी 'सी' के साथ मंजुला ने मुड़कर देखा तो मृदुला उसके कन्धे पर से झाँक रही थी। मंजुला ने बहुत ही धीमे स्वर में फुसफुसाकर कहा—'क्या है मिन्नी ?'

'चल बाहर चलें।'

'अभी ?'

'हाँ।' मंजुला को आश्चर्य तो अवश्य हुआ, किन्तु अकारण प्रश्नोत्तर करने का उसका स्वभाव नहीं था और अवसर भी कहाँ था। निकट ही

तो नाटक हो रहा था। तनिक से भी शब्द से उसमें बाधा पहुँच सकती थी। उसने मुड़कर मृदुला का हाथ पकड़ लिया और धीरे-धीरे दोनों हाल से बाहर निकल गईं। हाल में तालियों की गड़गड़ाहट गूँज उठी। साथ ही मृदुला खिलखिला कर हँस उठी।

'अरी पागल हुई है क्या, इतने जोर से हँस रही है, कहीं प्रिंसिपल को पता लग गया तो फिर···'

'फिर क्या ? कह दूँगी यह मंजु हँसा रही थी।'

'हाँ इतने में ही छूट जायेगी, क्यों ?' मृदुला अब भी धीरे-धीरे हँस रही थी।

'छूटने की बात नहीं जानती, किन्तु इतना जानती हूँ कि हँसी के मारे मेरा पेट फटा जा रहा था, तब ही तो तुझे यहाँ घसीट लाई कि जी भर के हँस तो लूँ।'

'तू हँसेगी तो इसमें मैं क्या करूँगी ? तू आती और हँस जाती, मुझे भला वह दृश्य क्यों नहीं देखने दिया ? इतना आनन्द आ रहा था कि क्या कहूँ।'

'तेरे बिना मेरा हँसने का आनन्द जो नष्ट हो जाता।'

'पर तुझे इतनी हँसी क्यों आ रही थी मिन्नी ?'

'तू तो मंजु पागल है। क्या मूर्खों की भाँति मुँह बाये गम्भीर दृष्टि से देख रही थी और सो भी क्या···'

मंजु ने बात काट कर कहा—'मिन्नी ! हर समय हँसी अच्छी नहीं लगती। सचमुच ही दृश्य दर्शनीय था। कितने कष्टों, क्लेशों के बीच भी नायक केवल भगवान् का आश्रय लिये···'

मंजु चौंक पड़ी। मिन्नी खिलखिला कर हँस रही थी। हक्की-बक्की मंजु की ओर मृदुला ने हँसी तनिक कम हो जाने पर देखा और देखते-देखते तनिक गम्भीर हो उठी। इस बार उसने मुख में तनिक-सी भी हँसी की आभा न लाकर सीधे-सादे ढंग से ही कहा—'देख मंजु ! जो केवल भगवान का

ही आश्रय लेकर चलते हैं, वह नारायण के प्रिय पात्र भले ही हों, मानव के श्रद्धा के पात्र क्योंकर होंगे ?'

और भी अधिक आश्चर्य से अपने दोनों विशाल नेत्र मृदुला के सुन्दर मुख पर गड़ा कर मँजु ने कहा—'सुख और दुःख दोनों को ही परे करके, ठेल करके, उनके ठीक बीचो-बीच केवल भगवान् के ही आसरे मार्ग बना कर जो चल पाते हैं, क्या वे श्रद्धेय नहीं हैं ?'

'तुम उनके कठिन, कठोर, प्रतारणापूर्ण जीवन को कहती हो तपस्या और उस पर करती हो श्रद्धा किन्तु मुझे तो उनकी मूर्खता पर हँसी आती है। ऐसा लगता है कि वे घने मिथ्याभिमान में सिर से पैर तक डूब कर भगवान् के नाम का आश्रय लेकर स्वयम् अपने से ही बार-बार कहते रहते हैं कि यह मार्ग, सुख-दुःख के ठीक बीचोबीच का मार्ग मैं बना रहा हूँ किन्तु यह तो कोरी आत्मप्रवंचना ही है।'

'तब फिर वह मार्ग उनके लिये भगवान् के अतिरिक्त और कौन बना कर रख देता है ? और वे उस पर चलते किसके सहारे हैं ? तू ही बता।'

'कौन बनाकर रख देता है नहीं जानती, किन्तु मानव के बल पर अविश्वास करके किसी अनदेखे, अनसुने, अनचाहे भगवान पर इतना अधिक विश्वास करके ठगा जाना भी मेरे बस का नहीं है, रानी !'

'तब, तब मानव क्या केवल सहते जाने के लिये नहीं है ? उसकी यह स्वीकारोक्ति क्या उसके जीवित होने का प्रमाण नहीं है ? स्वयम् अपने पर, अपने बल पर किया जाने वाला उसका यह अविश्वास क्या उसकी प्रगति·····'

'गति प्रगति···स्वीकारोक्ति···इन बड़े-बड़े शब्दों के जाल में फँसाकर तुम मुझसे क्या कहला लेना चाहती हो, सो पता नहीं, किन्तु मुझे तो कभी-कभी यह जान पड़ता है कि वस्तुतः इतनी बड़ी सृष्टि में मानव, उसकी शक्ति, सब ही कुछ नगण्य है···तुच्छ है···'

मंजु सहज ही असहनशील नहीं होती है, उत्तेजित भी नहीं होती है,

किन्तु आज इस मृदुला को हुआ क्या है, वह सोच ही नहीं पा रही है, अतः उसने बात काटकर कहा—'मार्ग बनाना मानव का पुनीत कर्तव्य है। उसका मार्ग कभी किसी दिन भी किसी अनन्त शक्ति ने अवरुद्ध नहीं किया है, किया है केवल समाज ने और वह समाज का निर्माता भी तो स्वयं ही है। यदि किसी एक दिन व्यक्ति के द्वारा स्वयं अपने ऊपर शासन करने के लिये समाज का निर्माण किया गया था तो आज वह उसका विध्वंस भी तो कर ही सकता है।'

मंजु का स्वर उत्तेजित होकर कुछ ऊँचा भी हो गया था। मृदुला ने कोमल स्वर से कहा—'भाषण बहुत सुन्दर रहा, किन्तु यह तो केवल भाषण ही है, मंजु! जीवन भाषणों से कहीं अधिक सत्य है, जीवित है और कठोर है।' मंजु ने क्षण भर चुप रह कर दृढ़ता से कहा—'वह भी समय आने पर देखा जायेगा, किन्तु यदि कभी वैसा समय आ ही गया तो तुम मंजुला को थककर बैठते भी न पाओगी और अज्ञात, अपरिचित की देहरी पर सिर पटकते भी नहीं।'

'पगली!' स्नेह-स्निग्ध स्वर से मृदुला ने कहा। उसका दाहिना हाथ इस बार मंजु के कन्धे पर था और मंजु के स्वर का इतना गम्भीर जान पड़ता था कि वायुमण्डल में तरंगित-सा हो रहा है।

'मुझे यह सब बड़ा विचित्र लगता है। मैं तो सहज भाव से 'त्वया हृषिकोष, मया हृदयस्थिते यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि' कहते हुये ही विश्व मार्ग पर चलते जाना चाहती हूँ मंजु।' स्वर में तनिक-सा व्यंग्य का भी पुट था और थी शायद चिढ़ाने की इच्छा भी।

'ऐसा हो सके तो फिर क्या कहना है!'

'क्यों री! ऐसा होने में कठिनाई ही कौन-सी है?'

'देख, देख लोग हाल से बाहर आने लगे हैं। जान पड़ता है कि उत्सव समाप्त हो गया। तेरे पिताजी तो बाहर निकलते ही तुझे खोजेंगे। चल अब उधर ही चलें।'

मृदुला तुरन्त ही उठ खड़ी हुई। उसके पिता विद्यालय की प्रबन्ध-कारिणी समिति के सर्वेसर्वा तो थे ही, प्रान्त की सरकार के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मन्त्री भी थे। लक्ष्मी तो सदैव ही उनकी दासी बनी रही। यूँ पैतृक जमीदारी भी थी और स्वयं अपनी किसी समय में अच्छी वकालत भी थी किन्तु वकालत का व्यवसाय तो असहयोग आन्दोलन के युग में ही छोड़ दिया था। उसके बाद व्यवसाय करते रहे और उसमें सदा लाभ ही उठाते रहे। देश-सेवा, देश-प्रेम आदि में भी उनकी भाँति कम ही लोग होंगे।

स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये किये गये संग्राम में हँसते-हँसते जेल भी कई बार हो आये थे। नगर में उनकी प्रतिष्ठा तो थी ही, राज्य में भी उनके भक्तों की संख्या कम नहीं थी। यूँ तो उनका महत्व देश-भर के लोग जानते ही थे। लक्ष्मी और प्रतिष्ठा का घना सहयोग था। व्यवसाय का कार्य तो अब अधिकतर उनके ज्येष्ठ पुत्र मणीन्द्र कुमार गुप्त ही देखते थे। वकालत भी उनके कनिष्ठ पुत्र गिरीन्द्र कुमार गुप्त ही करते थे। बड़ी बिटिया प्रमिला का विवाह हो चुका था और गत वर्ष ही तो वह माता भी हो गई है। उसके पति कलकत्ता के एक प्रसिद्ध व्यवसायी-परिवार के मँझले लड़के हैं।

सबसे छोटी सन्तान मृदुला है जो कि स्थानीय बालिका विद्यालय में एफ० ए० के प्रथम वर्ष में पढ़ती है। पिता की इच्छा तो उसे और अधिक पढ़ाने की न थी, किन्तु गिरीन्द्र के तर्क और मृदुला के प्रबल आग्रह ने उसका पढ़ना सुलभ कर दिया। मृदुला की माता सरल चित्त, उदार हृदया पतिव्रता नारी के नाते पति के प्रत्येक कार्य का समर्थन प्रायः कर ही दिया करती हैं। जो हो, मृदुला पर भगवान् की सब प्रकार से पूर्ण कृपादृष्टि है। उसके पिता माननीय चन्द्रकुमार गुप्त भी अपनी पुत्री के इस सर्वाङ्गपूर्ण सौभाग्य से अपरिचित तो ज्ञात नहीं होते हैं।

दोनों सखियाँ बाहर की ओर चली आईं। मृदुला ने धीरे से मंजुला से कहा—'हमारे साथ ही चली चलना। तुझे उतारते चलेंगे।'

'नहीं भइया आए होंगे। उनका स्वभाव तो तू जानती ही है, चिढ़ जायेंगे।'

'अच्छा, ठीक है। कल तो छुट्टी रहेगी अब परसों मिलेंगे।'

'हाँ, सो ही तो' मंजुला कुछ अन्यमनस्क-सी हो उठी थी। मंजुला के पिता साधारण मध्यवर्गीय व्यक्ति थे। दो ही सन्तानें थीं, एक पुत्र और एक कन्या। खाने-पीने की चिन्ता तो थी ही नहीं। यूँ कुछ विशेष उद्यमी भी नहीं थे। आनन्द से जीवन बिताना ही उनका उद्देश्य था। अभाव नहीं था, किन्तु बाहुल्य भी नहीं था। घर में अधिक प्राणी न होने से झंझट भी अधिक नहीं था और चिन्ता भी नहीं। पुत्र एम० ए० में पढ़ रहा था और पुत्री एफ० ए० के प्रथम वर्ष में। दोनों ही अत्यन्त मेधावी और शान्त थे। मुहल्ले में आदर-सम्मान भी यथेष्ठ था और मेलजोल भी। घर में भी परस्पर स्नेह का ही आधिक्य था। साधारण मध्यवर्गीय परिवार के दुःख भी थे और सुख भी। दोनों के बीच मंजुला का जीवन साधारण ढंग से ही बीतता जाता था और मंजुला भी साधारणतया सुखी थी। जो था उससे अधिक की उसे आकांक्षा भी नहीं थी और उसका ज्ञान भी नहीं।

३

'बेटा! तेरा सभी हठ सहती आ रही हूँ, किन्तु अब इसे जाने दे मेरे लाल!' माँ ने अत्यन्त कोमल स्वर में कहा।

'जानता हूँ माँ और इसीलिये तो आज तुम्हारा बेटा यह साहस कर पाया है।'

'बेटा! यह साहस नहीं है। यह तो नित नवीन विपत्तियों की सूचना है।'

'नहीं माँ ! ऐसी बात नहीं है, तुम मुझ पर विश्वास करो। ऐसा फिर नहीं होगा।'

'बेटा इस घर में भगवान् स्थापित हैं। सयानी लड़की है। अपने पिता का हाल तुम जानते ही हो। गली मुहल्ले का साथ है और···और···'

'माँ, मेरी माँ, विश्वास करो यह पाप नहीं है, दोष नहीं है। तुम्हारे भगवान् इससे तनिक भी अप्रसन्न नहीं होंगे।'

'तो मुझे पूरा हाल तो बता दे।'

'नहीं माँ, सो सब आज न कह सकूँगा। बताओ दो दिन के लिए उसे आश्रय दोगी अथवा नहीं।' लड़के के स्वर की दृढ़ता ने यशोदा देवी को सिर से पैर तक कँपा दिया। उन्होंने हकलाते हुए कहा—'यदि ऐसा ही है तो उसे किसी आश्रम में क्यों नहीं पहुँचा देता दो दिन के लिये।' अरुण कुमार का गोरा मुख तमतमा उठा। वह क्षण भर मौन रह कर गरज उठा—'उसे बचपन से देखता आ रहा हूँ। उसकी माँ की बनाई पूरी-कचौड़ी सैकड़ों बार खा चुका हूँ। मुझे वह मंजु की ही भाँति प्यारी है माँ···छिः उसे आश्रम···'

माँ के सम्मुख धरती-आकाश घूमता हुआ-सा जान पड़ने लगा। सच ही तो वह बचपन से ही, यहाँ तक कि उस अवस्था से जब कि बच्चे नंगे घूमा करते हैं, इस घर में अपनी माँ पड़ोसिन दरिद्रा विधवा ब्राह्मणी के साथ आया करती थी। उसकी माँ भी तो बार-त्योहार सब ही घरों में काम-काज कर दिया करती थी। किन्तु उनके सयाने लड़के की इतनी सहानुभूति उस लड़की से क्यों है ? क्षण भर को माँ के हृदय में एक विचार चमका किन्तु तुरन्त ही बुझ-सा गया। मंजु की कोमल प्रतिमा माँ के हृदय में चमक उठी। माँ का यथार्थ वात्सल्य जाग उठा। कुछ देर सोच कर माँ ने धीरे से कहा—'तेरी इच्छा।'

'मेरी अच्छी माँ' कहकर अरुण कुमार माँ से लिपट गया। माँ हाथ

की सिलाई नीचे रखकर कहने लगी—'अरे यह क्या बचपन करता है अरुण !'

'अच्छा तो माँ अब उससे कह आऊँ। वह नीचे के बरामदे में बैठी रो रही है।' माँ मौन ही रही। दो-दो सीढ़ियाँ साथ-साथ उतरकर अरुण कुमार ने झटपट नीचे उतरकर खम्भे के सहारे बैठी एक अर्द्ध नग्न-सी लड़की से कहा—'लो राधा, अब अभय हो। माँ ने शरण दे दी है। दो दिन में तो वह लौट भी जायेगा। तेरी माँ कुछ बहाना बनाकर उसे टाल ही देगी !'

'भइया !' राधा ने अरुण के चरण पकड़ना चाहा, किन्तु दो हाथ पीछे हटकर अरुण कह उठा—'हरे-हरे, यह पाप न करना। ब्राह्मण की बेटी से पैर छुआकर किस नरक में जाना होता है यह नहीं जानती ? क्यों री राधा ?' और स्वयं ही ठठाकर हँस दिया। अरुण की हँसी, उसकी भाव-भंगी देखकर घोर दुःख में भी राधा हँस पड़ी। उसकी माँ जन्म की दरिद्रा, बिधवा अभागिन है, यह बात राधा जानती है। उसकी दुःखिनी माँ लोगों का काम-काज करके, माँग-मूँगकर अपना और अपनी बेटी का पेट भरती है, यह भी राधा समझती है और इसी प्रकार जीवनयापन करते-करते किसी एक दिन उसका विवाह किसी दूर गाँव के ब्राह्मण युवक, नहीं पुरुष से हुआ था, यह भी उसने सुना है। किन्तु विवाह हो जाने पर स्त्री को पुरुष से किस प्रकार भीषण मार खानी पड़ती है और उस मार की मात्रा पितृहीना एवं दरिद्रा माता की सन्तान होने पर किस प्रकार बढ़ जाती है, उसका अनुभव उसे पिछले मास पति के घर जाने पर ही हुआ था। आठ दिन हुए वह वहाँ से भाग कर आ गई और आज उसका पति उसे ले जाने के लिए आ रहा है, यह भी वह जानती थी। राधा के कोई भाई नहीं था। वह जानती भी नहीं थी कि भाई क्या होता है, किन्तु वह बचपन से पड़ोस के सभी लड़कों को भइया कहती आ रही थी। 'भइया' शब्द का अर्थ उसके कोष में केवल मात्र वही था जो कि 'राजा', 'बाबू',

'सरकार' अथवा किसी भी अन्य शब्द का होता, किन्तु अरुण तो बचपन से ही पेट भरा होने पर अपने हिस्से की मिठाई उसे चुपके से पकड़ा दिया करता था। मंजु भी कभी-कभी भाई की देखा देखी उसे मिठाई दे देती थी। दुःख के समय माँ-बेटी जब निराशा के घोर गर्त में गिरी जा रही थीं, अरुण सड़क पर से जाता दिखाई दिया। राधा जानती थी कि इस बार पतिगृह जाकर कुशल नहीं है। उसने माँ से कहा—'मैं तो अरुण भइया के घर जाकर माँ जी के चरण पकड़ लूँगी कि, मुझे दो दिन अपने घर में छिपा लो। तुम उसे किसी प्रकार टाल देना, माँ।' माँ निरुपाय नारी—रो रही थी। अरुण घर पहुँचा ही था कि राधा ने उसके पैर पकड़कर रोना आरम्भ कर दिया।

अरुण के निकट 'भइया' शब्द स्फुट होने लगा। मंजु, राधा, मृदुला सब नारी ही तो हैं, फिर नारी, यही नारी इतनी दयनीय क्यों? उसे बरबस राधा के स्थान पर मंजु दिखाई देने लगी।

अरुण तड़प उठा। यह बात कुछ वर्षों पूर्व की है। प्रायः लोग उसे भूल भी गये हैं। केवल दो व्यक्ति आज भी उस बात को भूल नहीं पाये हैं। एक तो राधा की दुःखिनी माँ जिसकी लड़की ने बार-बार इस प्रकार आत्म-प्रतारणा करके अपने को बचाने से प्राण दे देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा और दूसरा अरुण। रात्रि के भयानक सन्नाटे में अब भी कभी-कभी उसे ऐसा जान पड़ता है, मानो नदी में डूबकर फूली हुई राधा की मृत देह खिड़की के पास आकर कह रही है, 'भइया! इसका यही अन्त है क्या?' और उसे तुरन्त ही स्मरण आ जाती है नन्ही-मुन्नी रानी बिटिया मंजु। अरुण मंजुला से पाँच वर्ष बड़ा है और यूँ भी मंजुला अरुण का आदर करती है, उसकी भावनाओं का आदर करके ही चलती है। दोनों में परस्पर स्नेह भी तो बहुत है। अरुण के मित्रों की संख्या बहुत ही कम है और मंजु की तो एक मात्र सखि मृदुला ही है।

मंजुला उत्सव के पश्चात् भाई के साथ घर आ गई। आज अरुण

कुछ अधिक उत्तेजित जान पड़ता था। दोनों ताँगे के पिछले भाग में बैठे थे। मंजुला ने धीरे-धीरे भइया के कुछ निकट खिसककर कहा—'क्या है भइया ?'

'कुछ भी तो नहीं। क्यों ?' अरुण ने अन्यमनस्कता से मंजुला की ओर बिना देखे ही कहा।

'लगता है, तुम आज कुछ मुझसे छिपा रहे हो।'

'पगली ! कभी तुझसे कुछ छिपाया है ?'

'किन्तु आज ?' प्रश्नसूचक मुखमुद्रा से मंजुला ने अरुण की ओर देखा। अरुण के मुख पर कुछ चिह्न ऐसे दिखाई दिये कि उन्हें मंजुला सहज ही वेदना कह सकती थी। किन्तु मंजुला ने बात बढ़ाई नहीं, न जाने क्यों वह प्रश्न का उत्तर न पाकर भी उत्साह से अपने विद्यालय के उत्सव का वर्णन करने लगी। अरुण का यद्यपि मन उधर नहीं था, फिर भी वह कहीं-कहीं हाँ-हूँ करके बहन के उत्सव-वर्णन में सहयोग देने लगा। मार्ग लम्बा था। मंजुला भाई का ध्यान बँटाने के लिए अकारण उत्सव-वर्णन कर रही थी और बहिन का मन रखने को अकारण ही अरुण उसमें सहयोग दे रहा था। दोनों ही यह समझ भी रहे थे, किन्तु चल ही तो रहा था। तनिक देर पश्चात् मंजुला रुक गई और अरुण ने स्वयं ही धीरे-धीरे कहा—'मंजु ! यह तेरे साथ जो बाहर तक आई थी, वह लड़की कौन है ?'

मंजुला ने आज तक किसी को कभी मृदुला का परिचय देने का अवसर ही नहीं पाया था। मृदुला उसके लिए तो उसकी सखि मात्र ही थी न। उसने तनिक मुस्कानभरे मुख से कहा—'क्यों ! मेरी सखि है, भइया !' अरुण स्वर की सरलता से कुछ झेंप-सा गया।

'हाँ सो तो होगी ही किन्तु इनकी धज तो कुछ निराली-सी थी।' इस बार मंजुला खिलखिला कर हँस पड़ी। कुछ शान्त होकर उसने कहा—

'भइया वह बड़ी ही विचित्र लड़की है। तुम तो जानते ही होगे माननीय श्री चन्द्रकुमार गुप्त को। उनकी पुत्री है वह।'

'हूँ।' अरुण ने कुछ इतनी गम्भीरता से कहा कि मंजुला का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। कुछ तीव्र-से स्वर में अरुण ने कहा—'मंजु! यदि तेरी यह सखि अपने मैक्सफैक्टर कम्पनी में दिये जाने वाले धन का कुछ अंश भी,···एक छोटा-सा अंश भी···'

बात काटकर मंजुला ने कहा—'जाने भी दो भइया! तुम्हें तो सारे दिन यही सूझता है। मिन्नी 'मेकअप' करती है तो क्या हानि है? क्यों न करे?' मंजुला ने शिशु के-से भोलेपन के साथ प्रश्न किया—अरुण सुन कर क्रोधित होने के स्थान पर हँस पड़ा। ताँगा घर के निकट पहुँच चुका था?

'तब तो तू भी कल से 'मेकअप' करना आरम्भ कर देना मंजु! वाह क्या भली सूरत दिखाई देगी।' चिढ़ाते हुए अरुण ने कहा।

ताँगा रुक गया था। उतरते हुये धीरे से मंजुला भाई के निकट आकर बोली—'तब तो अम्मा जी घर से ही निकाल देंगी।' दोनों हँस पड़े।

दोनों के भीतर आने की आहट पाते ही माँ ने रसोई के भीतर से ही कहा—'थालियाँ लगाऊँ? मंजु!'

'हाँ, माँ बड़ी भूख लगी है। तुम थाली लगाओ हम अभी कपड़े बदल कर आते हैं।'

कुछ ही देर बाद भाई-बहन दोनों साथ-साथ भोजन करने रसोई में ही आसनों पर बैठ गये। माँ गरम-गरम पूरी देती जा रही थी। खाते-खाते मंजुला ने कहा—'भइया! मृदुला, वही मेरी सखि जो अभी मेरे साथ द्वार तक आई थी, कहती है कि सुख और दुःख दोनों की चिन्ता छोड़कर जीवन का मार्ग स्वयं प्रशस्त करते हुये आगे बढ़ना कोई विशेष प्रसन्नता अथवा श्रद्धा की वस्तु नहीं है।' अरुण सुन कर आश्चर्य से भर उठा।

'तब, तब? श्रद्धा की वस्तु क्या है?'

'उसकी दृष्टि में तो भगवान जिस मार्ग पर ले जायँ, उसी पर चलते जाना ठीक है।'

'जी हाँ, भगवान् ही तो हाथ पकड़ कर···' माँ को यह चर्चा रुचिकर नहीं जान पड़ी। उन्होंने कहा—'अच्छा-अच्छा, लो पूरी तो लो। यह चर्चा तो तुम्हारी दिन-रात चलती ही रहती है। इसमें कोई सार तत्व भी तो हो।'

अरुण ने चिढ़कर कहा—'क्या कायरों की-सी बात है?'

'भइया मैं तो कह रही थी कि अपने मार्ग की खोज करना भी तो मानव का ही कर्त्तव्य है किन्तु वह तो हँस देती है इन बातों पर।'

'नहीं, नहीं—माँ और पूरी न दो। मैं तो खा चुका हूँ।' अरुण बोला।···प्रसंग भी टल-सा गया किन्तु अरुण के मन के भीतर-ही-भीतर घुटने लगी मंजुला की सखि और उसकी विचित्र-सी विचार-धारा।

रात के स्वप्नों में भी अरुण को जान पड़ा कि कोई एक सुन्दर-सी, कोमल-सी बालिका उससे कह रही है कि यह सब मिथ्या है, असत्य है, भ्रम है···सत्य है केवल अपने-आपको भगवान् पर छोड़ देना···भले ही वह एक कल्पना मात्र ही हो। अरुण स्वप्न में भी उस कथन का समर्थन नहीं कर पा रहा था। उसने दृढ़ स्वर में कहा—'मानव स्वयं अपना भाग्य-विधाता है। समाज के असम बँटवारे और अन्यायपूर्ण व्यवस्था के फल-स्वरूप जिन्हें आवश्यकता से अधिक खाने और पहनने को सहज ही प्राप्त हो जाता है वह ही तो सरलता से कह पाते हैं कि ठीक है, ठीक है, इसी तरह चुपचाप चलते चलो। कोई अन्य शक्ति ही तुम्हारा संचालन कर रही है और तुम्हारा धर्म यही है कि तुम आँखें मूँदकर अपने-आपको उसी के हाथों में सौंप दो।' और तब ही फूली हुई लाश का-सा मुख लिए रधिया सम्मुख आ जाती है।

अचानक अरुण की आँखें खुल गईं। उसका सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा था। उसकी आँखों के सामने दो नारी मूर्तियाँ रह-रहकर

चमक उठती थीं। एक तो थी मृदु, कोमल, सुन्दर, सजीव और दूसरी विकृत, घृणित फूली हुई लाश। एम० ए० का मेधावी छात्र अरुण सिर से पैर तक काँप उठा। उसे जान पड़ा कि पृथ्वी और आकाश सब ही कुछ घूम रहा है, चल रहा है। चक्र की भाँति चारों ओर का वातावरण भयंकर तीव्र गति से घूम रहा है? तब ही आँगन में कुछ चहल-पहल होने लगी थी। शायद सबेरा हो गया था। शायद उठने का समय भी हो गया था।

४

आलमारी के खुले हुए किवाड़ को बाँई हथेली से छूती हुई मृदुला अपनी अनेकों साड़ियों पर दृष्टि स्थिर किये हुये कुछ क्षण तो चुपचाप ही खड़ी रही। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि कौन-सी साड़ी पहनी जाय। कभी दृष्टि बंगलौर के रेशम की नीली साड़ी पर जा टिकती थी, तो कभी उससे फिसल कर मद्रास के रेशम की हाथ की बनी हुई बढ़िया किनारे की सुनहरे रंग की साड़ी पर। यों बादामी रंग की फ्रेन्च-शैफोन की हलके मोतियों के काम की साड़ी पर भी उसकी दृष्टि पहुँच ही जाती थी। कुछ समझ ही में नहीं आता था कि कौन-सी वेशभूषा में उसे जाना होगा। मृदुला निश्चय ही नहीं कर पा रही थी और उधर घड़ी की सुइयाँ बढ़ती ही जा रही थीं।

'यह क्या मिन्नी? तुम अभी आलमारी का किवाड़ ही पकड़े खड़ी हो और तुम्हारे भाई साहब बाहर खड़े चलने के लिये कब से शोर मचा रहे हैं।' खुले द्वार से भीतर आते हुये एक सुन्दर सुसज्जित युवती ने कहा।

'क्या करूँ भाभी? तुमने ही तो कहा था कि खूब सजधज कर चलना। अब कुछ समझ में ही नहीं आता कि क्या पहनूँ?' मृदुला ने कुछ चिन्ता के स्वर में कहा।

'यह लो, मैंने यह थोड़े ही कहा था कि आज तुम्हें उर्वशी के वेश में किसी अज्ञात अर्जुन को परास्त करने ही चलना है।' और स्वयं ही वह युवती खिलखिला कर हँस पड़ी। उसकी मधुर हँसी जान पड़ा कि सारे कमरे में छा गई। मृदुला ने भाभी की ओर ताकते हुए तनिक मुस्करा कर कहा—'भाभी! तुम तो मुझे बनाती हो। वस्तुतः तुम बड़ी ही दुष्ट हो। स्वयं ही तो मुझे चक्कर में डाल दिया और अब हँसी करती हो?'

मणीन्द्र कुमार मृदुला से दस वर्ष बड़े थे। प्रकृति से भी कुछ गम्भीर थे। गत दो वर्षों से जब से उन्होंने व्यापार सम्भालना आरम्भ किया है उनकी गम्भीरता कुछ बढ़ ही गई है। मृदुला बड़े भइया से भय खाती थी किन्तु गत वर्ष भइया जिस युवती को विवाह करके ले आये हैं उसका स्वभाव बड़ा ही हँसमुख है। आयु भी मृदुला से दो वर्ष ही अधिक है, अतः इन दोनों में ननद भाभी की अपेक्षा सख्य सम्बन्ध ही अधिक दृढ़ता से स्थापित हो सका है। गिरीन्द्रकुमार भी यों तो मृदुला से आठ वर्ष बड़े हैं किन्तु उसे मृदुला वकील हो जाने पर भी अपने ही समान समझती है। रंजना भाभी के आ जाने पर तो तीनों का दल मिल-जुलकर और भी अधिक रस आनन्द मनाने लगा। व्यवसायी और गम्भीर प्रकृति वाला मणीन्द्र और अत्यधिक व्यस्त चन्द्रकुमार गुप्त अथवा बड़े साहब भी कभी-कभी इन लोगों तक पहुँचने का प्रयत्न तो करते हैं किन्तु उनकी व्यस्तता उन्हें पहुँचने ही कहाँ देती है इन लोगों के मुक्त हास्य तक।

'अच्छा, अच्छा अब झटपट कुछ ही पहन लो नहीं तो तुम्हारे बड़े भइया नाराज होने लगेंगे। देर हो रही है।'

'तो तुम लोग जाओ ना। मैं थोड़े ही नियन्त्रित हूँ। मुझे थोड़े ही मान पत्र लेना है।'

'लेना नहीं है तो लेने वाले की लाड़ली बहिन तो हो ही। चलोगी नहीं तो मान-पत्र कैसे मिलेगा?'

भाभी की मुख-मुद्रा और कहने के ढङ्ग पर मृदुला हँस पड़ी—'मेरी अच्छी भाभी बता न दो कौन-सी साड़ी पहनूँ।'

'ऊँ, हूँ·····मैं बिचारी भला तुम्हारी और तुम्हारे अर्जुन की रुचि क्या जानूँ·····'

'जाओ, हम नहीं जाते।' रूठकर मृदुला बहुमूल्य पलंग पर धम से बैठ गई।

तब ही बेयरा ने आकर कहा—'साहब जल्दी कर रहे हैं। मोटर पोर्टिको में तैयार खड़ी है।' रंजना ने जल्दी से बादामी साड़ी और उसी के साथ का ब्लाउज और पेटीकोट मृदुला की गोद में फेंकते हुये कहा—

'बस अब झटपट पहन लो। देर होने पर कहीं मान-पत्र भेंट करने वालों का उत्साह कम न हो जाय। भला यह भी तो ध्यान रखना है, ओरी मेरी मानिनी उर्वशी!' दोनों ही हँस पड़ीं। मृदुला कपड़े बदलने भीतर के कमरे में चली गई और रंजना बाहर की ओर चली गई।

थोड़ी ही देर में तीनों कार में बैठे विश्वविद्यालय की ओर चल दिये। मणीन्द्रकुमार गुप्त कुछ ही वर्ष पूर्व तक तो विश्वविद्यालय के छात्र रहे हैं। वे उतने मेधावी तो नहीं थे किन्तु उनकी धाक छात्रों पर रहती ही थी। देशभक्त तो न थे किन्तु देशभक्त के पुत्र होने के कारण प्रायः उन पर भी जोश चढ़ ही जाया करता था। विशेष-विशेष अवसरों पर नेताओं को निमन्त्रित करने में भी उनके कारण सुविधा हो जाया करती थी। धनी होने के कारण उन निमन्त्रित नेताओं के आदर-सत्कार में भी वे कमी नहीं रखते थे। स्वभाव गम्भीर होने पर भी उनके मित्रों का वर्ग अथवा ही अभाव हो, ऐसी बात नहीं थी। उनकी शेवरलेट कार, जिसमें के वह विश्वविद्यालय में आया करते थे, उनके बहुमूल्य वस्त्र, उनके मुक्तहस्त द्वारा दिये गये विभिन्न विश्वविद्यालय की सभा-समितियों के चन्दे, दान आदि उनके मित्रों की संख्या वृद्धि करते ही रहते थे।

णीन्द्रकुमार गुप्त वास्तव म केवल धना हा हा एसा बात नहा था, वरन्
नी होने के साथ ही साथ उन्हें इस बात का पूरा ध्यान भी था कि वह
नी हैं और अन्य सब लोग भी यह जानते हैं कि वह धनी हैं। रंजना
ी वैभवशाली पिता की पुत्री है। शिक्षा भी उसने कुछ पाई ही है।
ालेज में भी दो वर्ष पढ़ने का अवसर उसे मिला है किन्तु यह सब कुछ
ोते हुये भी उसका स्वभाव सरल और हास्य-प्रिय था। गम्भीर प्रश्नों पर
तो वह कभी सोचती-विचारती थी और न उनमें रुचि ही लेती थी।
किन्तु उसकी प्रवृत्ति जीवन के ठीक बीचों-बीच आ पड़ने वाले प्रश्नों की
ोर से आँख मूँदने की भी नहीं होती थी।

विश्वविद्यालय की कानून समिति, जिसका कि मणीन्द्र भी कभी अध्यक्ष
हा था, उसे आज मान-पत्र दे रही थी। पति के इस सम्मान में उसका
ी भाग है यह सोचकर रंजना को प्रसन्नता तो अवश्य थी, किन्तु उस
म्मान को दोनों हाथों झपट कर पकड़ लेने की पति की प्रवृत्ति उसे
च्छी नहीं लगी। इसीलिए जब उस समिति के अधिकारी वर्ग ने उसे
ादर एवं साग्रह आने को निमन्त्रण दिया तो उसने मृदुला को भी जबर-
स्ती घसीट ले जाने का निश्चय कर लिया। मृदुला अब तक कभी
श्वविद्यालय में नहीं गई थी। अतः उसने रंजना का आग्रह स्वीकार
रके जाने का निश्चय तो कर लिया किन्तु वह यह निश्चय नहीं कर
की कि वहाँ कैसी वेशभूषा में जाना होगा। उसके बड़े भइया का
म्मान, बहुत बड़ा सम्मान होगा इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु
स भारी सम्मान के बीच भइया की बहिन को कहाँ क्या करना चाहिये
ही उसकी समझ में नहीं आ रहा था। अपने पिता के साथ वह कभी-
भी ऐसे बड़े-बड़े जलसों में अवश्य गई थी जहाँ लाखों की संख्या में
ी-पुरुष भाषण सुनने आते थे; किन्तु सौ-दो-सौ यूनिवर्सिटी के छात्रों
बीच बैठने और जलपान करने का उसके जीवन में यह पहला ही
वसर था। बालिका विद्यालय की उस चंचला बालिका को यह मालूम

ही न था कि विश्वविद्यालय के छात्र अपने उत्सव किस प्रकार करते हैं। मृदुला की माता अधिक शिक्षित तो नहीं थी किन्तु मंच से भाषण अवश्य दे लेती थीं। दो-एक बार जेल भी हो आई थीं। पर्दे का तो उस परिवार में प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी उसे लड़कों के इस प्रकार के उत्सव में सम्मिलित होने का कभी अवसर ही नहीं मिला था। वह मन-ही-मन इस उत्सव को देखने के लिये उत्सुक तो थी किन्तु साथ-ही-साथ कुछ भयभीत भी थी। उसने सुना था कि विश्वविद्यालय के छात्र अत्यन्त उद्दण्ड और दुष्ट होते हैं। कार विश्वविद्यालय के फाटक के भीतर पहुँच गई थी। स्वागत करने के लिये खड़े हुए युवकों के हाथों में फूलों की मालायें थीं। मणीन्द्र ने एक हलकी-सी मुस्कान के साथ सारे स्वागत को सहज अधिकार की भाँति स्वीकार किया। मंच की ओर बढ़ते हुए मणीन्द्र के साथ-साथ रंजना और मृदुला भी चलने लगीं। मणीन्द्र को मंच पर उचित स्थान देने के बाद रंजना और मृदुला को दर्शकों के साथ प्रथम पंक्ति में बिठाया गया। करतल ध्वनि के बीच अत्यन्त भावपूर्ण भाषा में मान-पत्र पढ़ा गया। मृदुला को इस सारी क्रिया में कोई विशेष रुचि न थी। किन्तु वह यह सब कुछ ध्यानपूर्वक देख रही थी। विशेष सम्मानयोग्य अतिथियों के स्थान से कुछ पीछे, किन्तु दूसरी ओर कुर्सियों पर छात्र बैठे थे। उन्हीं में दो जलती हुई-सी आँखें भी मृदुला को एक-आध बार दिखाई पड़ीं। मृदुला यद्यपि उस ओर नहीं देख रही थी किन्तु उन जलती हुई आँखों और उन आँखों के स्वामी उस प्रियदर्शी युवक के मुख पर कुछ ऐसा तेजोमय किन्तु विचित्र-सा भाव था जो कि बरबस मृदुला की लजीली आँखों को आकर्षित कर लेता था। युवक ने एक बार भी मृदुला की ओर नहीं देखा। किन्तु मृदुला को ऐसा लगा कि उसकी शून्य-सी दृष्टि उसे ही चारों ओर से लपेटे जा रही है। वह लज्जा से सिमट-सी गई। रंजना का ध्यान मंच के कार्यक्रम की ओर था और आसपास के लोग भी मंच की ओर दृष्टि किये थे। उत्सव समाप्त होने के बाद जलपान का कार्य-क्रम

था। सब लोग अपने-अपने स्थान छोड़ कर जलपान की मेजों पर आ गए। मणीन्द्र के साथ रंजना और मृदुला भी एक मेज पर जा बैठीं। कुछ देर तक यों ही बातचीत और खान-पान चला; किन्तु अचानक चाय के प्याले पर से उठते ही मृदुला ने कुछ दूर मेज पर बैठे हुए उसी युवक को देखा। इस समय भी उसकी मूक आकृति पर वे दोनों नेत्र चमक-से रहे थे। मृदुला की इच्छा हुई कि किसी कार्यकर्ता से उस युवक के विषय में कुछ जानकारी हासिल करे किन्तु ऐसा कैसे हो सकता था। चाय-पानी समाप्त होने पर सब लोग लौट रहे थे। उस मेज के पास से निकलते समय केवल मृदुला ने ही यह सुना कि वह युवक अपने किसी साथी से कह रहा था—'कौन जानता है यह चिह्न जागृति के अथवा विनाश के·····लिपस्टिक, ये साड़ियाँ·····' वे लोग आगे बढ़ गए। मृदुला वाक्य का उत्तरार्ध नहीं सुन पाई किन्तु·····उसे न जाने कैसा लगा··· कार में रंजना ने कहा—'क्यों उर्वशी कहीं कुछ खो गया है क्या?' मृदुला ने तत्काल ही सहज भाव से कहा। 'हाँ, भाभी तुम्हारी बुद्धि खो गई है। वही खोज रही हूँ', जिसका उत्तर साधारणतया यही होता कि 'अरे! वह तो तुम्हारे भाई के पास गिरवी रखी है ले आओ न छुड़ा कर।' किन्तु यह कुछ न हुआ। मृदुला भी चुप ही रही। रंजना ने उसे गुदगुदा कर हँसाना भी चाहा किन्तु उसकी गम्भीर आकृति तथा पति के गम्भीर मुख की ओर देखकर वह चुप ही रह गई। घर आकर भी मृदुला तनिक गम्भीर ही बनी रही। रंजना गिरीन्द्र को सारी कथा सुनाती रही, किन्तु मृदुला अपने कमरे में चुपचाप ही बैठी रही। रात को मृदुला को सपने में ऐसा जान पड़ा कि वही तेजस्वी प्रियदर्शी युवक अपने दोनों जलते हुए नेत्रों से उसकी ओर घूर-घूर कर देख रहा है और कह रहा है····· 'कौन जानता है यह चिह्न जागृति के हैं अथवा विनाश के···ये लिपस्टिक, ये साड़ियाँ·····' और फिर चारों ओर घने अन्धकार में प्रकाश की ज्योति-सी जल उठी। मृदुला घबरा गई·····। उसकी नींद उचट गई।

और उसे जान पड़ा कि उसके जीवन में कहीं कुछ बाधा-सी आ पड़ी है। उसे जान पड़ा कि उसने इस प्रियदर्शी युवक को कहीं देखा है·····इस ओजस्विनी वाणी को कहीं सुना है और···और···उसे जान पड़ा कि मंजुला जिन श्रद्धेय व्यक्तियों को अपना पथ खोजने और प्रशस्त करके चलने वाला कहती है, मानती है, वे व्यक्ति कुछ इसी प्रकार के होते होंगे। उसे याद आया मिस सरकार का वाक्य 'जो सब प्रकार से सन्तुष्ट होकर बने बनाए मार्ग पर निरन्तर चलना ही जानते हैं, वे विश्व भर में कभी और कहीं सृजन नहीं कर पाते; रचना उनका कार्य नहीं है।' तब क्या विश्वविद्यालय का छात्र, यह प्रियदर्शी युवक·····दो जलते हुए नेत्रों का स्वामी·····अपने पागलपन पर मृदुला स्वयं ही हँस उठी—'अरे मुझे हो क्या गया है?' उसने नेत्र मूँद लिये और फिर खोल दिए। बड़े भइया के कमरे के दरार से छन कर थोड़ा-सा प्रकाश आ रहा था। बड़े भइया क्या सचमुच ही सृजन नहीं कर रहे हैं। रचना करना इन जैसे व्यक्तियों का कार्य नहीं है·····यह सन्तुष्ट है, बनी बनाई सधी-धँधी लीक पर चलने वाले ही तो हैं—ये अरे मैं कहाँ बहक रही हूँ! इस बार उसने बड़े जोर से पलकें मूँद लीं। तब ही बरामदे की बड़ी घड़ी ने एक घण्टा बजाया। क्या बजा है? साढ़े बारह, एक अथवा डेढ़ अथवा ढाई साढ़े तीन···आदि ···आदि घण्टा बताता तो है सब कुछ किन्तु अस्पष्ट···धुँधला-सा ही तो। पलकें बोझिल तो हो रही थीं किन्तु मृदुला को नींद नहीं आ रही थी। बड़े भइया के कमरे का प्रकाश बुझ चुका था। मृदुला न जाने कब सो गई किन्तु उसका मन भारी ही बना रहा।

५

'यह क्या! आते ही चुपचाप पलँग पर क्यों पड़ गये? जी तो ठीक है?' चिन्तातुर स्वर में यशोदा देवी ने कहा। मंजुला के पिता काम से

लौटकर सदा ही पत्नी के पास पीढ़ा लेकर बैठ जाते थे, भले ही वह रसोई में हो अथवा आँगन में अथवा कहीं और। कुछ देर तक बातचीत करके ही वह हाथ-मुँह धोते और फिर जलपान करते थे। उनके इस कार्यक्रम में गत पैंतीस-छत्तीस वर्षों से कोई अन्तर नहीं आया था। आज भी यशोदा देवी अँगीठी पर कढ़ाई रखे रसोई के बाहर बरामदे में समोसे बनाने का सामान लिये बैठी थी किन्तु पति को वहाँ बैठते न देखकर उनका माथा ठनका। अरुण अभी विश्वविद्यालय से लौटा नहीं था। नौकर बाजार गया हुआ था। मंजुला विद्यालय से आकर ऊपर अपने कमरे में बैठी कुछ पढ़ रही थी। कढ़ाई नीचे उतार कर यशोदा देवी भीतर गईं। पति चुपचाप पलँग पर चित्त पड़े थे। उनका मुँह पीला पड़ गया था। निकट जाकर पत्नी ने शरीर पर हाथ रख कर देखा। पति ने कठिनाई से नेत्र खोलकर कहा—'जी बहुत घबरा रहा है। छाती में कुछ दर्द भी हो रहा है।' संन्ध्या तक हालत बिगड़ती ही गई। और आधी रात के लगभग पक्षाघात के भी लक्षण दिखाई देने लगे। भय और घबराहट से रोती हुई मंजुला के सिर पर हाथ फेरते हुए असीम धैर्य से माँ ने कहा—'बेटा! यह समय परीक्षा का है। धैर्य धारण करो। नारायण की अचानक दी हुई इस विपत्ति को भी तो सहन करना ही होगा।' मंजुला माँ की गोद में मुँह छिपाकर रो उठी।

अरुण सन्ध्या से दो बार डाक्टर को ला चुका था। प्रातःकाल तक लगभग निश्चित ही हो गया कि उन्हें पक्षाघात हो गया है। गृहिणी के हृदय के भीतर भयंकर आँधी चल रही थी किन्तु बच्चों के चिन्तातुर मुख की ओर देखकर वह रो भी नहीं सकती थी। रात भर अपलक पति के निकट बैठे रहने पर भी प्रातः कुछ न कुछ तो करना ही था। अरुण को तनिक देर रोगी के पास बिठाकर ज्यों ही वह कमरे से बाहर निकली कि उन्हें विश्व ब्रह्माण्ड घूमता-सा जान पड़ा। आँखों से झरने वाले असंख्य आँसुओं को आँचल में समेटे वह आँगन के एक मात्र पौधे तुलसी के

निकट आकर धम से धरती पर ही बैठ गई। उसे कुछ भी तो नहीं सूझ रहा था। जान पड़ता था कि चारों ओर घना अंधकार ही अंधकार है। वह मन-ही-मन कह उठी---'माँ जगदम्बे! अब तो केवल तुम्हारा ही सहारा है। रक्षा करो माँ!' इसी प्रकार प्रातःकाल के धुँधले प्रकाश में वह न जाने कितनी देर तक तुलसी के चौरे पर सिर रखे बैठी रही। अचानक गले आ पड़ने वाली विपत्ति का आरम्भ जितना भयानक होता है मध्य उतना नहीं। वज्राघात तो हुआ। गृहस्वामी पक्षाघात से पलँग पर पड़ गये। गृह की सुन्दर व्यवस्था अव्यवस्था में परिवर्तित हो गई। आनन्द निरानन्द में बदल गया; किन्तु दिन और रात तो उसी प्रकार होते रहे। डाक्टरों की हलचल पड़ोसियों-मित्रों के आने-जाने की हलचल, पूछने, सहायता करने की इच्छा प्रकट करने, सम्बन्धियों के आने-जाने आदि में एक मास बीत गया। एक सप्ताह तक तो मंजुला और अरुण का पढ़ने जाना भी बन्द रहा; किन्तु फिर अरुण एम० ए० द्वितीय वर्ष का मेधावी छात्र विश्वविद्यालय जाने लगा किन्तु मंजुला का जाना शीघ्र ही न हो सका। गृहस्वामी की दशा में भी कोई अन्तर दिखाई नहीं पड़ता था। गृहस्वामी का धैर्य कम होता जा रहा था और मंजुला की चिन्ता बढ़ती ही जा रही थी।

दोपहर का समय था। निरुपाय, असहाय, मूक गृहस्वामी पलँग पर पड़े थे। वाणीरहित उनके नेत्रों की कोर से कभी-कभी जल की एक आध बूँद चू पड़ती थी। मंजुला पिता के पलँग के निकट ही चारपाई पर बैठी औषधि का समय हो जाने की प्रतीक्षा कर रही थी। गृहस्वामिनी उद्विग्न चित्त से रसोईघर के सामने बरामदे में बैठी रात्रि के भोजन के लिए तरकारी काट रही थीं। हाथ काम-काज में लगे हुए थे किन्तु मन कहीं और ही था। 'यह क्या हुआ बिना एक शब्द भी बोले यह मौन कैसे हो गये? हे भगवान् मैंने तो जानते हुए कभी कोई अपराध नहीं किया तब यह दण्ड क्यों? यह वज्राघात क्यों? प्रभु यदि जान अथवा अनजान में

कभी कोई अपराध मुझसे बन भी पड़ा हो तो उसका दण्ड मेरी इन निरीह सन्तानों को न देना, नारायण !' यशोदा देवी एक सम्पन्न परिवार की कन्या थीं। जीवन में कभी कोई दुःख पड़ा भी नहीं था। पति गृह में भी कभी किसी दुःख क्लेश का परिचय नहीं पाया था। ससुराल में तो कोई था ही नहीं, फिर भी पति और सन्तानों को लेकर वह सदा प्रसन्न बनी रहती थी। इस घोर विपत्ति काल में भी जब अपने सम्पन्न परिवार के सदस्यों का व्यवहार उन्हें स्पष्ट ही दिखाई देने लगा तो मानों उसका धैर्य भी साथ छोड़ने लगा। भाइयों को काम-काज से छुट्टी नहीं मिली। भाभियाँ बाल-बच्चों को छोड़ कर कैसे आतीं और बेचारी असहाय वृद्धा माता अकेली आ ही कैसे सकती थी। अतः माँ बेटी मिल कर ही दुःख के भार को ज्यों-त्यों ढोने लगीं। मंजुला को कालेज भेजने का कोई उपाय ही नहीं दिखाई देता था। सरकारी नौकरी···छुट्टी एक मास से अधिक तो सवेतन मिल नहीं सकती थी और खर्च की कोई सीमा ही नहीं थी। घर में कभी धन का अभाव नहीं खटका था किन्तु बाहुल्य तो था ही नहीं। और फिर रोगी के काम-काज के लिये भी तो किसी की आवश्यकता थी ही। अतः भाई से सलाह कर के जब एक दिन स्वयं मंजुला ने माँ से धीरे से कहा—'माँ अब मैं कालेज नहीं जाऊँगी। परीक्षा प्राइवेट ही दे दूँगी।'

तो माँ की दोनों आँखें जल से भर आईं। उन्हें पति के वे शब्द स्मरण हो आए जो कि उन्होंने उस समय कहे थे, जब कि वह मैट्रिक में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुई थी। उन्होंने कहा था—'मैं अपनी बिटिया को एम० ए० तक पढ़ाऊँगा। मेरी बेटी तो बड़ी तेज है।' हृदय में जान पड़ा कि तीर कसक उठी है किन्तु उपाय ही क्या था। उन्होंने दबी हुई स्वर-ध्वनि से एक बार कहा---'नहीं, नहीं तू कालेज जा। मैं तो हूँ ही।' किन्तु कह कर भी उनकी समझ में नहीं आया कि उनके होने से क्या और कैसे अन्तर पड़ जायगा। जो हो, मंजुला का कालेज जाना फिर न हो सका।

मृदुला ने ज्यों ही आँगन में पैर रखा त्यों ही उसकी दृष्टि तरकारी काटती हुई मंजुला की माँ पर पड़ी। माँ ने उसे देखते ही उदास स्वर में कहा—'आओ, बेटी, आओ।' प्रणाम करके मृदुला ने पूछा—'माता जी, मंजु कहाँ है? वह अच्छी तो है।'

'मंजु तो अच्छी है। उसके पिता बहुत बीमार हैं।' 'ओह!' मृदुला ने जैसे निश्चिन्त होकर श्वास लिया। माँ ने हाथ का काम रख दिया।

'तुम मंजु के कमरे में चल कर बैठो। मैं उसे भेजती हूँ।'

मृदुला इससे पूर्व भी एक बार इस घर में आई थी किंतु तब मंजु के घर कोई उत्सव था। घर, आँगन सब जगह ही भीड़-भाड़ थी। लहराती हुई साड़ियाँ, गूँजते हुए गीत वातावरण को मुखरित कर रहे थे किंतु आज सब जगह ही भयंकर शान्ति थी। मंजु का कमरा दो तल्ले के एक कोने में था। मृदुला सीढ़ियों पर चढ़ते हुए घर की इस अद्भुत शान्ति पर विचार कर रही थी। एक बार तो उसने यह भी सोचा कि जिस दासी को वह सड़क पर कार में ही छोड़ आई थी उसे यदि ले आती तो अच्छा होता।

मंजु इधर पंद्रह दिन से अपने कमरे में आई ही नहीं थी। कमरा अव्यवस्थित-सा पड़ा था। पलंग की चादर मैली हो गई थी। छोटी-सी मेज का मेजपोश भी बिलकुल मैला था। किताबें भी उस पर बिखरी-सी पड़ी थीं। छोटी टाइमपीस सम्भवतः चाबी न दिये जाने से बन्द हो गई थी। छोटा नौकर काम करते-करते पिसा जा रहा था। अतः एक दिन भाग ही तो गया। अतः इस कमरे में झाड़ू भी नहीं लगी थी। क्षण भर को मृदुला को यह जान ही नहीं पड़ा कि कहाँ बैठे। इसी समय पीछे से आकर मंजु उससे लिपट गई। मृदुला सब कुछ भूल-भाल कर मंजु को लिए हुए ही धप से उस मैली-सी चादर वाले पलँग पर बैठ गई। मंजु के नेत्रों में सम्भवतः जल भी था। कुछ देर दोनों ही कुछ बोल न सकीं। मंजु ने ही पहले कहा—'चलो, तुमने इतने दिनों के बाद याद तो किया।'

'तू इतनी दुष्ट है मंजु यह तो मैं भी नहीं जानती थी।'

'क्यों, मैंने क्या दुष्टता की ?' कुछ चकरा कर मंजु ने कहा । उसके स्वर में उदासी भरी थी।

'इतने दिनों से तू पिता जी की बीमारी के कारण नहीं आ रही थी और मैं सोच में मरी जा रही हूँ कि कहीं गुपचुप पिया के देश तो नहीं चली गई···'

'हाँ यम के देश नहीं चली गई ?'

'नहीं, कम-से-कम मुझे खबर तो कर देनी थी । कालेज में भी तूने कोई सूचना नहीं भिजवाई । यह कैसी बात है तेरी !'

'मिन्नी ! वह सब बातें तू समझ ही नहीं पायेगी । हम लोग तो यहाँ बहुत ही विपत्ति में पड़ गए थे । अब तक भी विपत्ति का अन्त कहाँ हुआ है । किन्तु वह सब जाने दे । तू कालेज के हाल-चाल सुना ।' मंजु ने तनिक-सा मुख फेर कर आँसू पोंछ लिये । मृदुला की दृष्टि से यह छिपा न रहा । उसने अत्यन्त दुःखी होकर कहा—'देख मंजु ! क्या इधर कुछ दिनों से न मिलने से ही मैं पराई हो गई हूँ । मुझे तो यह सब पता था नहीं । नहीं तो क्या मैं इतने दिन तक रुक पाती ।' भावुक मृदुला की आँखें भर आईं । मंजुला कुछ देर चुप रही । मृदुला उसके दाहिने हाथ को कुछ देर तक अपने हाथों में थामे रही । धीरे-धीरे मंजुला ने कहा—'मिन्नी ! मैं अब कालेज नहीं आऊँगी ।' मृदुला को जान पड़ा कि कहीं बिजली गिरी है । बचपन से दोनों साथ ही साथ पढ़ती आ रही थीं । मृदुला कभी यह कल्पना भी नहीं कर सकती थी कि मंजुला जैसी मेधावी छात्रा पढ़ना बन्द कर देगी । कालेज में सब ही तो उसकी प्रशंसा करते थे । 'क्या कहा ?' उसने आश्चर्य से पूछा । इस बार मंजुला के स्वर में कम्पन नहीं, दृढ़ता थी । उसने स्वर को यथासम्भव स्वाभाविक बनाते हुए कहा—'मैंने पढ़ना छोड़ दिया है ।'

'ऐसा क्यों ?'

'कई कारण हैं ।'

'उनमें से एक-आध मैं भी तो सुनूँ।' कुछ चिढ़कर मृदुला बोली। 'पहला तो यही कि पिता जी पर फालिज गिरा है। माँ अकेली सब कुछ नहीं सम्भाल सकेंगी।'

मृदुला को उससे इस प्रकार का उत्तर मिलने की आशा न थी। दो वर्ष पूर्व उसके पिता भी तो बहुत बीमार हो गये थे किंतु उसकी पढ़ाई को छुड़ाने की कोई बात नहीं थी। पिता की बीमारी में माँ का काम-काज अवश्य ही कुछ बढ़ जाता है किन्तु लड़की की पढ़ाई बन्द हो जाती हो ऐसी बात हमने कहीं नहीं सुनी। एकाएक उसे ध्यान आया कि मंजुला के घर तो नर्स भी नहीं है और हो सकता है कि अस्पताल भेजने का भी इन्हें विचार न हो। तब ही सहज भाव से मृदुला ने कहा—'तब पिता जी को अस्पताल क्यों नहीं ले जाते अथवा कोई नर्स रख लो?'

मंजुला जन्म से ही आत्माभिमानिनी थी। उसके पिता भले ही सरल चित्त, सीधे-साधे-से व्यक्ति हों किन्तु माता बड़ी ही स्वाभिमानिनी थीं, अतः मंजुला ने यह गुण उत्तराधिकार में ही प्राप्त किया था। मृदुला का परिचय केवल कुसुमों से ही था। वह बनी-बनाई राह पर धीरे-धीरे चलकर उसे पार करना भर ही जानती थी किंतु मंजुला को उस पथ के निर्माण करने योग्य शक्ति का आभास भी अपने भीतर होता था। दोनों भाई-बहिन माँ से इस प्रकार का विश्वास दूध के साथ ही लेकर पनपे थे। किन्तु इस प्रकार के विश्वास की चर्चा तो उनके शब्दकोश में खोजे जाने वाले शब्दों से हो ही नहीं पाती थी। 'सो सब कुछ नहीं।' दृढ़ स्वर में अधूरा-सा वाक्य सुन कर मृदुला का चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। उसे यह जान ही नहीं पड़ता था कि मंजु के बिना वह किस प्रकार पढ़ सकेगी। अचानक वह रो पड़ी। उसका सिर मंजु के दाहिने कन्धे पर रखा था और मंजु का दाहिना हाथ उसकी गर्दन के आसपास लिपटा था। तनिक शान्त होकर मृदुला ने कहा—'मंजु! यह नहीं होगा।'

'विधि का विधान होकर ही रहता है।'

'यह तो तेरी बात नहीं है, मंजु ! मेरी बात लेकर तू भला क्यों चलेगी, बहिन !'

'विधि का विधान तो होता ही है मिन्नी, किंतु हम विवश, असहाय से होकर उसके सम्मुख सिर ही झुका दें यह आवश्यक नहीं है।'

'तो क्या तू पढ़ने नहीं जायेगी ?' सम्भवतः मृदुला उत्तर सुनना ही नहीं चाहती थी।

'कालेज नहीं आ सकूँगी किन्तु भैया से घर पर ही पढ़ूँगी और प्राइवेट परीक्षा दूँगी।'

'प्राइवेट', कुछ आश्चर्य से मृदुला ने पूछा।

'हाँ।'

आँगन से माँ का स्वर सुन पड़ा—'मंजु ! नाश्ता ले जाओ।' व्यस्त-सी मंजु उठ खड़ी हुई।

'अच्छा नाश्ता तो ले आऊँ।' मृदुला ने उसकी धोती का कोना पकड़ कर पूछा—'नहीं, नहीं वह सब रहने दे। तू मेरे पास ही बैठी रह, मंजु।' उसके स्वर में कुछ अजब-सी व्याकुलता थी।

'माँ ने कुछ बनाया होगा। सो तो खाना ही पड़ेगा। मिन्नी !' और उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही मंजुला कमरे से बाहर चली गई। मृदुला उसी गन्दे बिस्तर पर लुढ़क-सी गई। उसका चित्त बड़ा ही अप्रसन्न हो उठा था। जन्म से लेकर आज तक उसने न तो कभी ऐसी परिस्थिति का अनुभव ही किया था और न कल्पना ही। उसे जान पड़ा कि एकाएक उसका मन मान्य धारणाओं के विरुद्ध हो रहा है। सदा से ही सलरता से बने-बनाये मार्ग पर चलने वाला उसका मन आज बड़े ही जोर से चीख उठना चाहता है—'यह क्या ? यह क्यों ? ऐसा क्यों'। सरल-हृदय मृदुला सोचने लगी—'यह कुशाग्र बुद्धि मंजुला आगे इसीलिए ही तो न पढ़ सकेगी कि इसके पिता रोगी हैं, किन्तु मेरे पिता भी तो रोगी थे। मेरा तो अध्ययन बन्द नहीं हुआ था···यह क्यों ? ऐसा क्यों ? कहाँ से उत्पन्न होता है यह

अन्तर ?···' उसे जान पड़ा कि उसका सिर भारी हो रहा है। अचानक उसके मस्तिष्क में वे शब्द बिजली की भाँति कौंध उठे जो उसने एक बार अपने बाल्यकाल में अपनी फ्रेंच नर्स से सुने थे। मृदुला तब बच्ची ही थी। पिता ने उसका स्वास्थ्य गिरता देखकर उसकी देखभाल के लिए एक फ्रेंच नर्स रख दी थी। नर्स ने एक भारतीय व्यक्ति से विवाह किया था और उसी के साथ अपने देश से भारत आई थी। उसके एक अत्यन्त सुन्दर पुत्री भी थी। पति से तलाक लिया जा चुका था। एक दिन खेल-ही-खेल में मृदुला ने अपनी हीरे की नन्हीं-सी अँगूठी जो कि उसे जन्मदिन पर मिली थी अपनी समवयस्क नर्स की पुत्री को पहना दी थी। बालिका बड़ी ही प्रसन्न हुई थी किन्तु उसकी माता ने ज्यों ही यह देखा तो उसने बरबस बालिका के रोने की ओर दृष्टि न देकर तुरन्त वह अँगूठी छीनकर मृदुला को लौटा दी और भविष्य में कोई भी वस्तु उसे न देने का आदेश दिया। आश्चर्यचकित मृदुला ने जब कारण पूछा तो उसने बड़ी सरलता से कहा—'हमारे भाग्य में इस समय हीरे की अँगूठी नहीं है। यदि उसके भाग्य में होगी तो उसे मिलेगी ही।' मृदुला ने कहा—'और वह रो जो रही है।' नर्स ने उत्तर दिया—'जो जिसके भाग्य में होगा वही होगा।' घबराई हुई-सी नन्ही मृदुला ने माँ से भी जब रोते-रोते सारी घटना सुनाकर समझाना चाहा तो उसे वहाँ से भी यही उत्तर मिला—'बेटा अपना-अपना भाग्य है।' और बूढ़ी दादी ने भी उसे गोद में लेकर कहा—'बेटा ! उनकी और तुम्हारी बराबरी थोड़े ही हो सकती है। यह तो अपना-अपना भाग्य है।' उस दिन मृदुला उस भयंकर अत्याचारी भाग्य को समझ नहीं पाई थी किन्तु इतना तो अवश्य ही समझ गई थी कि वह अपना-अपना भिन्न-भिन्न होता है। बात बहुत पुरानी हो गई थी। आज फिर हृदय में कसक-सी उठी। तब फिर, 'मंजुला का भाग्य, हाय रे। इसी भाग्य के विधान को तो मृदुला उस दिन भी सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाई थी। मृदुला···बिचारी मृदुला चाँदी के पालने में पली तो थी किन्तु उसे हृदय से ग्रहण कर ही नहीं पाई थी।

मंजुला इसी समय एक हाथ में तश्तरी और दूसरे में गिलास लेकर भीतर चली आई। उसके मुख पर मुस्कान की छाया-सी थी और इस बार वह कुछ सँभली हुई-सी दिखाई दे रही थी। मृदुला उस लम्बे पुष्ट शरीर की ओर निमिष मात्र को देखती ही रही। मंजुला ने तश्तरी और गिलास मेज पर रखकर मृदुला ने कहा—'पकौड़े तो खा लो नहीं तो ठण्डे हो जायेंगे।' तश्तरी गरम पकौड़ों से भरी हुई थी। मृदुला ने बिना कुछ कहे-सुने एक पकौड़ा उठा लिया।

'मिन्नी! आज माँ बहुत प्रसन्न हैं। कितने ही दिनों बाद आज वह कुछ प्रसन्न दिखाई दी हैं। सचमुच तेरा आना उन्हें बड़ा ही अच्छा लगा है।' मंजुला कह रही थी किन्तु मृदुला का ध्यान उधर नहीं था। वह देख रही थी कल्पना में उस नारी को जिसका पति रोगी है, कुशाग्र बुद्धि संतान का भविष्य अनिश्चित है और जो अतिथि के स्वागत के लिये रसोईघर में बैठी जलपान तैयार कर रही है। उसकी कल्पना में घूम उठी अपनी स्नेह-मयी माता, जो किसी दिन भी रसोईघर में नहीं जा पाती है। रोगी पति और सन्तान की सेवा-परिचर्या करने के लिए जिसे नर्सें मिल जाती हैं, उसे जीवन की सब ही सुख सुविधायें प्राप्त हैं और फिर भी वह बढ़िया खादी की उज्जवल साड़ी पहन कर महिला सभाओं में धारावाहिक भाषण स्त्री-अधिकारों पर दे जाती है। नारी स्वातन्त्र्य, स्त्री के अधिकारों पर कुठाराघात करने वाले पुरुषों पर व्यंग्य कटाक्ष भी कर पाती है और जिनके तेज से कभी-कभी पुरुष-समूह भी मुरझा जाता है। मृदुला को कल्पना विचित्र-सी लगी किन्तु वह मनोयोगपूर्वक खाने में ही मन लगाने का प्रयत्न कर रही थी।

'मिन्नी! क्या सोच रही है?'

'कुछ भी नहीं।

'तो इतनी चुप क्यों हो?'

'मंजु! लगभग ५-६ वर्ष की आयु से ही मैं कक्षा में अपने निकट

सदा सर्वदा ही तुझे देखती रही हूँ। आज तो ठीक-ठीक यह कल्पना भी नहीं कर पाती हूँ कि तेरे बिना मेरा कालेज जीवन कैसा लगेगा।'

'कब क्या कैसा लगता है इसकी चिन्ता तू कब से करने लगी मिन्नी। तू तो बने-सधे पथ पर आँखें मूँद कर चलने में विश्वास करती है न ?' बरबस लाई हुई मुस्कराहट होठों पर बिखराती रही थी किन्तु उसमें आनन्द, व्यंग्य अथवा किसी भी और भावना की अपेक्षा वेदना भी अधिक थी। दोनों सखियाँ एक-दूसरे की ओर देख रही थीं। तब ही जीने पर धमधम का शब्द और साथ ही कमरे के ठीक सामने 'यहाँ बैठी क्या कर रही है मंजु ?' सुन पड़ा। मंजु सँभल कर उत्तर भी न देने पाई थी कि अरुण कमरे के ठीक सामने खड़ा हुआ था। उसकी दो जलती-सी आँखें मृदुला को अपने ठीक सामने ही दिखाई दीं; किन्तु इस बार उनमें तीक्ष्णता की अपेक्षा कोमलता अधिक थी, कटुता की अपेक्षा मृदुता अधिक थी, और था व्यंग्य की जगह अपनत्व। दोनों कुछ अचकचा-सी गईं। अरुण ने जैसे-तैसे नमस्कार की। मंजुला ने सहज भाव से कहा—'भैया, यह मेरी बाल-सखी मृदुला है और यह हैं मेरे भैया।' अरुण के नेत्रों में व्यंग्य फिर से लौट आया। उसने तनिक मुस्कराकर कहा—'आप ही तो माननीय गुप्त जी की पुत्री हैं न ?'

'जी हाँ।' मृदुला का स्वर काँप रहा था।

'आपके दर्शन हाल ही में विश्वविद्यालय में हुए थे जब कि आपके भाई साहब को मान-पत्र भेंट किया गया था।'

मृदुला की स्मृति में दो व्यंग्यभरी जलती आँखें नाच उठीं। उसने इस बार दृष्टि उठाकर अरुण की ओर ध्यान से देखा। वह पुस्तकें मेज पर रख कर उसी पर हाथ टिकाये खड़ा था।

'भैया बैठ जाओ न।' मंजुला ने कमरे की एक मात्र कुर्सी उसके सम्मुख खिसकाते हुए कहा।

'नहीं, नहीं मुझे समय नहीं है। पिता जी की दवाई भी तो लानी है।

माँ सम्भवतः रसोई में थीं। पिता जी को अकेला देखकर तुझे खोजता हुआ यहाँ तक चला आया।'

'तो यहीं बैठ कर कुछ खा लो मैं नीचे से लिए आती हूँ।'

'नहीं, नहीं, तू अपनी सखी के साथ बैठ। मैं नीचे जा रहा हूँ।' मृदुला अरुण की ओर देख रही थी। उज्ज्वल ललाट, प्रियदर्शी मुखड़ा, बलिष्ठ शरीर, तीखी किन्तु मीठी वाणी और कुशाग्र बुद्धि की परिचायक शब्दावली। उसे जान पड़ा कि वह उसकी परिचित पुरुषजाति से भिन्न है, उसके पिता और उसके भाइयों से इस व्यक्ति की कोई बराबरी नहीं है। अरुण चला गया। मंजुला ने कुछ हँस कर कहा—'मिन्नी! तुम भैया की किसी भी बात से बुरा न मानना। इनकी भाषा में अमीरों, सत्ताधारियों, समाज के ठेकेदारों के प्रति जो कटुता है उसका भी कारण है और वह कारण मैं फिर किसी दिन तुझे बताऊँगी। फिर भी इनका हृदय बड़ा ही कोमल है। यह किसी का भी कष्ट नहीं देख पाते।' मृदुला को इस कथन के साथ दो जलती हुई आँखें भी दिखाई दीं और उसका जी चाहा कि हँस दे, किन्तु उसने सरल भाव से यही कहा—'मंजु! तुम्हारे भैया बड़े अच्छे हैं। मैं उनकी किसी भी बात से बुरा नहीं मानूँगी।' फिर और खाना-पीना न हो सका। और कुछ देर तक बातचीत करके मृदुला मंजुला और उसकी माता से विदा लेकर चली गई। माँ ने उससे बड़े ही स्नेह ने कहा—'बेटी कभी-कभी यों ही मंजु से मिलने आ जाया करो। यह बिचारी तो अब कालेज जा नहीं सकेगी। इनकी हालत तो बिगड़ती ही जाती है। भगवान् ही सहायता करें।' मृदुला स्नेहविभोर होकर बार-बार आने का विश्वास दिलाती हुई चली गई। माँ ने मंजु से कहा—'ओह! कैसी प्यारी बच्ची है। इतने बड़े घर की लड़की है और मान-अभिमान छू भी नहीं गया है। ऐसी लड़की जिस घर की लक्ष्मी बनेगी वह धन्य हो जायगा।'

मंजु केवल तनिक-सा मुस्करा दी थी। मृदुला का मन अनमना-सा हो गया था। मंजु अब प्रति दिन नहीं मिलेगी। उससे कभी-कभी ही भेंट

हो सकेगी। मंजु के बिना कालिज···तिस पर···मंजु के पिता बीमार हैं··· उसकी माँ घबराई हुई है और···और वह···व्यंग्यभरी दो आँखें, कोमल मुख पर···वे उज्ज्वल किन्तु जलते हुए नेत्र···मृदुला के सुन्दर मुख पर एक झाँई-सी पड़कर रह गई। सदा की भाँति वह दौड़कर रंजना से लिपट कर सारी कथा नहीं सुना पाई। माँ कहीं सभा में गई हुई थी और रंजना अपने कमरे में बैठी टैरियर को प्यार कर रही होगी। मृदुला चुपचाप अपने कमरे में जाकर लेट गई। दुग्धफेन-सी श्वेत कोमल शय्या उसे उस दिन उतनी परिचित-सी नहीं जान पड़ी। मृदुला को जान पड़ा कि वह उस वातावरण में उस घर में···सर्वथा अपरिचित-सी···नई-सी···चकित-सी लग रही है।

'हे भगवान्! यह क्यों? यह अन्तर क्यों? यह सब कुछ क्या है? क्यों है?' उसे अपना सिर भारी-सा जान पड़ा। वह आँखें मूँदे न जाने कब तक बिछौने पर पड़ी रही। उसका जी चाहा कि वह रंजना से जाकर लिपट जाए···माँ के गले से लगकर रो पड़े, किन्तु यह सब कुछ भी तो न हुआ। रात तक मृदुला बहुत कुछ सम्भल गई थी। भोजन के समय रंजना ने धीरे से जब उससे यह कहा—'मिन्नी! कुछ उदास हो। क्या बात है?' तो उसने धीरे से उत्तर भी दे दिया—'नहीं बिलकुल नहीं।' किन्तु उसे स्वयम् भी जान पड़ा कि वह उदास है···उसका मन अप्रसन्न है।

उधर ज्यों ही उन्होंने निगाह उठाई त्यों ही उनकी आँखें फिर डबडबा आईं। जीवन के इस रूप में उनका कभी साबका न पड़ा था। जीवन उनके लिए भरापूरा भले ही न हो यथेष्ट तो था ही। अरुण के पिता कंजूस न थे। उन्हें अपनी अर्थोपार्जन की शक्ति पर पूरा विश्वास था। गृहस्थी आनन्द से चलती थी। इस दुर्दिन को तो किसी को कल्पना भी न थी। पिछले छः मास से गृहिणी ज्यों-त्यों करके औषधि, घर का व्यय सब ही कुछ तो किये जा रही है। मंजुला अभी बच्ची है और अरुण का एम० ए० का अन्तिम वर्ष है। पति मूक है और देवता मौन। यशोदा

देवी की तो समझ में ही नहीं आता था कि क्या किया जाय। अरुण सब कुछ देखते हुए भी कुछ नहीं कर पाता, विवश है। उसने कई बार माता के निकट यह प्रस्ताव भी किया कि वह पढ़ना छोड़कर नौकरी कर ले किन्तु माता और पुत्र दोनों ही यह जानते थे कि केवल बी० ए० पास व्यक्ति को नौकरी मिलना भी तो सरल काम नहीं है। और फिर चार-पाँच ही मास तो उसकी अन्तिम परीक्षा के रह गये हैं। अत्यन्त श्रद्धा से उन्होंने पूजा की कोठरी में जाकर भगवान के चरणों में सिर रख कर ज्यों ही उठाया उनकी आँखें भरी हुई थीं। उनका जी चाहा कि ऊँचे स्वर में चिल्ला उठें—'नारायण लो सम्भालो अपनी माया मुझसे यह सब नहीं होता, नहीं होता·····' शब्द होठों के भीतर ही घुल गये··· मुख से एक आह तक न निकल पाई। केवल एक दीर्घ निःश्वास लेकर वह डबडबाई आँखों से वृन्दावन बिहारी के संचित्र से शृङ्गार की ओर देखती रही। पिता नहीं, सगा भाई नहीं·····कोई भी तो सहायक है नहीं·····आज अन्तिम आभूषण भी नहीं रहा। रोगी पति को पथ्य देना होगा, औषधि भी देनी ही होगी। कहाँ से आयेगा यह सब? उनके नेत्रों में आँसू झरने लगे। बड़ी कठिनाई से वह केवल इतना ही कह पाई—'प्रभू मेरे! इतनी कठिन परीक्षा न लो। उन्हें स्वस्थ कर दो।'

मंजुला घर की अवस्था समझने लगी थी। अरुण चिन्तित था। मंजुला ने माता से छिपा कर मामी को एक पत्र में घर की अवस्था का कुछ आभास तो दिया था किन्तु मामी का पत्र आया जिसमें स्पष्ट ही लिखा था—'बिटिया। तुमसे अधिक हमारा और कौन अपना है। किन्तु घर-घर मिट्टी के चूल्हे हैं। हमारी अवस्था भी कुछ अच्छी नहीं है।' मंजुला ने माता को कुछ बताया तो नहीं था किन्तु उन्हें आभास तो हो ही गया था। मानिनी के मान पर आघात-पर-आघात हो ही रहे थे। माता पूजा के कमरे में सन्ध्या की पूजा कर रही थीं। मंजुला पिता को औषधि देकर बरामदे में पीढ़ा पर बैठी भाई के लिये पुराना ऊन का स्वेटर

ऊधेड़ कर ऊन धोकर उसकी लच्छियाँ बना रही थी। माँ ने उससे कभी कुछ कहा तो नहीं था। किन्तु फिर भी घर की अवस्था उससे छिपी हुई नहीं थी। उसे रह-रह कर यही विचार चिन्तित कर देता था कि अब क्या होगा। वह कुछ भी तो नहीं कर सकती। महरी छुड़ा दी गई थी। नौकर भी हटा दिया था। घर का सारा काम मंजुला स्वयं ही कर लेती थी। पिता की परिचर्या अधिकतर गृहिणी स्वयं ही करती थी। तिस पर भी उनकी अवस्था दिन प्रति दिन बिगड़ती ही जाती थी। घर की अवस्था कभी-कभी मंजुला को विचलित कर देती है। कभी-कभी भाई-बहन सोचते भी हैं किन्तु उपाय भी तो कोई दिखाई नहीं देता।

इसी समय अरुण पुस्तकें लिए हुए भीतर आया। उसका मुख उस दिन की अपेक्षा आज कुछ अधिक उदास था, तमतमाया हुआ भी था।

'आओ भैया।' कहकर मंजुला लच्छियाँ बनाती रही। अरुण पास ही आकर दूसरी पीढ़ी पर बैठे गया। कुछ देर बाद मंजुला को ध्यान आया कि भैया बहुत चुप हैं। उसने निगाह ऊँची उठा कर भाई का तमतमाया मुख देखा।

'क्यों भैइया! क्या बात है? आज बहुत चुप हो कहीं कुछ हो तो नहीं गया।'

'नहीं तो मंजु!'

'मैंने एक ट्यूशन ले ली है।' मंजुला को समझने में देर नहीं लगी कि अरुण के अत्यन्त स्वाभिमानी, विद्या को केवल दान की ही वस्तु समझने वाले मन पर परीक्षा के दो मास पूर्व ट्यूशन लेने पर विवश होने से ठेस लगी है किन्तु और उपाय भी तो नहीं था। उसने मुख पर प्रसन्नता लाते हुए कहा--'यह तो बड़ी अच्छी बात हुई, भैया! अभी तक तो मुझे ही पढ़ाते थे, अब और एक जने को पढ़ाओगे।'

'माननीय चन्द्रकुमार गुप्त के घर जाना होगा।'

'कौन। मृदुला पढ़ेगी? यह तो और भी प्रसन्नता की बात है भैया।'

'हूँ।' कह कर अरुण कुछ इस प्रकार चुप हो गया मानो उसके हृदय पर भारी पत्थर रख दिया गया हो।

मंजुला ने हाथ का काम नीचे रख दिया। वह भैया के पीछे आकर खड़ी हो गई। माता के-से वात्सल्यभरे स्वर में भाई के बालों में अँगुलियाँ फेरते हुए उसने कहा—'और इसीलिये मेरे भैया उदास हो गए। मृदुला बहुत ही अच्छी लड़की है। मेरी सखी है। वह तुम्हें बहुत ही आदर की दृष्टि से देखती है। गुरु बन जाने पर तो तुम उसके निकट और भी—श्रद्धेय हो जाओगे, अरुण भैया?'

'तुझे मालूम है कि बड़े घरों में गुरु और घर के नौकर में कोई अन्तर नहीं हुआ करता?'

'मृदुला वैसी ही लड़की नहीं है। तुम्हें मालूम है कि उसमें तनिक भी अभिमान नहीं है।'

'किन्तु तेरी सखी को पढ़ा कर उसके दिये हुए चाँदी के टुकड़े मैं ग्रहण कैसे कर सकूँगा?'

मंजुला कहना चाहती थी 'तो क्या हुआ?' किन्तु भाई के मुख की ओर देख कर उसका कहने का साहस न हुआ। 'तब अस्वीकार क्यों नहीं कर दिया?'

'अस्वीकार कर सकने की शक्ति होती, व्यवस्था होती, सुविधा होती तो क्या किसी अवस्था में मैं स्वीकार करता, मंजुला!'

मंजुला इस बात को अरुण की अपेक्षा भी अधिक अच्छी तरह समझती थी किन्तु फिर भी उसके निकट तो उपाय और भी आकाश-कुसुम था।

'तो उनसे लेने में हानि भी क्या है? उन लोगों के पास तो ढेरों रुपये हैं।'

'इसी से तो उनसे लेने की इच्छा और भी नहीं होती, मंजु! किन्तु और उपाय ही क्या है? मन न होने पर भी तो परिस्थितियाँ बहुत कुछ

करा लेती हैं।' मंजुला चुप ही रही। उसकी कोमल अँगुलियाँ भाई के सिर के घने बालों में घूमती रहीं। अरुण ने कुछ ठहर कर स्वयं ही कहा—'फिर भी बड़ा कष्टकर है परिस्थितियों की विवशता में पड़कर कुछ भी करना। कहाँ जाते हैं मानव के सिद्धान्त, उसके विश्वास, उसकी धारणायें जब कि परिस्थितियाँ द्वार पर आकर ठोकर मारती हैं।'

'यह सब भावुकता की बातें हैं, भैया! ये जीवन की यथार्थता के सम्मुख घुटने टेक ही देती हैं। तब फिर उन्हें लेकर क्या करना है।'

'नहीं, नहीं·····मैं परिस्थितियों का दास बन के नहीं रहूँगा। उन पर विजय प्राप्त करूँगा। उन्हें अपनी दासी बना कर छोड़ूँगा।' अरुण उत्तेजित हो उठा।

मंजुला ने धीरे-धीरे अरुण का कन्धा थपथपाते हुए कहा—'भैया! सो सब तुम कर सकोगे। तुम्हें भगवान ने प्रतिभा दी है, शक्ति दी है। समय तो आता-जाता ही रहता है।' अरुण को जान पड़ा कि उसने बहुत-कुछ लिया। उसने एक मास पूर्व प्रॉक्टर के पास जब अपना नाम ट्यूशन करने के लिए लिखवाया था उस समय उसका सर्वाङ्ग काँप रहा था। उसे स्वयं अपने पर ग्लानि हो रही थी जब प्रोक्टर ने हँस कर कहा—'अरुण! भला तुम्हें ट्यूशन करने की क्या आवश्यकता पड़ गई?' साधारणतया अरुण विश्वविद्यालय में धनी छात्र समझा जाता था। उसने कभी कोई चन्दा देते समय झुँझलाहट नहीं दिखाई थी। वही अरुण जब ट्यूशन की भिक्षा माँगने पहुँचा तो उसका सर्वाङ्ग ग्लानि, लज्जा और कुछ विचित्र-से अनुभव से भरा हुआ था। किन्तु और उपाय ही क्या था। नौकरी··· नौकरी से तो उसे सदा से ही घृणा थी। इसीलिए तो उसने एम० ए० के साथ कानून भी पढ़ना आरम्भ कर दिया था और अब जब कि कुछ मास की ही देर रह गई थी, माँ उसे किसी प्रकार भी पढ़ाई नहीं छोड़ने देती थीं। पढ़ाई छोड़कर भी उसे कहीं नौकरी मिलने की सम्भावना नहीं

थी। अरुण यह भली-भाँति जानता था। घर की स्थिति भी उससे छिपी हुई नहीं थी, अतः उसने ट्यूशन करने का ही निश्चय किया।

'मंजु! याद है एक बार मैंने कहा था विद्यादान करने की वस्तु है बेचने की नहीं ··और आज···'

'भैया! तुम्हें हो क्या गया है? यदि नहीं करना चाहते हो तो न करो। अपनी आत्मा की पुकार को ठेल कर तुमसे कुछ भी करते नहीं बनेगा।'

अरुण सोचता रहा। इस बार उसने कुछ स्थिर होकर कहा—'नहीं मंजु! मैं करूँगा। सब कुछ करूँगा। मेरे स्वप्न पूरे होकर ही रहेंगे किन्तु उनके लिए मैं स्वयं मार्ग बनाऊँगा·····'

मंजु प्रसन्न हो उठी—'यही तो मेरे भैया की बात है। और भैया मृदुला को पढ़ाना अपने आप में भी कुछ कम महत्वपूर्ण बात नहीं है। तिस पर तुम्हें तो वह अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती है। जब भी आती है तुम्हारी बातें अवश्य करती है।' माँ ने इसी समय बच्चों को भोजन के लिए बुलाया। बात जहाँ-की-तहाँ रह गई किन्तु अरुण के मस्तिष्क में रह-रहकर मंजु के यही शब्द गूँज उठते थे—'मृदुला को पढ़ाना अपने आप में भी कुछ कम महत्वपूर्ण बात नहीं है। तिस पर तुम्हें तो वह अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती है। जब भी आती है तुम्हारी बातें अवश्य करती है।' बरबस ठेल-ढकेल कर बाहर किया हुआ यह विचार जब भी अरुण के तरुण मन में उठ खड़ा होता तो उसे जान पड़ता कि मृदुला केवल मृदुला है···एक लड़की भोली-सी नन्हीं-सी ठीक उसकी मंजु की ही तरह और अरुण बहुत कुछ भावी नौकरी की बात भुलाकर सोचने लगता अपनी छात्रा की·····एक बालिका की बात·····उसे प्रातःकाल ही तो वहाँ जाना है और···और···फिर उसे मिलेंगे चालीस रुपये···वे चालीस रुपये जिनसे उनके पिता की औषधि आएगी···उससे उसकी माता, उसकी बहन के लिए अन्न जुटाया जायेगा···और···और···

मृदुला प्रातःकाल से ही मास्टर साहब की प्रतीक्षा कर रही थी। अध्ययन कक्ष में पुस्तकें खोले हुए वह सोच रही थी कि मास्टर कैसा होगा। जीवन में प्रथम बार उसे मास्टर से पढ़ने का अवसर मिला था। उसे ज्ञात था कि उसके अँग्रेजी साहित्य पढ़ाने वाले मास्टर विश्वविद्यालय के छात्र हैं·····मेधावी हैं, प्रतिभाशाली हैं और न जाने क्या-क्या कह प्रॉक्टर ने उन्हें यहाँ भिजवाया है। ठीक नौ बजे चपरासी ने आकर कहा—'बिटिया रानी! मास्टर साहब आये हैं।' पुस्तक पर से सिर बिना उठाये हुए ही मृदुला ने कहा—'यहीं भेज दो।' और दो ही क्षण पश्चात् पदचाप सुनकर सिर उठाने पर मृदुला को दिखाई दी चिरपरिचित दो जलती हुई आँखें। मृदुला चौंक उठी···उसके मुख से अपने आप निकल पड़ा—'अरे आप!' अरुण अप्रतिभ-सा हो गया। उसने अपने आप को दृढ़ता से सम्भाल कर कहा—'जी हाँ!' इस 'जी हाँ' में तीव्रता नहीं थी, कटुता नहीं थी, व्यंग्य नहीं था, और न ही तेजस्विता थी।

मंजुला अपने कमरे के बाहर ठीक इसी समय छत पर बैठी पड़ोसिन के बच्चे का स्वेटर बुनती हुई सोच रही थी—'भैया! अरे भैया की यह क्या निराली गति है। सब ही तो संसार में काम करते हैं। भैया भी तो सदा अपनी कक्षा के अथवा अपने से छोटी कक्षाओं में बच्चों को पढ़ाते ही रहे हैं फिर आज उन्हें ट्यूशन के ही नाम से इतनी आत्मग्लानि क्यों हो रही है·····मृदुला आज भैया से पढ़ेगी·····भैया पढ़ाकर लौटेंगे, फिर भोजन करेंगे और फिर युनिवर्सिटी जायेंगे·····यदि पढ़ती होती तो मैं भी इस बार सैकिण्ड ईयर की परीक्षा देती·····परीक्षा तो अब भी दे सकती हूँ, किन्तु·····भैया पढ़ा तो देंगे किन्तु उनके पास अब समय ही कहाँ होगा·····एक ट्यूशन प्रातः एक सायं फिर अपनी भी तो दोनों फाइनल की पढ़ाई है।' उसके विचारों में कोई शृंखला नहीं थी।

उधर पढ़ चुकते ही मृदुला कह रही थी अपने आप से—'यह क्या? इतनी तेजस्विता कहाँ चली गई? उसे ही तो मैं श्रद्धा करती थी? क्या

अर्थाभाव मानव के स्वभाव को भी बदल देता है ? और मेरी मंजु बहुत दिनों से तो उसे देखा ही नहीं·····मानिनी ! वह तो पत्र भी नहीं लिखेगी··· मैं ही जाऊँगी। कन्तु पता लगने पर अब तो माँ, पिता, भैया जाने भी नहीं देंगे। नहीं, नहीं उनका अपमान करवाने नहीं जाऊँगी·····कभी भी नहीं जाऊँगी।'

६

'आप का नाम क्या है ?'

'मंजुला कपूर।'

'आपकी शिक्षा कहाँ तक हुई है ?'

'मैंने इसी वर्ष बी० ए० पास किया है।'

'ओह ! कौन-सी श्रेणी में ?'

'द्वितीय'

'किस कालेज से ?'

'प्राइवेट।'

'तो आप प्राइवेट पास हैं।' प्रश्नकर्ता के सत्तर बसन्त देखे हुए मुख पर मुस्कराहट-सी आ गई।

एक दूसरे व्यक्ति ने तनिक निर्ममता से पूछा—'आप ट्रेण्ड हैं ?'

'नहीं।'

'ट्रेनिंग क्यों नहीं कर लेतीं ?'

'साधन नहीं है।'

'ओह !' पहले व्यक्ति ने फिर कहा। इस बार उनके मुख पर व्यंग्य की छाया-सी दौड़ गई।

'क्यों साहब और किसी को कुछ पूछना है ?'

'आप किसी की सिफारिश लाई हैं ?' एक ने पूछा। वह आश्चर्य से

चकित रह गई। इस प्रश्न की उसने आशा भी न की थी। 'कैसी सिफारिश ?'

'यही कि आपको नौकरी दे दी जाय।' अब उसकी समझ में आया कि नौकरी प्राप्त करने के लिए केवल विश्वविद्यालय की परीक्षा का प्रमाणपत्र, निजी आवश्यकता, सेवा भाव, लगन, परिश्रम आदि की ही आवश्यकता नहीं होती बल्कि किसी के सिफारिशी पत्र की भी आवश्यकता होती है। उसने धैर्य से उत्तर दिया—'इस प्रकार का कोई भी पत्र मेरे पास नहीं है।'

'ला सकती हैं ?'

'किसके पत्र की आवश्यकता होगी ?'

'किसी बड़े आदमी का; जैसे कोई मंत्री, उपकुलपति आदि जिससे भी आपका परिचय हो।'

एक क्षण के लिए उसके हृदय में विचार आया कि मृदुला के पिता भी तो मन्त्री हैं और···और वह मृदुला से कह कर उनसे परिचय पत्र ला सकती है किन्तु तुरन्त ही उसका मुख अव्यक्त वेदना से भर उठा। उसके कानों में गूँज उठे भैया के शब्द—'मंजु अब मृदुला हमारे मालिक की लड़की है तुम्हारी सखी मात्र ही नहीं। स्वामी सेवक का मैत्री सम्बन्ध केवल उपहास मात्र ही तो है।'

अरुण ने एम० ए०, एल० एल० बी० तो कर लिया किन्तु वकालत के लिए भी तो धन की आवश्यकता होती है। पिता का रोग बढ़ता ही जा रहा था। औषधि, पथ्य और जीवन-निर्वाह ने घर में भूँजी भाँग भी नहीं छोड़ी थी। अरुण को अत्यन्त अनिच्छा से विवश होकर नौकरी करनी पड़ी। सेक्रेटेरियट में एक साधारण-सा अस्थायी स्थान मिल गया था। अपने सम्भव-असम्भव स्वप्नों को सँजोये, बनाये किसी प्रकार अरुण वहीं सबेरे से शाम तक श्रम करके मास के अन्त में एक सौ से दो-चार ऊपर रुपये लाकर माँ को दे दिया करता था और उस समय उसे जान

पड़ता था मानों वह अपने हृदय को ही काट कर फेंके दे रहा है। मंजुला ने किसी प्रकार बी० ए० पास कर लिए। उसको यह प्रबल इच्छा थी कि वह किसी प्रकार घर की आर्थिक स्थिति सँभालने में भैया की सहायता कर सके; किन्तु उपाय ही क्या था। एक सौ रुपया, चार प्राणी, एक रोगी और माँ का असीम धैर्य। मंजुला को तो कहीं कूल-किनारा भी सूझ नहीं पड़ता था। कुछ ही दिन हुए उसने पड़ोसिन के घर के समाचार-पत्र में विज्ञापन पढ़ कर माँ से कहा था 'माँ, यदि मैं बालिकाओं के स्कूल में पढ़ाने लगूँ तो कैसा हो ?' माँ चौंक उठी थीं। मंजुला उनकी एक ही तो लड़की थी। कैसे-कैसे स्वप्नों में संजोकर तो उन्होंने इन दोनों बच्चों को पाला था। वही आज पराई नौकरी करेगी। विवाह योग्य आयु है किंतु वर है ही कहाँ ? उन्होंने अत्यन्त धैर्यपूर्वक कहा—'अपने भैया से पूछना। और भैया तो सुनते ही गरज उठे थे 'तू-तू·····नौकरी करेगी' किन्तु तुरन्त ही अत्यन्त शिष्ट नम्र भाव से उन्होंने कहा था—'अच्छा चल कर।' किन्तु उनकी अत्यधिक गम्भीरता, स्वर-परिवर्तन मंजुला के हृदय को कचोटे रहे थे। फिर भी उसने आवेदन पत्र भेज दिया था। दो दिन बाद भैया ने स्वयं ही तो कहा था—'मंजु ! तूने नौकरी की बात सोची है, सो तो अच्छा ही है बहन ! हम लोग तो तेरे लिए सम्भवतः कुछ भी नहीं कर पायेंगे, रानी ! तू स्वावलंबन का ही आश्रय लेकर चल; यही आशीर्वाद तुझे देता हूँ।' और वह तुरन्त ही मुँह फेर कर चल दिये किन्तु मंजु के नेत्रों से उसकी जलभरी आँखें छिपी नहीं रह सकीं। फिर उसने एक दिन कहा था 'बहन मेरी ! तुझे बड़े ही लाड़-प्यार से पाला था रानी ! कौन जानता था कि एक दिन·····'

'भैया ! तुम यह सब क्या कहा करते हो ? आखिर मुझ पर आफत ही कौन-सी टूट पड़ी है।'

'नहीं·····नहीं, सो नहीं कहता। तू मेरी बड़ी अच्छी बहन है किन्तु देख मंजु आत्मसम्मान न खोना। जहाँ से कुछ प्राप्त होना नहीं है वहाँ

हाथ फैलाने की-सी लज्जा सम्भवतः विश्व भर में कहीं नहीं होती है। और फैले हुए हाथ को खाली ही समेट लेने की-सी वेदना कहीं दिखाई नहीं देगी, अतः उसी से बचना, मंजु !'

मंजुला कुछ भी तो नहीं समझ पाई थी। उसने सहज भाव से प्रश्न-कर्ता की ओर मुँह करके उत्तर दे ही तो दिया—'मेरा किसी ऐसे बड़े आदमी से परिचय नहीं है।'

'तब फिर··· ···' वह बीच ही में चुप हो गए। एक दूसरे सज्जन ने पूछा—'क्या आप कुछ कम वेतन पर भी काम करना स्वीकार कर लेंगी ?'

मंजुला का जी चाहा कि बड़े जोर से चीख उठे। 'परिचयहीन असहाय व्यक्ति की असहायावस्था का लाभ उठाना ही तुम्हारा पेशा है क्या ?' इच्छा हुई कह दे 'नहीं' किन्तु साथ ही साथ असहाय रोगी पिता का पांडुरंग अवश शरीर नेत्रों के सम्मुख घूम उठा जिसकी औषधि-पथ्य की व्यवस्था समुचित नहीं हो पाती है, भाई का परिश्रम एवम् मानसिक वेदना से क्लान्त थका हुआ मुख दीख पड़ा जिस पर विद्रोह की झाँकी दिखाई देती है और फिर माँ का कठोर परिश्रम एवं वेदनाओं से जर्जर हुआ शरीर भी तो दिखाई दे रहा था और ये केवल मास के अन्त में मिलने वाले एक सौ रुपये तिस पर यह गजब की महँगाई। मंजुला के मुख से 'हाँ' निकलता ही नहीं था और 'नहीं' भी तो वह नहीं कह पा रही थी।

मिची-मिची आँखों वाले एक सज्जन ने अपने हँडिया सरीखे सिर को मंजुला की ओर फिरा कर कहा—'खैर। यह सब फिर सोच-विचार कर उत्तर दे देना किन्तु यह तो बताइये कि आपने कौन से विषय पढ़े हैं ?'

मंजुला की जान में जान आई। उसने शान्ति की एक श्वास लेकर कहा—'अँग्रेजी साहित्य, दर्शन और संस्कृत।'

'तब तो हमारा काम नहीं चलेगा।'

'क्यों।' अत्यन्त आश्चर्य से मंजुला ने पूछा।

'हमें तो हिन्दी पढ़ाने के लिए अध्यापिका की आवश्यकता है।'

'हिन्दी तो मैं भली प्रकार पढ़ा सकती हूँ। संस्कृत साहित्य का अध्ययन तो मैंने इसी दृष्टि से किया था कि हिन्दी साहित्य में अधिक गति हो सके।'

'अच्छा। और किसी को कुछ पूछना है?' एक बार फिर वृद्ध सभापति ने इधर-उधर देखकर कहा। मंजुला को जान पड़ा कि वे बीस-बाईस जोड़ी आँखें उसके शरीर को वेधकर न जाने क्या देख लेना चाहती हैं। किसी भी ओर से कोई उत्तर न पाकर सभापति ने मंजुला से कहा—'तो अब आप जा सकती हैं यदि आप को रखना हुआ तो सूचित कर देंगे।' सत्ता का दम्भ उनके शब्दों से इसी प्रकार टपक रहा था जैसे भिखारी को भिक्षा देते समय दाता के स्वर से टपकता है। मुक्ति की श्वास लेकर मंजुला कमरे से बाहर आ गई। उसका सर्वाङ्ग काँप रहा था। एक अज्ञात भय-सा उसे बुरी तरह झँझोड़ रहा था। धीरे-धीरे इण्टरव्यू के लिए प्रतीक्षा करती हुई बीस-पच्चीस महिलाओं के बीच से सिर झुकाये हुए ही मंजुला बाहर निकल गई। किसी का भी साहस उससे कुछ पूछने का नहीं हुआ किन्तु उसके मुख के भावों ने सब ही को कुछ आन्तकित तो अवश्य ही कर दिया। घबराहट का भाव तो उन सभी दरिद्रता से पिसी हुई नारियों के चेहरों पर फिर गया।

बेंच पर बैठी हुई एक कुछ अधिक आयु की अनुभवी महिला ने कहा—'यों ही ढोंग कर रहे हैं। नियुक्ति तो कुमद की ही होगी।'

'कुमद कौन?' एक दूसरी महिला ने पूछा।

'अरे वही पतली-सी लड़की। देखो वह जो सबसे पीछे आई थी और इन्टरव्यू के बाद उस किनारे पर बैठी है जिससे हेड क्लर्क बातें कर रहे हैं।'

'हाँ, हाँ वह तो जा रही है।'

'जाये नहीं तो क्या करे उसकी नियुक्ति तो निश्चित ही है?'

'किन्तु वह तो थर्ड डिवीजनर है। हमारे साथ दो बार इन्टर में फेल

हुई और एक बार बी० ए० में फेल होकर अबकी बार जाने कैसे पास हो गई।'

'वही तो।'

'किन्तु उसमें क्या विशेष बात है कि उसकी ही नियुक्ति होगी?'

'तुम नहीं जानतीं? सचमुच?' आश्चर्य था उसके स्वर में।

'सचमुच मैं नहीं जानती।'

'सारा नगर तो जानता है कि यहाँ नियुक्ति पाने के लिए जाति विशेष के ही व्यक्ति होने की आवश्यकता है, तिस पर कुमुद तो प्रबन्धक के भतीजे की पत्नी है न।' जैसे किसी गम्भीर रहस्य का उद्घाटन कर रही हो ऐसे धीमें स्वर में पूरा रस लेकर धीरे-धीरे उसने कहा।

'हूँ, तब यह जमघट यहाँ इकट्ठा किया ही क्यों गया?'

दिखाने के लिए। इतना दिखावा भी न करें तो नाक कैसे रहे। यों पूछने वाला भी कौन है? फिर भी बनते तो सब ही धर्मात्मा हैं न।'

'सब ही धर्मराज का अवतार हैं। क्या कहने इन लोगों के किन्तु बहन इनकी शरण में आने के अतिरिक्त और उपाय भी क्या है?'

अत्यन्त दुःख से गहरी विश्वास लेते हुए उसने कहा—'न जाने भगवान् कब ये शिक्षा-जिमीदारियाँ समाप्त करेंगे ताकि पढ़े-लिखे गरीबों का भाग्य इस प्रकार बन्धक तो न रख दिया जाय।'

'यों क्यों नहीं कहतीं कि न जाने कब भगवान मनुष्य को मनुष्य का मूल्य समझ पाने की शक्ति देंगे।'

'ऐसा कभी होगा यह जान तो नहीं पड़ता है।' स्वर में निराशा थी।

मंजुला खम्भे के सहारे खड़ी थी वह इन बातों को और अधिक न सुन सकी। उसे जान पड़ा कि उसके मस्तिष्क पर सौ-सौ हथौड़ों की चोटें निरन्तर पड़ रही हैं। उसके कानों में भैया के सुख के दिनों के शब्द गूँज उठे—'मंजु! जीवन उतना सुन्दर उतना कोमल और उतना मधुर नहीं है जितना कि हम उसे देख रहे हैं।'

तब उसने बड़े साहस से कहा था, 'संघर्षरहित जीवन कैसा ? संघर्ष ही जीवन है।'

किन्तु आज जब कि संघर्ष द्वार पर खड़ा भयानक रूप से कुण्डी खट-खटा रहा है तब यह घबराहट क्यों ? यह कम्पन क्यों ? यह व्याकुलता क्यों ? नहीं, नहीं मंजु घबराती नहीं है। वह क्यों घबराये ? वह निराश भी नहीं होगी। समाज के बीच, संघर्षों के बीच बैठकर ही तो वह जीवन से परिचय करेगी ? उससे भागेगी नहीं।

मंजु कायर नहीं है। वह संघर्ष से भयभीत नहीं हो सकेगी। मंजु के नेत्रों से चिनगारियों-सी निकलने लगीं। उसने भयंकर पीड़ा को भीतर-ही-भीतर दबा कर द्वार की ओर पग बढ़ाये। विद्यालय के अनुभवी वृद्ध चप-रासी ने उससे कहा—'बहन जी ! आप निराश न हों। यहाँ के सभापति बड़े ही दयालु हैं। एक बार उनके घर जाकर···' मंजुला का ध्यान उधर नहीं था। वह द्वार पार करके सड़क पर आ चुकी थी। उसके मन में वे शब्द गूँज रहे थे 'क्या आप किसी की सिफारिश ला सकती हैं ? किसी बड़े आदमी की।' वह सोच रही थी कि कौन है बड़ा आदमी ! कैसा होता है बड़ा आदमी ? क्या सिफारिश कर सकेगा बड़ा आदमी ? यही तो कि वह परिश्रमी है, बालिकाओं को शिक्षा देने के योग्य है किन्तु बड़ा आदमी कैसे जान पायेगा यह सब ? उसका मस्तिष्क थक गया था। मन बुझ गया था। अचानक उसकी कल्पना में मृदुला उभर आई जिसे अनेकों बार स्वयं पढ़ा-पढ़ाकर उसने परीक्षा में उत्तीर्ण होने योग्य किया था···और वह स्वयं आज अस्सी रुपये की नौकरी के लिए···उसकी अन्तरात्मा दर्द से चीख उठी···यही हैं शिक्षा संस्थायें···यही देश के भावी नागरिक तैयार कर रही हैं। इन्हीं विद्या मन्दिरों के पुजारियों की योग्यता की परख करते हैं बड़े आदमी···धन बल से···सत्ता बल से···उसकी विवश आँखों में जल भर आया।

अरुण ने मंजुला की आकृति देखी···बहुत कुछ समझा भी किन्तु मंजु

से कुछ कहने का साहस आज उसमें नहीं था। मंजु भी आज अपने सुख-दुःख के एक मात्र साथी भैया से कहना चाह कर भी कुछ नहीं कह पा रही थी। अत्यन्त कष्ट और द्विविधा के बीच रात के भोजन के पश्चात् मंजु धीरे-धीरे आकर भैया के पलँग के पास खड़ी हो गई। अरुण एक पुस्तक पढ़ रहा था, पढ़ता रहा। कुछ देर पश्चात् मंजु ने बिना किसी भूमिका के ही पूछा—'भैया! उस विद्यालय के सभापति के घर जाना होगा। चली जाऊँ क्या?' अरुण कुछ देर बिलकुल चुप रहा। फिर उसने हाथ की पुस्तक पलँग पर रखकर अत्यन्त संयत स्वर में कहा—'मंजु! तू वह सब कुछ कर नहीं सकेगी। जाने दे। आत्म-सम्मान से बढ़कर विश्व में कुछ नहीं है।' मंजु इस वाक्य का अर्थ बिल्कुल भी न समझी हो, ऐसी बात नहीं थी फिर भी बहुत कुछ अनसमझा ही तो रह गया। स्वर की दृढ़ता ने मंजु को कुछ कहने ही नहीं दिया। अरुण ने स्वयं ही कहा—'तू एम० ए० की पढ़ाई आरम्भ कर दे!' 'भैया' मंजु का कातर स्वर अरुण के कानों में गूँज उठा। 'मंजु! अब जाकर सो जा।' मंजु धीरे-धीरे लौट आई किन्तु रात भर उसे चैन नहीं पड़ा। आत्म-सम्मान, नौकरी, अर्थ-कष्ट यही उसके मन में घूमते रहे।

और उधर—'बात क्या है?' उसने कुछ झुककर धीरे से कहा।

उसकी लाल डोरों सहित दोनों आँखें हौले से उठकर तनिक झुकती हुई उसके मुख पर टिक गईं।

'कुछ भी तो नहीं।' उसके दोनों होंठ यन्त्र की भाँति हिल गए। 'कुछ है तो, किन्तु जाने दीजिये।' उसने इतने हौले से कहा कि केवल वही उसे सुन सकी। उसने कृतज्ञतापूर्वक अपने सुन्दर नेत्र एक बार उसकी ओर उठाकर फिर दृष्टि घुमा दी सुदूर खिले हुए लाल और पीले गुलाबों के पौधे की ओर। तान उठ रही थी 'इरादे इन्साँ के आतिश भरे हुए क्यों हों?' 'क्यों हों?' उसने कुछ ऐसे अन्दाज से कहा कि मेज के दूसरी ओर से हलकी-फुलकी श्रीमती बसु हल्की-सी हँसी हँस दी। उन्होंने

मृदुला की ओर ही देखकर कहा—'क्यों, मिस गुप्ता ! यह भी एक ही कही कि क्यों हों ?'

मृदुला की दृष्टि गुलाबों से उलझी हुई थी। बरबस उसे लौटाकर उसने एक बार फिर कुँवर वीरेश्वर प्रतापसिंह के ऊँचे ललाट वाले प्रियदर्शी मुख की ओर कृतज्ञताभरी दृष्टि डालकर कहा—'हाँ, हों ही क्यों ?'

'क्या ? इन्सान के इरादे क्यों हों अथवा आतिशभरे इरादे क्यों हों ?' दूसरे सिरे पर बैठे नये आई० ए० एस० डिप्टी कलक्टर रमेश सिनहा ने कहा।

मृदुला उत्तर के लिए तैयार नहीं थी। उस दिन प्रातःकाल से ही उसका मन भरा-भरा-सा हो रहा था। आज उसकी रंजना भाभी के पहले बेटे, उसके भतीजे का पहला जन्म दिन है। जब रंजना का विवाह हुआ था तो मृदुला को विद्यालय में सबसे पहले मंजुला ने बधाई दी थी ? आज भी रंजना के पास मंजुला के हाथों की चित्रकला का नमूना उपहार रूप में दिया गया, सुरक्षित है, किन्तु कहाँ गई वह मंजुला ! जीवन की बहती लहरों में उसकी प्रिय मंजुला···कहाँ खो गई ? गत वर्ष रंजना भाभी के पहले पुत्र के जन्मोत्सव में उसने मंजुला को निमंत्रण पत्र भेजा था और-और भेजा था उन्हें भी—मास्टर साहब को···नहीं···नहीं मंजुला के भाई··· नहीं···नहीं···मास्टर साहब को ही···

वह कौन है ? मंजुला के भाई···मेरी प्रिय सहेली के भाई अथवा मेरे मास्टर···केवल मास्टर···जैसे पहले उनकी बहिन परीक्षा पास कराती थी उसी प्रकार इस बार परीक्षा पास कराने वाले उस बहिन के भाई मेरे मास्टर···मेरे ट्यूटर···अरे नहीं···पर···पर कोई भी तो नहीं आया··· आई दो पंक्तियों की एक छोटी-सी कविता···मृदुला को जान पड़ा कि मंजुला उससे दूर हो गई···बहुत दूर···इतनी दूर जहाँ कि उसकी पलकें भी नहीं पहुँच पायेंगी···कल्पना भी···मृदुला का मन भर उठा था किन्तु

मास्टर साहब उन्हें तो दो अक्षर···नहीं···नहीं···वह तो और भी कहाँ किन्तु मैं उनकी बात क्यों सोचती हूँ···उन्होंने एक दिन कहा था—'जहाँ अपनी अत्यधिक आवश्यकता न हो वहाँ जाने के समान कष्टकर···' पर मैं यह सब क्यों सोचती हूँ···वह···वह···नहीं···तो नहीं, नहीं···और वह नहीं आई···वह भी नहीं आये···बड़ी शानदार दावत रही किन्तु मृदुला को रह-रहकर···जान पड़ता था कि उसके चारों ओर एक ऐसा विकट, कोमल, मृदुल हलका-सा जाल लिपटा है जिसे वह पल भर में ही चाहे तो तोड़ सकती है किन्तु तोड़ पायेगी नहीं···आज उसने मंजुला को निमंत्रण भेजा ही नहीं था···किसी दिन भी वह जा भी तो नहीं सकी।

बहुत पहले उसने एक बार कहा भी था किन्तु तब ही मणीन्द ने कहा था—'यह क्या बचपन है, मृदुला! लोग क्या कहेंगे यह भी सोचा है···' तब-तब क्या कुशाग्र बुद्धि मंजुला के घर जाने पर···उसने फिर किसी दिन कुछ कहा भी नहीं। मंजुला का नाम भी उसकी जुबान पर नहीं आया··· और वह उत्तीर्ण हुई बी० ए० में। कालिज में वह सर्वप्रथम आई थी··· घर में बधाइयाँ मिलीं, उपहार मिले किन्तु कहाँ थी उसकी मंजु की सरल मीठी-सी मुस्कान···कहाँ था मास्टर साहब का सहज सरल-सा वाक्य 'अरे पास तो तुम हो ही जाओगी।' उसे जान पड़ा कि कहीं कुछ खो गया है और उसकी उलझन खीझ में परिवर्तित हो गई। फिर भी विधि निषेध से परे उसकी आत्मा छटपटा रही थी···न जाने क्यों···

आज फिर अचानक ही वह अनमनी-सी हो उठी। कुँवर वीरेश्वर प्रतापसिंह बहुत देर से उसके सुन्दर मुख के उतार-चढ़ाव को देख रहे थे। अचानक उन्हें जान पड़ा कि यह लड़की उन सभी लड़कियों से कुछ भिन्न है जिन्हें उन्होंने आज तक देखा है, जाना है। वह उसकी ओर देखते रहे और वह कुछ सोचती रही···उन्हें लगा कि वह आज तक क्यों नहीं जान पाये कि मृदुला बहुत सुन्दर है, बहुत ही अधिक सुन्दर···इंगलैण्ड, अमरीका, फ्रांस और स्वीट्जरलैण्ड की नृत्य की साथिन सुन्दरियों से भी

अधिक···ग्रामों की अनजान भोली-भाली कुमारियों से भी अधिक और··· और उस उत्सव की समस्त रंग-बिरंगी तितलियों से भी अधिक···उन्होंने हाथ के गिलास से एक घूँट भरकर फिर मृदुला की ओर देखा···उसकी शान्त, उदास दृष्टि लम्बी-काली घनी बरौनियों के भीतर जैसे तड़फ-सी रही थी···कुँवर की दृष्टि की तीव्रता घूँट से बढ़ गई। उन्होंने अत्यन्त कोमलता से तनिक झुककर औरों के कान बचाते हुए उससे कहा—'बात क्या है ?' स्वर में मृदुता थी, आर्द्रता थी और न जाने क्या था कि मृदुला कृतज्ञता से भर उठी। उसने कुँवर के आरक्त मुख की ओर देखा और उसकी दृष्टि भर उठी। उसे जान पड़ा कि इस सारे उत्सव में एक उसी को मुझसे सहानुभूति है। मेरे मन की पीड़ा बढ़ने की उत्सुकता एक इसी व्यक्ति को है और उसे कुछ अच्छा-सा लगा।

कुँवर रमेश श्रीवास्तव की ओर देख कर हँस पड़ा—'क्यों परेशानी इतनी क्यों बढ़ गई श्रीवास्तव साहब ! वह तो कहती है कि इरादे आतिश भरे क्यों हों सीधे-सादे क्यों न हों ?' रमेश का चेहरा फीका पड़ गया। उसने हकलाते हुए कहा—'चलिए, आप उनके मन की बात तो समझने लगे।' 'नहीं, नहीं यह सब मैं क्या जानूँ ? तुम तो अमेरिका में मनोविज्ञान ही पढ़ते रहे थे। अब कुछ लगाओ न यहाँ, तो जानें।' रमेश का मुख लाल हो गया था। श्रीमती वसु ने अपनी हलकी नन्ही-सी मुस्कान से समझौता कराते हुए कहा—'अरे भाई ! उन्होंने तो थ्योरी ही पढ़ी थी तुम तो प्रैक्टीकल भी करते रहे हो न।' रमेश कुछ आश्वस्त हुआ।

कुँवर ठठाकर हँस पड़ा। मृदुला भी सम्भल चुकी थी। श्रीवास्तव उसी की ओर देख रहा था। उसने श्रीवास्तव से कहा—'जरा वह प्लेट तो इधर करना।' समझौता हो गया था। कुँवर ने फिर अपने गिलास की ओर ध्यान लगाया। श्रीमती वसु ने श्रीमती टण्डन की ओर देख कर कहा—'भाई ! वह उस दिन वाला पैट्रन तो मुझे भी भेज देना। बेबी माँग रही थी।'

और दूर से स्वर आ रहा था—'न जाये ग़म, यह मुहब्बत भरे हुए क्यों हों ?' मृदुला ने कुँवर से कहा—'वस्तुतः मानव कितने विचार किस-किस ढंग से करता रहता है···निश्चय करता है और न जाने क्यों···' वह चुप हो गई। उसे ध्यान आया कि वह एक उत्सव में सम्मिलित है और कुँवर···उसने मृदुला की ओर इस प्रकार देखा मानो वह एक छोटी-सी बच्ची हो जिसे थपथपाने की आवश्यकता हो। स्वर अब भी आ रहे थे—

'पिनहाया उसने ही इक दिन यह पैर सबको। फिर रूह-रूह में भी फ़र्के इन्तिहा क्यों हो ?' अनजाने ही मृदुला के मुख से निकल गया—'सच-मुच।' हृदय की गहराई से निकला शब्द कुँवर को छू-सा गया। उत्सव में पीने का दौर ठंडा पड़ता जा रहा था। पीने वाले काफ़ी पी भी चुके थे और रात भी भीग गई थी। धीरे-धीरे महिलायें उठने लगी थीं।

मृदुला उठकर खड़ी हो गई। अन्य लोग भी उठ-उठकर भीतर जाने लगे थे। भोजन की मेजें उनका स्वागत करने को प्रस्तुत थीं। मृदुला का जी चाहा कि वह दौड़ कर रंजना के पास चली जाए किन्तु उसे तो इधर मेहमानों को देखना था। रमेश ने मृदुला से कहा—'चलिए, भीतर चलें। यहाँ तो आपने एक कोका कोला के सिवाय कुछ भी नहीं लिया।' रमेश के स्वर में आत्मीयता, गहनता कहाँ थी। मृदुला ने अत्यन्त कृत्रिम भाव से कहा—'चलिए···चलिए···' और वह तनिक रुक-सी गई। कुँवर ने रमेश की ओर एक ओछी-सी दृष्टि डाली और तीनों भीतर की ओर चल दिए। रमेश की थकी-थकाई-सी दृष्टि जब-तब कुँवर पर जाकर तनिक देर ठहर जाती थी और कुँवर एक उचटती हुई-सी दृष्टि उसकी ओर डालकर फिर मृदुला से बातचीत में लग जाता था। मृदुला का मन न जाने क्यों कुछ उचाट-उचाट-सा हो रहा था। उसे सब कुछ कृत्रिम, थोथा और हल्का-हल्का-सा जान पड़ता था। फिर भी उसने रात्रि के द्वितीय प्रहर तक दो बार श्रीवास्तव के साथ दो बार श्रीयुत् वसु के साथ और तीसरी अथवा अन्तिम बार कुँवर के साथ नृत्य समाप्त करते ही स्फूर्ति का अनुभव किया।

कुँवर ने अन्तिम नृत्य के अन्तिम भाग में झुक कर मृदुला के कान में कहा था—'सचमुच, इतना आनन्द किसी नृत्य में कभी नहीं आया।' और मृदुला ने जब उसकी दोनों गुलाबी आँखों की ओर देखा तो उसे जान पड़ा कि कुँवर की दोनों आँखें जीवन से, प्राण से, आनन्द से परिपूर्ण हैं··· और···और उसे तुरन्त ही दिखाई दीं दो और आँखें···जलती हुई-सी··· मानो विश्व भर को भस्म कर डालने का ही निमन्त्रण दे रही हों···मृदुला का जी चाहा कि उन दो आँखों को सदा के ही लिए कल्पना जगत से निर्वासित करके इन्हीं दो आँखों में खो जाय···समा जाय···भूल जाय अपने आप को···सदा सर्वदा के लिये विलीन हो जाय···उसे जान पड़ा कि अनन्त आनन्द का स्रोत वे दो आँखें ही उसकी आकांक्षाओं का चरम लक्ष्य हैं···वही बनी रहें उसके मन में किन्तु कहाँ हटती थीं वे दो जलती हुई···चमकती हुई आँखें···मृदुला ने चाहा कि वह हँस दे अपनी उलझन पर···हँसी आई ही कहाँ···कुँवर के कन्धों के पीछे से रमेश की दो जलती हुई आँखें दिखाई दीं किन्तु कितना अन्तर है इन और उन जलती हुई आँखों में···नृत्य का अन्त समीप था। पैर थिरक रहे थे हाथ मिले हुए थे···मृदुला चुप थी किन्तु कुँवर ने फिर पीछे से झुक कर कहा—'आप कितनी अच्छी हैं।' और मृदुला अकारण ही मुस्करा दी···उसकी इच्छा हुई कि खिलखिला कर हँस उठे किन्तु रह गई केवल मुस्करा कर ही और संगीत के स्वर मन्द होते ही कुँवर ने उसका हाथ धीरे से तनिक-सा दबा कर छोड़ दिया···मृदुला को अचानक जान पड़ा कि वह बहुत ही अधिक थक गई है। उसे लगा कि उसका सिर चकरा रहा है, उसके आसपास का विश्व घूम रहा है। वह धीरे-धीरे चलकर एक सोफे पर बैठ गई थकी हुई-सी···फिर भी उसकी इच्छा वहाँ से हटने की नहीं हो रही थी···वह स्वयं नहीं जानती थी कि वह क्या चाहती है। कुँवर दूसरी ओर चला गया था किन्तु रमेश उसके निकट ही आकर बैठ गया। उसकी आँखें अब भी जल रही थीं किन्तु उसमें कुछ वेदना भी थी···कुछ विकलता भी···

मृदुला को अपनी थकान बहुत ही अच्छी लग रही थी। वह सोफे की पीठ पर सिर टिकाए हुए थी। रमेश ने धीरे से कहा—'आप बहुत थक गई जान पड़ती हैं।' मृदुला ने मुस्करा कर कहा—'यह थकान ही तो जीवन है।' और दोनों अकारण ही हँस पड़े। 'आप क्लास में तो कभी दिखाई ही नहीं देती हैं, मृदुला जी।' रमेश ने उलाहना देते हुए कहा। मणीन्द और रंजना तो क्लब जाते ही थे किन्तु मृदुला बहुत ही कम जाती थी। उसने स्वाभाविक स्वर में कहा—'भैया तो जाते हैं किन्तु मुझे वहाँ का कार्यक्रम कुछ रुचिकर नहीं लगता।'

'आप आया तो करें। कार्यक्रम जब आप होंगी तो रुचिकर हो ही जायेगा।' उक्ति में चाटुकारिता स्पष्ट ही थी किन्तु मृदुला को बुरा नहीं लगा। उसे यह सरज और स्वाभाविक-सा ही जान पड़ा कि सभी उसकी प्रशंसा करें, स्तुति करें, खुशामद करें और वह सहज भाव से उन सबको स्वीकार कर ले।

अतिथि एक-एक करके बिदा होने लगे थे। कुँवर फिर दिखाई नहीं दिया किन्तु रमेश ने घने अपनत्व से बिदा ली। बहुत रात गए कपड़े बिना बदले हुए ही थकी-थकाई मृदुला जब माँ और भाभी को छोड़कर पलँग पर आकर तिरछी पड़ रही तो उसे जान पड़ा कि उसकी उस सन्ध्या और रात्रि की उदासी और प्रसन्नता दोनों ही व्यर्थ थीं, थोथी थीं और थीं 'नाकाम' नाकाम शब्द जैसे उसके मन में छा-सा गया। उसे लगा कि कोई उसके कानों में कह रहा है—'अरी ओ गर्वीली! तेरे···तुम्हारे···तुम लोगों के आनन्द साधनों के एक-एक बिन्दु विसर्ग के लिए जानती हो कि कितने व्यक्तियों को अपना सुख अपनी सुविधाएँ न्योछावर करनी पड़ती है···' किन्तु कहाँ·· ···उसके पिता ने देश के लिए त्याग किया था और आज भी देश ही उनका सर्वस्व है·····तब वह·····उसके भाई···उसकी भाभी·····नहीं···नहीं···वह यह सब कुछ क्यों सोचती है···उसे जान पड़ा कि यह स्वर उसके अपने नहीं हैं·····किसके हैं वह स्पष्ट रूप से तो

नहीं जान पाई किन्तु·····उसके अपने नहीं हैं···कुँवर के नहीं हैं, रमेश के नहीं हैं·····भैया के नहीं हैं·····भाभी के नहीं हैं·····माँ के नहीं हैं यहाँ तक कि आदर्शवादी त्यागी पिता के भी नहीं हैं तब···तब वे किसके हैं·····उसने आँखें मूँद ली·····आलस्य सी भीगी हुई पलकें बन्द हो गईं और उसने देखा·····जल···विशाल जल खण्ड·····विशाल जल राशि····· उज्ज्वल नीलाकाश और विस्तृत प्रकृति का अद्‌भुद सौंदर्य····· वह खड़ी आकाश के प्रगाढ़ नील सौंदर्य को देख ही रही थी कि एक ओर से कुँवर का लंबा सुडौल शरीर शिकारी वेश में दिखाई दिया····· उसके एक हाथ में बन्दूक थी और दूसरे में गुलाब का लाल फूल ! उसने निकट आकर मुस्कराती हुई आँखों से उससे पूछा—'क्या लोगी बन्दूक अथवा सुमन ?' तब ही कहीं से रमेश की चीख सुन पड़ी। दोनों उधर ही देखने लगे·····रमेश के बाल बिखरे थे और वह इन्हीं की ओर चिल्लाता आ रहा था 'मुझे सुमन चाहिए' निकट आकर उसने कुँवर के हाथ से लाल फूल छीन लेना चाहा किन्तु सतर्क कुँवर कुछ पीछे हट गया। रमेश कातर स्वर में आर्तनाद कर उठा। मृदुला को दया आ गई। उसने कुँवर के हाथ से लाल गुलाब का फूल लेकर ज्यों ही रमेश को देना चाहा कि अचानक उसे दो जलती हुई, तड़फती हुई आँखें दिखाई दीं जो कि विशाल जल राशि के ठीक ऊपर नीलाकाश में चमक रही थीं···वह चीख पड़ी··· कुँवर ने उन आँखों की ओर बन्दूक घुमा दी···वे आखें हँस पड़ीं····· रमेश उन्हें पकड़ने को दौड़ा। किन्तु विशाल जल राशि में जा पड़ा। उसने कुँवर से विनती की 'उसे बचाओ··· ··उसे बचाओ' कुँवर ने निर्दयतापूर्वक कहा—'जाने दो मृदुला, उसे जाने दो। उसका जाना ही ठीक है·····।' मृदुला स्वयम् उसे बचाने के लिए विशाल जल राशि की ओर भागी किन्तु कुँवर ने उसे पीछे से कसकर पकड़ लिया·····वे दोनों आँखें तब भी हँस रही थीं। मृदुला ने तड़फ कर उस बन्धन से निकलना चाहा किन्तु वह बन्धन और भी कसता जा रहा था·····बन्धन धीरे-धीरे

कुँवर की बाहों से परिवर्तित होकर फूलों के हार और साँप की लोइया के रूप में दिखाई देने लगा। जल राशि ने आगे बढ़कर बन्धनों सहित मृदुला को पकड़ना चाहा। घबराकर मृदुला ने भागने, उस जल राशि से बचने का प्रयत्न किया किन्तु प्रबल जल राशि ने सब ओर से उसे घेर लिया। वह डूबने लगी···दो जलती हुई आँखें अब भी उसके सम्मुख थीं किन्तु उनमें से ज्वालाएँ निकल रही थीं। एक हल्की-सी चीख के साथ उसकी आँख खुल गई उसका सारा शरीर पसीने से तर था। वह उठ कर बैठ गई। पानी का गिलास पास ही रखा था। उसने पानी पिया। वह सोच रही थी यह सब क्या है। रमेश से मेरा क्या सम्बन्ध है? इस कुँवर को तो आज ही देखा है। वे जलती आँखें···मेरा पीछा क्यों करती हैं·····मैं उन्हें दूर ठेलना चाहती हूँ फिर भी ठेल क्यों नहीं पाती हूँ·····मास्टर साहब? ओह! उन्हें तो वह भूल ही गई थी·····मंजुला उसके जीवन से बाहर की वस्तु तो हो ही गई थी। उसे जान पड़ा कि उसके कानों में चिर-परिचित स्वर गूँज उठे 'सुख और दुःख दोनों को ही दूर करके, ठेल करके, उनके ठीक बीचो-बीच मार्ग बनाकर जो चल पाते है क्या वे श्रद्धेय नहीं हैं!' और सुन पड़ा उत्तर भी 'होंगे।' 'तेरी जैसी मस्ती लाऊँ भी कहाँ से!' यह सब क्या था क्या हो गया, कैसे हो गया। क्या यह सचमुच ही उसका सहज विश्वास है अथवा मात्र···आत्मप्रवंचना, ढोंग····· धोखा·····

'आत्मप्रवंचना', 'मानव के बाहुओं पर इतना अधिक विश्वास करके ठगा जाना' मृदुला को जान पड़ा कि उसके सिर के भीतर सैकड़ों कल कारखानों के यन्त्र अपनी सम्पूर्ण शक्ति से चल रहे हैं। वह स्वयं अपनी दशा पर हँस पड़ी। आँखें मूँद कर लेट जाने पर मृदुला ने धीरे से कहा—'मैं तो सदा सर्वदा आत्मसमर्पण करके चलती ही रहूँगी किन्तु मानव बाहुओं पर अतुल विश्वास रखने वाली, ओ मानिनी! तेरा क्या होगा? ओ विद्रोहिणी! तेरा क्या होगा?? क्या होगा???' उत्तर न

पाने पर भी उसे लगा जैसे कि उसे उत्तर मिल गया है और उसने शान्त होकर करवट ले ली। उसके मन का घना विषाद धीरे-धीरे छँटने लगा। अचानक उसका जी चाहा कि मंजुला उसके पास होती···किंतु कहाँ है वह ? वर्षों से उसका समाचार ही कहाँ मिला ! वह बड़े आदमी की बेटी है न ? और मंजुला···मंजुला···मृदुला सोच भी नहीं सकी···उसने तो सदा सर्वदा मंजुला को अपने से अधिक सशक्त, अधिक स्थिर बुद्धि एवं हर प्रकार से महान जानना ही सीखा था···पलकें फिर से भारी होने लगीं और तनिक में ही मृदुला देख रही थी कि वे दोनों सखियाँ कालेज के हरे भरे लॉन पर लेटी हैं। मंजुला कह रही है—"तू चल बने बनाये, सजे-धजे मार्ग पर किन्तु मैं तो अपना मार्ग स्वयं ही बनाऊँगी।" और मृदुला ने हँस कर कहा—'सो ही तो। तू कर सकती है तब वैसा ही कर मैं तो सधे बँधे मार्ग पर ही चलती रहूँगी।'

मंजुला ने फिर हँस कर पूछा—'किन्तु कौन-सा है तेरा वह सधा बँधा मार्ग···परम्पराओं के आगे अन्धविश्वास से घुटने टेक देना···हृदय में पर्याप्त साहस न होने के कारण हार मान कर झुक जाना···मुरझाये हुए मन में नवीन की चाह, उत्साह न होने के कारण पुरातन को जैसे का तैसा स्वीकार कर लेना···यही क्या तेरा सधा बँधा मार्ग है अथवा स्वयं ही अपने को न समझ पाने के खेद के अमिट चिन्हों को बरबस मिटाने के साधन स्वरूप हार की स्वीकृति को गले लगाना ही वह मार्ग है ?'

चौंक पड़ी मृदुला। तब क्या ? तब क्या ? नहीं···नहीं और उसे जान पड़ा कि कहीं निकट ही है कुँवर वीरेश्वर प्रतापसिंह का प्रियदर्शी मुखड़ा, मुस्कराता हुआ सा। उसकी दोनों गुलाबी आँखों में है आह्वान, मुस्कान और मृदुला···जीवन के चिन्ह···और ··और · फिर दिखाई दी···दो जलती हुई···तपती दोपहरी सी···भरी-भरी धूप-सी आँखें··· उसने तो कभी उनका आह्वान नहीं किया था···वे तो उसे कभी अच्छी भी नहीं लगी फिर भी वे उसके स्वप्नों से मिट क्यों नहीं जाती ··और

वह कह रहा था—'मृदुला···पाने की इच्छा ही तो दुःख का कारण है··· प्राप्ति आकांक्षा का त्याग ही तो मुक्ति है···काम्यानाम् कर्मणां न्यासम् संन्यासम् कवयो विदुः प्राप्ति का दम्भ ही मानव की सबसे बड़ी हार है··· दुर्बलता है।' और वह खिलखिला कर हँस पड़ी···

'किन्तु गुरुदेव···यह बरबस त्यागने की भावना मन में लाना भी क्या स्वाभाविक ही है? प्राकृतिक ही है? क्यों हो निवृत्ति जब कि प्रवृत्ति मानव मन के साथ घुल-मिलकर एक रस हो ही गई है?' और उसकी मधुर-सी हास्य ध्वनि सुनाई दी और फिर तनिक हल्की और मीठी-सी मुस्कान की रेखा मात्र दिखाई दी।

'किन्तु प्राप्ति की आकांक्षा का लाभ भी तो कुछ नहीं होता है।'

'लाभ-हानि का लेखा-जोखा करके जो कार्य किया जाता है वह होता है···' बात काट कर उसने कहा—'व्यापार? यही कहोगी न। किन्तु···'

'बस-बस अब और रहने दीजिये···'

और दोनों खिलखिला कर हँस पड़े। हँसती हुई दो आँखें और जलते हुए दो नयन सम्भवतः एक ही रस में डूब गए···तब ही कहीं निकट ही असंख्य ध्वनियाँ गूँजती-सी जान पड़ीं···उनमें कुँवर का स्वर भी था और रमेश का भी, मालती का स्वर था और मंजुला का भी··· किन्तु इधर दो हास्य ध्वनियाँ निर्विकार रूप से मिली-जुली चली जा रही थीं, घुली चली जा रही थीं···।

६

'क्या बात है, माँ?' थके से स्वर में अरुण ने धीरे से कहा। 'अरे कुछ भी तो नहीं। देख, दो पैसे की मूली को कैसे मजे से चार पैसे बता रही है जैसे हम ही तो एक ठगाने को रह गए हैं न।' माँ की आँखों में ठगे जाने की पीड़ा नहीं थी, एक प्रकार की कातरता, विवशता और गहरी

थकान। 'दे भी दो माँ।' कह कर अरुण भीतर चला आया। माँ द्वार पर बैठी न जाने कब तक सब्जी वाली से झिकझिक करती रहीं।

अरुण चुपचाप बरामदे में तखत पर बैठा हुआ माँ के आने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसे जान पड़ा कि उसके मन में गहरा परिवर्तन आ गया है। जीने की अन्तिम सीढ़ी पर से उतरती हुई मंजुला दिखाई दे रही थी। अरुण को जान पड़ा कि वह बहुत दुर्बल हो गई है। मंजुला घर पर ही एम० ए० की तैयारी कर रही थी। अरुण कभी-कभी उसकी सहायता करने की चेष्टा भी करता था किन्तु कभी ६ कभी ७ बजे सायंकाल आने वाला अरुण स्वयं ही इतना अधिक थक जाता था कि मंजुला अधिक देर तक उसे बिठा भी नहीं पाती थी। मंजुला रोगी का काम घर और बाहर दोनों ही करके भाई को आराम देने का प्रयास करती ही है, फिर भी अरुण मुरझाता जा रहा है।

हाथ की तरकारी की टोकरी मंजुला को पकड़ाकर माँ तखत पर अरुण के पास ही आकर बैठ गई। मंजुला रसोई से भाई के लिए जलपान लेने और तरकारी रखने चली गई। माँ ने अरुण के मुख की ओर देखकर पूछा—'कहीं कुछ ठीक हुआ ? बेटा !'

'खन्ना तो बड़ा मुँह फैलाते हैं। माँ !

'तूने क्या कहा नहीं था कि लड़की बी० ए० पास है।'

'कहा था माँ, किन्तु उन्हें लड़की की योग्यता से अधिक मोटर की चाह है।'

'और चाँदी वाले ?'

'वह भी मोटर से कम पर बात ही नहीं करते···' एक तश्तरी में थोड़ा-सा सूखा-सा हलुआ और थोड़े से उबले हुए सिंघाड़े लेकर मंजुला अरुण के पास ही आकर खड़ी हो गई। अन्तिम वाक्य उसने भी सुन लिया था। 'भैया उठो, जलपान कर लो।' अरुण ने मुँह उठा कर बहन

की ओर देखा। मुख कुछ मुरझाया हुआ था किन्तु आँखों में एक मधुर वेदना मिश्रित-सी चमक थी।

'माँ! तुम पिता जी को दवाई दे आओ, तब तक भैया जलपान कर लें, फिर बातचीत करना।'

माँ उठ कर भीतर चली गई। मंजुला उसी स्थान पर बैठ गई जहाँ कि माँ बैठी हुई थी। अन्यमनस्क अरुण सिंघाड़ा छील रहा था। कुछ देर मौन रहकर मंजुला ने दृढ़तापूर्वक भाई की ओर देखते हुए कहा—'भैया विवाह करना क्या अत्यन्त आवश्यक है?' अरुण चौंक पड़ा। उससे एक दिन एक और बालिका ने भी इसी प्रकार यह प्रश्न किया था किन्तु वह बालिका उसकी शिष्या थी और प्रश्न में भी गम्भीरता की अपेक्षा कौतूहल ही अधिक था। उसने भी हँसते हुए ही उत्तर दिया था—'जिनके पास शाहजहाँ की भाँति स्मृति अमर कर जाने के लिए पर्याप्त माया हो उन्हें तो यह प्रश्न करना ही नहीं चाहिए।'

उसने कहा था—'मैं प्रेम की बात नहीं कर रही हूँ। मेरा प्रश्न तो विवाह के विषय में है।' और उसने और भी अधिक सहज भाव से कहा—'प्रेम और प्राप्ति यह तो साथ ही साथ चलते हैं विशेषतया जहाँ कि सुविधा हो।' और दोनों धीरे से हँस दिये। किन्तु वह प्रश्न गम्भीर कहाँ था··· उसमें आदेश की प्रतीक्षा कहाँ थी···किन्तु यह प्रश्न उठ रहा था हृदय की गहनतम तहों से, जहाँ थी विवशता···असुविधा और निरुपाय जिज्ञासा। उसने सहज भाव के उत्तर दिया—'नहीं, किन्तु यह प्रश्न ही क्यों हो मंजु?'

'माँ को नहीं समझा पाऊँगी किन्तु भैया तुम तो मेरे सखा भी हो और गुरु भी। तुम माँ को समझा दो मैं विवाह नहीं करूँगी।'

'पगली! सब ही लड़कों को तो मोटर की चाह नहीं होती मंजु!'

'नहीं, भैया मैं विवाह नहीं करूँगी।'

दोनों कुछ देर चुप रहे, फिर मंजुला ने कहा—'माँ! इस एक मात्र घर

को भी बेंच कर मुझसे उऋण हो जाना चाहती हैं किन्तु मैं तुम्हें किसी प्रकार भी मार्ग का भिखारी नहीं बनने दूँगी । अपनी जीविका उपार्जन करने योग्य तुम लोगों ने मुझे कर ही दिया है।' कहते-कहते मंजुला की दृष्टि में उभर उठा नौकरी पाने के लिए किया गया इन्टरव्यू··· वह सहम गई, किन्तु फिर भी उसने धीरे-धीरे कहा—'भैया !' उसके स्वर की विकल वेदना ने अरुण को चौंका दिया । उसका जी चाहा कि बहन को गोदी में छिपा कर एक बार कह दे—'मेरी रानी बहन···मेरी मंजु' किंतु यह सब कुछ नहीं हुआ'। उसने धीरे से मंजु के सिर पर स्नेह से हाथ फेरते हुए कहा—'मंजु ! सब ही लड़कियों के विवाह होते हैं···' मंजुला ने बात काटकर कहा—'भैया तुम्हीं ने तो एक दिन कहा था कि मेरी बहन साधारण बालिका नहीं है···वह बंधे-सधे पथ पर नहीं चलेगी···पथ उसके द्वारा निर्मित होने की प्रतीक्षा करेगा···भैया तुम आज भी मुझे साहस दो ··अपना स्नेह दो···आशीर्वाद दो···' उसका स्वर रुँध गया । 'मंजु ! स्वप्नों का जगत···' 'भैया ! तुम्हारे स्वप्न साकार होकर रहेंगे··· हृदय में प्रबल झंझावात धारण किए हुए ही तुम समाप्त नहीं हो सकोगे अरुण भैया !'

अरुण ने चाहा कि हँस पड़े किन्तु हँस नहीं सका । मंजुला को स्मरण हो आया कि उसने एक दिन मृदुला से कहा था—'मृदुला ! मेरे भैया कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं···उनका हृदय तो महात्मा बुद्ध की भाँति पर दुःखकातर रहा करता है । तुम देख लेना वह एक दिन कुछ-न-कुछ कर दिखायेंगे ।' और फिर मृदुला ने हँसते हुए कहा था 'सुन ली री तेरी भैया की स्तुति···किन्तु बाप रे बाप, तेरे भैया की दृष्टि···ओह ! उनकी वे आँखें···' 'तेजस्वी हैं वे आँखें···'

मंजुला ने फिर कहा—'भैया ! तुम्हारी बहन असहाय नहीं है । मैं काम करूँगी । तुम्हारे लिए भार-स्वरूप नहीं रहूँगी किन्तु तुम किसी दिन भी···' माँ आ गई थी···बात अधूरी ही रह गई किन्तु अरुण का मुख

उदास ही बना रहा। माँ ने दोनों की ओर देख कर इतना ही कहा—अरुण कुछ उपाय तो सोचना ही होगा, बेटा! बेटी सदा तो किसी के घर ही नहीं है। न हो तो कहीं और ही देखो। पत्री तो कई जगह जा चुकी है।' अरुण के कानों में गूँज रहे थे बहन के शब्द···उनकी दृढ़ता और उनमें गूँजने वाली ध्वनि···

मंजुला सोच रही थी···विवाह···विवाह करना ही होगा ··घर-बार बेच कर करना ही होगा···क्यों? किस लिए?? और फिर मोटर ··मोटर की चाह···न जाने क्यों मंजुला के मन में एक क्षण के लिए गूँज उठा··· मृदुला के पिता के पास तो चार मोटरकारें हैं···और वह स्वयं झेंप गई···नहीं···नहीं···वह कुछ उपयोगी कार्य करेगी···उसने दो-तीन पत्रिकाओं में लेख भेजे थे ··दो में तो प्रकाशित भी हो गए थे किन्तु इससे अधिक और नवीन लेखकों को मिल भी क्या सकता है परन्तु मंजुला तो कुछ काम सोचेगी ही।

मंजुला की सारी रात इसी उलझन में बीत गई कि वह क्या काम करे और उसकी माता को स्वप्न में भी उसके विवाह के विधि-विधान ही दिखाई देते रहे। केवल अरुण शान्त था और था निर्द्वन्द्व···अपेक्षाकृत मौन और तनिक-सा चिन्तित···

१०

'ओह, गिरिजा! कितने बदल गये हो तुम।' 'और तुम नहीं बदल गये नेताजी।' दोनों हँस पड़े। 'किन्तु यह क्या? अरुण। यार! आखिर तुम भी क्लर्क ही हो गये क्या?'

अरुण में आत्मसंयम की अद्भुत शक्ति थी। उसके बाल्यकाल के मित्र गिरिजा शंकर ने अचानक मिल कर उसकी सब से अधिक दुखती हुई नस पर हाथ रख दिया था किन्तु अरुण पी गया। उसने मामूली-से स्वर में ही उत्तर दिया—'अरे भाई! यह संसार है। यहाँ कब क्या सम्भव

ो जाता है यह कोई नहीं कह सकता । मानव तो तिनका मात्र ही है। हाँ वायु उड़ा कर ले जायेगी और ले जाकर छोड़ देगी वहीं उसे चला ाना और पड़ा रहना पड़ेगा ।'

'यह कहाँ की फिलासफी ले बैठे ? भाई ! चलो किसी रेस्टोराँ में चल र चाय तो पी जाय ।'

'नहीं, घर चलो, वहीं चाय पियेंगे ।'

'चलो ।' दोनों घर की ओर चल दिए ।

गिरिजा शंकर के पिता धनी व्यक्ति थे । गिरिजा शंकर उनकी तीसरी संतान थी । पहली पत्नी से एक पुत्र और दूसरी से एक कन्या तथा गिरिजा शंकर थे । दो पत्नियों की मृत्यु के उपरान्त तीसरी पत्नी के आ ाने तक उनकी अवस्था भी अधिक हो गई थी और स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगा था । परिणामस्वरूप वह क्रोधी, चिड़चिड़े और संशयी हो गये थे । विमाता का स्वभाव बुरा नहीं था किन्तु अस्वाभाविक परिस्थितियों ने उसे अपने तथा घर के प्रति भयंकर रूप से उदासीन कर दिया था । अतः बचपन से ही गिरिजाशंकर का घर से कुछ विशेष लगाव नहीं था । बच-पन में वह अनेक बार अरुण के साथ उसके घर आकर लड़-झगड़ कर खा-पीकर रूठमन कर वहीं सो जाया करता था । पड़ोसी होने के नाते कभी-कभी स्वयं आकर और कभी नौकर भेज कर विमाता ही उसे रात अधिक होने पर बुलवा लेती थी । यह बातें आठ-दस वर्ष से भी अधिक पुरानी हैं और फिर एक दिन युवती पत्नी की सिसकियों के बीच गिरिजा शंकर के पिता ने प्राण त्याग दिए । उस दिन गिरिजा कितना रोया था । अरुण के पिता ने तब उसे अंक में लेकर कहा था—'बेटा ! धैर्य धरो । हम सब तो हैं ।' किन्तु वे हम सब वहीं रह गये और गिरिजा को विमाता के साथ उनके मायके जाकर कुछ दिन रहना पड़ा । बड़े पुत्र की माँ से किसी दिन भी नहीं पटी थी । वह पिता के जीवनकाल में ही अपने परिवार के साथ दूसरे घर में रहते थे । पिता की मृत्यु के उपरान्त पुराना

घर बेच दिया गया। बड़े भाई अपने घर चले गये और आभूषण तथा तीस हजार नकद रुपया लेकर विमाता मायके चली गई। गिरिजा शंकर उनके साथ ही चला गया। गिरिजा शंकर को भी तीस हजार रुपये और एक मकान मिला था। उस समय वह नवीं कक्षा में पढ़ता था। उसके रुपये बड़े भाई के ही पास रहे और यह निश्चित हुआ कि कुछ दिन माँ के साथ रह कर गिरिजा बड़े भाई के पास लौट आयेगा। गिरिजा की बहन रोती-चिल्लाती ससुराल चली गई थी। अरुण को एक-एक करके वे सब ही दृश्य स्मरण आने लगे। कैसे उन दोनों ने गले मिल कर यह निश्चय किया था कि वे दोनों सगे भाइयों की भाँति जीवनयापन करेंगे, देश सेवा करेंगे और न जाने क्या-क्या करेंगे। कभी-कभी उनके बीच कहीं मंजु भी अपना स्थान बना लिया करती थी। अरुण से डाट-फटकार खाकर मंजु को तुरन्त ही अपना सहायक गिरिजा शंकर मिल जाया करता था। एक दिन तो गिरिजा और मंजु ने अरुण से इस बात पर खुट्टी कर ली थी कि वह मंजु को खेल में सम्मिलित नहीं होने देता था। अरुण की आँखें भर आईं। गिरिजा ने भी तरल स्वर में कहा—'अम्मा, बाबू सब लोग अच्छे तो हैं, अरुण !'

'एक लम्बी कहानी है, भाई। तुम तो आज सात साल बाद दिखाई दिए हो। अब धीरे-धीरे सब सुन लेना। बाबू को तो फालिज हो गया है।'

'हैं।' आश्चर्य से गिरिजा ने कहा किन्तु साथ-ही-साथ कहता गया—'दुनिया बदल जाती है भाई सात साल में···माँ की मृत्यु हो गई···'

'क्या हो गया था उन्हें ?'

'आत्मघात कर लिया !'

'ओह !' अरुण के मस्तिष्क में रधिया की प्रतिमा एक बार घूम गई। 'सब कुछ सुनाऊँगा, अरुण ! इधर दो वर्ष तो मैंने बहुत ही बुरी तरह काटे हैं किन्तु जैसी भगवान की इच्छा, भाई !'

'भगवान ! भगवान !! यह सब भी क्या भगवान के काम हैं गिरिजा ?'

'और क्या किसी के हाथ की बात है ?'

उसने प्रश्न किया। 'यह है सामाजिक व्यवस्था के वे छिद्र जो युग-युगों से धीरे-धीरे बनते आ रहे थे और आज इतने बड़े और कँटीले हो गए हैं कि उनमें से होकर समाज की सुख और शान्ति बहती जा रही है। और उस समय तक बहती जायगी जब तक कि सामाजिक व्यवस्था की पुरातन जीर्ण-शीर्ण सीमाएँ गिरा कर उनके स्थान पर नवीन की सृष्टि नहीं हो जाती।' अरुण का स्वर जल रहा था।

'एकबारगी ढा कर, विध्वन्स करके नवीन की सृष्टि की जायेगी ? क्या उन छिद्रों की मरम्मत नहीं की जा सकती है ?' 'भाई मेरे ! पुरातन में युगों की आस्था तो है किन्तु चलते रहने की इच्छा चुक गई है। उस भस्मावशेष को लेकर रोया तो जा सकता है जिया नहीं जा सकता।'

'किन्तु उसका युगों का अस्तित्व फूँक से उड़ाया जा सकता है।'

'शायद नहीं क्योंकि उससे स्थिति का बल तो अवश्य है किन्तु चलते-चलते उनकी रेखाएँ घिस गई हैं···मार्ग खोजने की शक्ति का सर्वथा ह्रास हो चुका है···बने-बनाये···बँधे-सधे मार्ग पर चलते-चलते पैर इतने अधिक अभ्यस्त हो चुके हैं कि उस मार्ग पर भले ही गढ़े पड़ गये हों, कीचड़ भर गई हो, उन्हीं पर चलते जाते हैं, उसमें खोज करने का कष्ट करने की क्षमता तो नहीं ही है किन्तु है कायरता···एक प्रकार का अव-साद···आलस्य और अकर्मण्यता···नवीन की खोज में हैं कष्ट करके खोजने की पीड़ा···उत्तेजना स्फूर्ति और प्रचलन के विरुद्ध दिशा में चलने से उत्पन्न विरोधजन्य संघर्ष···अनजानी राह की ओर बढ़ने में संशय··· असफलता और तज्जन्य घबराहट···अतः अब और कुछ नहीं बन पाता है तो मरम्मत के नाम पर ले बैठते हैं अन्य संस्कृतियों की प्रतिलिपियाँ और गले के स्वर की अन्तिम सीमाओं तक पहुँच कर कह उठते हैं उसी

को नवीन···मौलिक···किन्तु वह तो है अन्य संस्कृतियों का उच्छिष्ट मात्र··· उसमें नवीनता है ही कहाँ···कहाँ है उसमें जीवन शक्ति ।'

'हो सकता है उसमें मौलिकता हो ?'

'उसमें ? उसमें मौलिकता कहाँ है ? मौलिकता का अर्थ सर्वथा अन-जान···अनदेखा ही तो नहीं है किन्तु खोज में ही तो मौलिकता निहित है। प्रतिलिपियाँ छोड़ कर आदर्श की खोज करो···और आदर्श से मेरा तात्पर्य सर्वथा नवीन से नहीं है, है शिव, सत्य एवं सुन्दर से।'

'किन्तु सत्य का स्वरूप तो सदा सर्वदा एक ही-सा रहेगा।' 'सत्य हाँ यदि सत्य की प्राप्ति हो गई हो तो सदा सर्वदा उसके एक से ही रहने की सम्भावना हो सकती है किन्तु निरुपाय मानव को एकबारगी किसी भी जड़-व्यवस्था में जीवन पर्यन्त बाँध देना ही क्या सत्य है·· '

'यदि व्यवस्था न रही तो काम चलेगा भी कैसे ?' 'व्यवस्था के अभाव की ही वकालत करना मुझे अभीष्ट नहीं है किन्तु जड़-व्यवस्था जो अधिकांश मानव को मानव न समझ कर जड़-वस्तु मात्र ही समझती हो··· जिसमें प्रत्येक मानव का निजी महत्व कुछ भी न होकर···महत्व हो उसके मान-सम्मान, पद-मर्यादा, धन-वैभव, सत्ता-अधिकार आदि का, वह तो मानव के लिए हितकर नहीं हो सकेगी···

'अरे यार तू तो पूरा लैक्चरार हो गया है···खैर, अब तो मैं यहाँ हूँ ही। रोज खूब छना करेगी। क्यों भाई सच बता क्या बन गया है कलर्क अथवा वकील ?' 'अभी तो कलर्क ही हूँ।' अरुण के स्वर में इतनी अधिक कटुता थी कि गिरिजा शंकर प्रायः चौंक उठा।

'और मैं क्या करता हूँ जानता है ?

'नहीं तो।'

'तूने तो यार पूछा भी नहीं।'

'तू ही बता दे।'

गिरिजा शंकर ने अरुण के कान के पास मुख ले जाकर धीरे से कहा—'नेतागीरी' और स्वयं ही खिलखिला कर हँस पड़ा ।

'यह भी कोई पेशा है ।'

'यह सर्वोत्तम कार्य है, मेरे भाई ।'

'सच ! विश्वास नहीं होता ।'

'विश्वास क्यों नहीं होता ? मोटा-ताजा शरीर स्वच्छ कपड़े और फिर भी व्यवसायरहित हूँ ।'

'सो तो देख ही रहा हूँ ।' अरुण ने एक हल्की-सी दृष्टि गिरिजा शंकर के श्वेत वस्त्रों पर डाली और साथ-ही-साथ उसे अपनी तीन स्थानों से फटी मैली कमीज का ध्यान आ गया जो कि कोट के नीचे छिपी हुई थी । कुछ सोच कर गिरिजा शंकर ने कहा—'अब तो यहाँ आ ही गया हूँ । देखूँ शायद तेरे लिए भी कुछ कर सकूँ ।' अरुण का मन वृथा अभिमान से भर उठा किन्तु उसने कुछ कहा नहीं । घर भी पास ही था । गिरिजा ने कहा—'अरुण माँ को बताना नहीं । उन्हें जरा तंग करूँगा । भला मंजु तो यहाँ होगी नहीं ।' 'यहीं है ।' कहकर अरुण को उन दिनों का ध्यान हो आया जब कि गिरिजा उनके घर आश्रय पाने आया करता था । आज वही गिरिजा उसके लिए कुछ करने का विचार रखता है, वही गिरिजा जो कि तीन बार प्रयत्न करके भी दसवीं की परीक्षा उत्तीर्ण नहीं कर पाया । वही गिरिजा, जिसे सब ही लड़के कक्षा में बुद्धू समझ कर छेड़ा करते थे, अरुण के लिए कुछ करेगा उस अरुण के लिए जिसने कक्षा में कभी द्वितीय आना भी नहीं जाना था···जिसके लेखों पर प्रोफेसर भी मुग्ध हो जाया करते थे···जिसके शब्दों में श्रोताओं को अनन्त शक्ति जान पड़ती थी···जिसके विचारों के प्रशंसक विश्वविद्यालय के सब ही व्यक्ति थे··· अरुण ने चाहा कि परिस्थिति पर हँस दे, किन्तु वह हँस नहीं सका···उसका जी चाहा कि इन विषमताओं पर रो दे किन्तु रो भी तो न सका, उसने चाहा कि गिरिजा से स्पष्ट कह दे कि उसे उसकी कृपा की आवश्यकता नहीं

है, बिल्कुल ही नहीं किन्तु वह भी तो उससे नहीं हो सका। खुले द्वार से दोनों आँगन में आ गए। बरामदे के किनारे साइकिल खड़ी करके अरुण तख्त पर बैठ गया और जूते उतार कर गिरिजा रसोई घर में माँ के पास चला गया। जलते हुए चूल्हे पर दाल चढ़ी हुई थी। दाल का पानी उबल-उबल कर पतीली के चारों ओर जमता-सा जा रहा था। अग्नि की उठती हुई लपटों में यशोदा देवी न जाने क्या देख रही थी। इधर कुछ ही दिनों में शोक, चिन्ता और कार्य-भार ने उनकी अवस्था लगभग दस वर्ष अधिक कर दी थी। आँखों के नीचे काले धब्बे पड़ गये थे। बाल आधे से अधिक श्वेत हो गए थे। स्वभाव में से संयम का अंश भी निकल-सा गया था। अचानक ज्यों ही उनकी दृष्टि चूल्हे में लपलपाती हुई अग्नि से उठी उन्होंने सम्मुख द्वार के निकट ही एक नवयुवक को श्वेत वस्त्रों में खड़ा देखा, बाल कायदे से बने थे और चेहरे की मुस्कराहट से उन्हें ऐसा जान पड़ा कि अचानक किसी देवदूत ने उनकी मंजु के लिए उनके द्वार पर ही वर को ला खड़ा किया है। क्षण भर बाद ही वह चौंक पड़ी। किन्तु युवक बिलकुल चुपचाप था। उनकी दृष्टि अपनी ओर फिरती देख कर वह बोल उठा—माँ! खाना तो खिलाओगी ही। जलपान नहीं दोगी क्या? मंजु कहाँ है? कहो न उसे, आकर जरा चाय तो बनाए।' अचकचा कर माँ के मुख से चीख निकलते-निकलते बची। उन्होंने घबराकर कहा—'तुम कौन हो भैया?' 'वाह-वाह माँ तो भूल गई। अरुण देख तो सही यहाँ क्या तमाशा हो रहा है। माँ तो मुझे पहचानती तक नहीं है।' कण्ठ-स्वर कुछ-कुछ परिचित-सा जान पड़ा। तब तक अरुण भी रसोई घर के द्वार पर आकर खड़ा हो गया था। उसने हँसकर कहा—'यह इसके लिए कोई नई बात तो है नहीं माँ। बचपन में भी तो तुम्हें खिझाया ही करता था। और अपने गिरिजा को भी भूल गई तुम माँ।'

माँ को साँस लौट आती-सी जान पड़ी। 'ओह! यह तो इतना बड़ा हो गया है। मैंने तो भला इतना-सा देखा था सो अब इसे कैसे पहचानती।

अरे न चिट्ठी न पत्री एकदम रसोईघर में आ धमका तो कैसे पहचानँ भला। तूने भी तो नहीं बताया अरुण कि गिरिजा आने वाला है।' 'मुझे ही कौन-सा मालूम था, माँ ! यह तो आज बाजार में अचानक दिखाई पड़ गया।'

'अच्छा तू ही पकड़ लाया है इसे ?'

'नहीं माँ ! मैंने ही अरुण को पकड़ा है। यह तो पहचान भी नहीं रहा था।'

'अच्छा-अच्छा अब बैठ तो सही। मंजुला ओ मंजुला ! देख तो सही कौन आया है।'

'अच्छा तो गिरिजा भाई आए हैं।' कहती हुई मंजुला सामने आकर खड़ी हो गई।

गिरिजा शंकर ने जब मंजुला को देखा था तब वह छोटी-सी लड़की थी। आज इस पूरी लम्बाई पर तन कर खड़ी हुई दुबली, तनिक चिन्तित किन्तु तेजस्विनी युवती को देख कर गिरिजा शंकर को जान पड़ा कि यह वही नन्हीं मुनिया नहीं है जिसके कानों को ऐंठने से बचाने के लिए वह जब-तब अरुण से भिड़ जाया करता था। अधमैली साधारण-सी किनारी की तनिक पुरानी धोती में मंजुला सिमटी-सिमटाई-सी गिरिजा शंकर को प्रणाम करके तखत के एक किनारे पर बैठ गई।

'कितना पढ़ लिया मुनिया ?' गिरिजा मंजुला को बचपन से मुनिया ही कहा करता था।

'एम० ए० की परीक्षा देने का विचार है।'

'ओह ! तब तो तुम एकदम विदुषी हो गई हो। यहाँ तो एन्ट्रेन्स में ही से एण्ट्रेन्स का कार्ड समाप्त कर बैठे हैं किन्तु जानती हो मुनिया मैं एक डिग्री कालेज का सेक्रेटरी हूँ।'

'तब तो कालेज चल चुका गिरिजा भाई।'

'खूब चलता है मुनियाँ। बड़े-बड़े एम० ए०, अरे क्या कहूँ जो मेरी

स्तुति करना आरम्भ करते हैं तो सचमुच जान पड़ता है कि मैं ही विश्व का सब से बड़ा विद्वान हूँ।' कह कर वह स्वयं ही हो-हो करके हँस पड़ा। अरुण के मुख पर एक व्यंग्यभरी कुटिल मुस्कान बिखर गई किन्तु मंजुला तुरन्त उठ खड़ी हुई। 'अच्छा तो तुम्हारे लिए चाय बना लाऊँ। भैया आज तो तुम भी पी लो।' अरुण ने इधर कुछ दिनों से चाय पीना भी छोड़ दिया था। कहता था—'संध्या को ही भोजन बना दिया करो। व्यर्थ में जलपान करने से लाभ ही क्या होता है। कुछ बचत ही होगी।'

मंजुला चली गई थी। माँ भी रसोईघर में चली गई थी।

'ठहरे कहाँ हो गिरिजा ?'

'क्यों ! काउन्सलर्स रेजीडेन्स में मेरे लिये स्थान की कमी है क्या ? यों तो किसी मिनिस्टर के घर भी ठहर सकता था किन्तु भाई अपना प्रबन्ध ही ठीक रहता है। समझे।'

'तब क्या एम० एल० ए० हो गए हो ?'

'नहीं भाई, अभी तो काउन्सिल का ही मेम्बर हो पाया हूँ किन्तु दूसरी चीज भी कुछ ऐसी कठिन नहीं है।'

'यार ! बाजी मार ले गए तुम तो सबसे।'

'अरे भाई देखते जाओ क्या-क्या रंग खिलाता हूँ।'

'क्यों कुछ और भी गुल खिलाने का इरादा है ?'

'और नहीं तो क्या एम० एल० सी० बना रहने के लिये ही यहाँ दौड़ कर आया हूँ। देखते जाओ अगले एलेक्शन के बाद तुम्हारा गिरिजा मिनिस्टर नहीं तो डिप्टी मिनिस्टर तो जरूर ही हो जायगा ?' बड़ी देर तक दोनों मित्र बातचीत करते रहे।

'आओ, भाई ! भीतर चले आओ।'

स्वर में मिठास तो थी ही, रंगीनी भी थी।

आगंतुक का सारा शरीर संकोच से भर उठा। बहुमूल्य ईरानी कालीन पर उसे जान पड़ा कि उसके पैर पड़ ही नहीं सकेंगे। किसी तिलिस्म के विचित्र द्वार के अचानक खुल जाने पर जैसे कोई साधरण मानव भौचक्का हो जाता है ठीक उसी प्रकार भौचक्का-सा आगन्तुक द्वार पर ही खड़ा रहा। भीतर जाने का जैसे साहस ही जुटा नहीं पा रहा हो।

'भीतर चले आओ न।' स्वर फिर से गूँज उठा। इस बार उसमें तनिक-सी व्यंग्यात्मक ध्वनि भी मिली-जुली-सी थी। आगन्तुक धीरे-धीरे गिन-गिन कर पैर रखते हुए ईरानी कालीन के आधे भाग को जैसे-तैसे पार कर गया। कमरा बहुत ही कलात्मक ढंग से सजाया गया था। ठीक बीचो-बीच से कुछ पीछे एक बड़ा-सा स्प्रिंगदार पलँग रखा था जिसके पैरों और पहियों पर बढ़िया खुदाई का काम देखते ही बनता था। उस पर बढ़िया रेशमी दुलाई का आधा भाग उसके शरीर पर पड़ा था और आधा पलङ्ग से नीचे की ओर लटक रहा था। पूरे कमरे में बढ़िया ईरानी कालीन बिछा हुआ था और हाथी दन्त के काम की छोटी-सी मेज बीच में रखी थी। बहुमूल्य सोफा सेट अत्यन्त कलापूर्ण चित्त और अन्य तरह-तरह की बहुमूल्य वस्तुओं से कमरा भरा हुआ था। पलँग पर लेटे व्यक्ति की आँखें गुड़हल के फूल की तरह लाल हो रही थीं और सिर के बाल उलझे हुए थे। आगन्तुक कुछ चकित हो रहा था। उसके मुख पर घबराहट के चिह्न स्पष्ट थे और जान पड़ता था कि वह इस प्रकार के वातावरण में आने को तत्पर भी नहीं था और उसका अभ्यस्त भी नहीं है। साधारणतया उसे इस प्रकार के स्थान सम्भवतः देखने को भी न मिले होंगे। फिर भी वह युवक है। सुशिक्षित भी जान पड़ता है। हो सकता है कि उसकी शिक्षा अधिक न हुई हो किन्तु अशिक्षित तो वह हो ही नहीं सकता। आगन्तुक धीरे से आकर सोफे के पास कुर्सी का हत्था पकड़ कर खड़ा हो गया।

'बैठो, बैठ जाओ न।' युवक आगन्तुक किसी प्रकार बैठ तो गया

किन्तु उसके मुख पर संकोच के चिह्न स्पष्ट ही दिखाई दे रहे थे। इसी समय चमचमाती वर्दीधारी बेयरा ने कुँवर के सम्मुख एक छोटी-सी मेज रख कर उस पर चाय की ट्रे रख दी। कुँवर ने सस्नेह युवक आगन्तुक से कहा—'आओ, इधर आ जाओ। चाय तो पी लो।' आगन्तुक मन ही मन भयभीत हो रहा था कि न जाने क्यों यह शराबी, उन्मादी, सनकी कुँवर उस पर दयालु हो रहा है। अभी उसी दिन तो इसने शराब की झोंक में नौकर को चाय ठीक न बनाने पर बेंत से पिटवाया था····· अभी···उसी दिन सुना है कि इसने नौकर के नन्हें बच्चे को बड़ी जोर से केवल इसीलिए थप्पड़ जड़ दिया था कि उसने गुलाब की रविश से कुछ फूल तोड़ लिए थे। और···और···वह तो उसकी मिल के मजदूरों को भड़काता है। उसमें साम्यवाद का प्रचार करता है फिर वह इसके साथ इतना स्नेह क्यों दिखा रहा है। अकारण ही युवक का मन तिक्त हो उठा··· उसका श्वास विषैले वातावरण में घुटने-सा लगा·····उसके समस्त शरीर का रक्त माथे में आ-आकर जमा होने लगा·····वह पछताया कि वहाँ वह आया ही क्यों? कुँवर ने चाय का प्याला उसकी ओर बढ़ा दिया और उसने यन्त्रवत प्याला ले लिया।

'दोस्त! मैं बुरा हूँ तो हुआ करूँ···यह चाय का प्याला खूब गरम-गरम है···खूब अच्छा है। है न' और स्वयं ही खिलखिला कर हँस पड़ा।

युवक के मन में आया कि उठ कर चाय का गरम प्याला कुँवर के प्रियदर्शी मुख पर दे मारे। उसने धीरे से प्याला ले लिया। चुपचाप दोनों ने अपने-अपने प्याले को होठों से लगाया।

'अच्छा सुनो दोस्त! कल रात को तुम्हारा भाषण सुना था। बहुत ही अधिक पसन्द आया—सोचा कि ऐसे अनुभवी···स्पष्टवादी व्यक्ति से मित्रता ही की जाए किन्तु यह नहीं जानता था कि तुम्हारे यहाँ प्रातःकाल आठ बजे ही हो जाता है अन्यथा तुम्हें सन्ध्या को ही बुलाता पर क्या

करूँ सन्ध्या समय तो मैं घर में रह ही नहीं सकता हूँ और जहाँ जाता हूँ वहाँ के नाम पर शायद ही तुम्हारा मुख सिकुड़े बिना रह सके, गोकि मेरे प्यारे दोस्त ! मैं वहाँ जाये बगैर रह ही नहीं सकता हूँ।' युवक यह भी नहीं समझ पाया कि उनमें व्यंग्य है अथवा सरलता। फिर भी वह चुप ही रहा। फिर दूसरे प्याले भरे गए। दोनों के हाथों में पहुँचे और फिर कुँवर ने कहा—'भाई तुम्हारे अनुभव भी खूब हैं·····क्या एक-एक अनुभव सुना रहे थे रईसों की सोहबत के। मानता हूँ, भाई तुम्हें·· ··· सचमुच···' और वह हँसने लगा। 'जिन्दगी ! भाई जिन्दगी तो योरुप में है, वहाँ है जहाँ कि·····अच्छा···जाने दो·····आज हम दोस्त बन गए न ?'

इस बार युवक ने धीरे से कहा—'पूँजीपति और मजदूरों की मित्रता भी कोई मित्रता होती है कुँवर साहब।'

जान पड़ता कि शब्दों में ज्वालामुखी गूँज रहे थे। माथे पर पड़ती हुई सुकड़नों को रोकते हुए-से कुँवर कहने लगे।

'क्या कही है भाई। कमाल कर दिया; किन्तु मैं तो इस समय पूँजी नहीं पी रहा हूँ। पी रहा हूँ केवल चाय और तुम भी चाय ही पी रहे हो। इस समय अन्तर का ध्यान कहाँ से आ गया ?' और वह अकारण ही हँस पड़े। 'वह अन्तर है, इसीलिए तो उसे भुला नहीं पाता हूँ और वह मिट नहीं पाता है कुँवर साहब ··' 'तुम कहते तो यार पते की बात हो, किन्तु इस समय तो मैंने तुम्हें यह सब कहने के लिए ही बुलाया है····· जानते हो इस इलाके में, जनविहीन बस्ती में केवल एक खड़ी है मेरी शुगर मिल और फैले हैं दूर तक गाँव, हरियाली और भोले-भाले ग्राम-वासी। कई दिन से इन्हीं लोगों की मीठी-मीठी बातें सुनते-सुनते ऊब गया था, तब ही कल सुनी तुम्हारी वाणी और बस जान पड़ा कि इन्हीं स्वरों को सुन पाने के लिए मैं व्याकुल था·····सचमुच सरकार हुजूर सुनते-सुनते कान थक गये·····सोचा कि कहीं से एक ऐसा आदमी पकड़

लाऊ जो इन शब्दों के अतिरिक्त भी कुछ कह सके·····तो वही कहो··· मित्र·····' 'सरकार हूजूर यही शब्द तो आप लोग सुनना भी चाहते हैं कुँवर साहब।' जलन कुछ कम-सी हो गई थी शब्दों में।

'यही तो तुम लोग भूल करते हो। अन्तर में उतर कर देखे बिना ही तुम लोग धारणायें बना लेते हो···और फिर उन्हीं धारणाओं को यथार्थ मानकर उन लोगों की जीवन-गाथाएँ लिखने बैठ जाते हो जिनसे तुम्हारा परिचय नहीं के बराबर ही होता है। हम पशु हैं·· ···हृदयहीन हैं····· मानवता के शत्रु हैं···तब आओ न मेरे भाई···हमें बनाओ मनुष्य····· हृदयवान·····मानव के मित्र···भागते क्यों हो हमसे और·····और अच्छा जाने दो···लो यह पकौड़े गरम-गरम·····जानता था कि तुम··· कीमा नहीं खाओगे किन्तु यह तो आलू के ही हैं···लो···लो एक और' नौकर के हाथ से तश्तरी लेकर कुँवर ने बरबस युवक की प्लेट में दो-तीन पकौड़े डाल दिए। युवक के प्राण सूख रहे थे किन्तु वह कुछ कह भी तो नहीं पाता था।

'सुनो! तुमने सोचा होगा कि मैं तुम्हें बुलाकर कल रात के भीषण भाषण के लिए धमकाऊँगा, डराऊँगा। पर नहीं मेरे मित्र तुम खूब भाषण दो·····प्रति दिन दो और मैं तुम्हें अवसर दूँगा पूँजीपतियों को जानने का पहचानने का, उनको, जिनमें मनुष्य भी हैं और हृदयवान भी और फिर तुम उन्हें जान-समझकर भरना अपनी भाषा में चमत्कार···दो-चार दिन में मैं यहाँ से चला जाऊँगा किन्तु जितने दिन मैं यहाँ हूँ तुम आया करो···भाई···'

युवक को लगा कि अन्त तक पहुँचते-पहुँचते कुँवर का स्वर गीला हो उठा था।

'आखिर आप चाहते क्या हैं?' युवक के स्वर में तनिक झुँझलाहट थी। शायद कुँवर को यह अच्छा लगा। 'तुम्हें···' इतना ही कहकर कुँवर हँस पड़ा। युवक भी कुछ गम्भीरता से मुस्करा दिया।

'सुनो, तुम्हारा नाम शायद अरुण कुमार है न ? मैं तो अरुण ही कहूँगा। हाँ तो तुमने एम० ए० पास किया है···अच्छा तो है·····मैं भी कुछ सीख सकूँगा किन्तु तुम्हारे भारी-भारी उपदेश तो मुझसे निगले नहीं जायेंगे। मुझे तो मित्र छोटी-छोटी पुड़ियाँ ही देते रहना।' 'अच्छा, तो अब मुझे आज्ञा दीजिए।'

'आज्ञा···आज्ञा तो सब ही को देता हूँ···तुम भी मुझसे आज्ञा ही लोगे भाई···नहीं, नहीं तुम इसके अतिरिक्त कुछ और ही चाहो···फिर आना···कल दोपहर को आना। आओगे ना ?'

अरुण का सुसंस्कृत, सभ्य, शिक्षित मन मचल उठा यह कहने के लिए कि तुम्हारे निकट फिर न आना पड़े ऐसा उपाय ही करूँगा किन्तु अचानक ही उस स्नेहसिक्त स्वर के उत्तर में वह कह उठा—'अवश्य ही आऊँगा।'

'तब तो जी गया मैं इस जङ्गल में···न जाने क्यों संगी-साथीविहीन मेरा मन इस जङ्गल में लगता ही नहीं था।'

'इतने अनुचरों के बीच भी आपका जी नहीं लगता है आश्चर्य है।' अरुण के स्वर में इस बार कुछ सहानुभूति भी थी और कुछ उस व्यक्ति को समझ पाने की इच्छा भी।

'यह सब तुम नहीं समझ सकोगे·····तुम समझते हो हमारे वैभव की विचित्र काल्पनिक गाथाएँ···तुम जान पाते हो हमारी हृदयहीनता की विभिन्न कथाएँ किन्तु कैसे जानोगे तुम हमारी हृदयशून्यता जनाकीर्ण होते हुए भी एकान्त भयावह शून्यता·····अकेलापन···जाने दो·····यह अब तुम्हारी सहानुभूति प्राप्त करने के लिए नहीं कह रहा हूँ···कह रहा हूँ केवल तुम्हारा स्नेह प्राप्त करने के लिए·····किन्तु·····किन्तु···अच्छा शेष फिर·····'

अरुण उठ खड़ा हुआ। नमस्ते करके वह बाहर आ गया। कमरे के बाहर होते ही उसे जान पड़ा कि कमरे के भीतर का जीव सचमुच उससे

भिन्न जाति का है किन्तु सम्भवतः उससे भी अधिक निरुपाय, उससे भी अधिक अशान्त, उससे भी अधिक दुःखी, उससे भी अधिक विचित्र और उससे भी अधिक दुरूह···उसका जी चाहा कि वह लौट कर कुँवर से कह दे कि वह भी उस ही जाति का है·····उस जैसा ही है किन्तु पैर आगे ही बढ़ते गए।

अरुण ने सुना था कि कुँवर वीरेश्वर प्रताप सिंह के पिता किसी छोटी-मोटी रियासत के स्वामी थे। उनकी माता अत्यन्त तेजस्विनी और स्वाभिमानिनी महिला थीं। उनके पिता ने रियासत के काम-काज के अतिरिक्त व्यापार में भी धन लगाया था और जमीन्दारी उन्मूलन के दिनों में भी उनके लिए चिन्ता का तनिक भी कारण न रहे इसका उपाय उनके पिता वर्षों पूर्व ही कर गए थे। उनकी माता उनके पिता की प्रथम स्त्री थीं और दूसरे विवाह के पूर्व ही वह उसका आभास मात्र ही पाकर अपने नन्हें से बच्चे को लेकर पितृगृह में जाकर रहने लगी थी। सुना जाता है कि पति के दूसरे विवाह का समाचार सुनने के उपरान्त उन्होंने कभी माँग में सिन्दूर भी नहीं लगाया।

स्वामी पत्नी को धन-कष्ट नहीं देना चाहते थे किन्तु मानिनी कुछ भी स्वीकार करने को तत्पर न थी। राजा साहब ने दूसरी ही नहीं तीसरी बार भी विवाह किया और संसार भी त्याग दिया। पति की मृत्यु के उपरान्त उनकी माता ससुराल में आ गई और फिर उन्होंने एक दिन के लिए भी ससुराल नहीं छोड़ा। कुँवर साहब को उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए यूरोप भेजा गया। उनकी दोनों सौतेली बहनों का धूमधाम से विवाह किया गया और वे वर्षों योरोप में रह कर लौट भी आए। इसी बीच उनकी माता के शासन की उग्रता भी बढ़ने लगी और उनके विवाह की चर्चा भी होने लगी। कुँवर साहब अपने विचित्र स्वभाव के लिए प्रसिद्ध थे और यह भी निश्चय ही था कि वह स्वयं ही अपने विवाह के लिए कन्या खोज निकालेंगे। माता ने बड़ी कठिनाई से घर और बाहर की व्यवस्था

सम्भाली थी। पुत्र कुछ समझना ही नहीं चाहते थे किन्तु माता सब कुछ समझा देना चाहती थी। सौतेली माताओं का कुँवर पर स्नेह तो था किंतु कठोर अनुशासन में उसका प्रदर्शन कर पाना अत्यन्त कठिन था। अतः वर्षों के पश्चात् स्वदेश लौट कर भी कुँअर को जान पड़ता था कि स्वदेश की अपेक्षा विदेश में उनके मित्रों की संख्या कुछ कम नहीं थी। सुधीर ने सोचा कि यह उसी भावना की प्रतिक्रिया है। उसका जी चाहा कि कहे···दुष्ट···नीच···निर्दय···पूँजीपति···किन्तु कह इतना ही पाया··· ओह! कितना दयनीय···कितना···अकेला है यह व्यक्ति···इस जनाकीर्ण विश्व में···और वह स्वयं ही झेंप उठा अपनी विचित्र-सी उक्ति पर··· यद्यपि उसे लगा कि उसकी वह उक्ति सत्य के कुछ अधिक निकट है··· कुँवर शराब पीता था और जी भर कर पीता था···निर्दय भी था और जी भर कर कठोरता का प्रदर्शन भी करता था किन्तु फिर भी कितना दयनीय था वह स्वयं···

१२

'तब फिर यह क्या है? ईर्ष्या···एकाधिकार···अथवा···अथवा केवल, ···मात्र···नहीं,···नहीं ऐसा कुछ नहीं सोचूँगी···मैं यह सोचूँ ही क्यों?' मृदुला उस दिन बहुत ही अच्छी लग रही थी। मृदुला साधारण बालिकाओं की अपेक्षा अधिक सुन्दर थी। उसकी सुन्दरता में आकर्षण था, सरलता थी और था भोलापन···उस दिन तो वह बहुत ही भली लग रही थी। कुँवर ने उसके निकट आकर धीरे से कहा था—'मृदुला जी! आज तो आप बहुत ही अच्छी लग रही हैं।' और मृदुला को धरती आकाश हिलते हुए से जान पड़े थे। उसने भी धीरे से ही कहा था—'आप भी कैसी बातें करते हैं।' और वह मुस्कुरा दिया था किन्तु यह तो पार्टी आरम्भ होने से पहले की बात थी। उस दिन राजभवन में पार्टी थी और पिता का साथ छोड़ कर मृदुला एक मेज पर ज्यों ही आकर बैठी त्यों ही

कुँवर भी उसी मेज पर आ गये थे । शायद मृदुला को यह अच्छा भी लगा था ।

'आज की पार्टी भी खूब है किन्तु आज···' वह चुप हो गया । रमेश भी आकर उसी मेज पर बैठ गया । कुँवर का सूट बहुत ही बढ़िया कपड़े का, बड़े अच्छे कट का सिला हुआ था । उसके गोरे रंग पर नीली टाई भी बहुत फब रही थी किन्तु वह कुछ उखड़ा-उखड़ा हुआ-सा लग रहा था । रमेश के वस्त्र भी बहुमूल्य थे । वह बार-बार मृदुला की ओर देखने लगता था । उसकी दृष्टि में कुछ अजब-सी आकुलता थी ।

'देखिए मृदुला जी, अब इस बार आप मेरा पिकनिक का निमन्त्रण अस्वीकार न कर सकेंगी ।'

मृदुला का चित्त प्रसन्न था । उसने हँस कर कहा—'रमेश जी ! मैंने कभी किसी दिन आपका निमन्त्रण अस्वीकार किया भी है ?'

'लीजिये आप तो एक ही निमंत्रण स्वीकार करा रहे थे । यहाँ तो सदा सर्वदा सब ही निमन्त्रण स्वीकार करने का मामला बन रहा है ।' तीनों ही मुस्करा कर रह गए । रमेश ने कुटिलतापूर्वक कहा—'सुना है, कुँवर साहब कि आप की शुगर मिल में हड़ताल हो गई थी और आपने ही स्वयं हड़ताली नेता को पुलिस के चंगुल से बचाया ।'

'हाँ हुई तो थी ।'

'किन्तु क्या यह भी सत्य है कि आपने ही स्वयं पुलिस को बुलवाया, सारा झंझट किया और फिर स्वयं नेता को छुड़वा भी दिया ।'

'सत्य तो यही है ।' उत्तर में सरलता-सी थी किन्तु कुँवर ने कुछ अन्यमनस्क-सा होकर कहा ।

'यह सब तमाशा आपने किया ही क्यों ?' रमेश ने हल्की-सी दृष्टि से मृदुला की ओर देखा । मृदुला सुदूर खड़े हुए एक झुण्ड की ओर देख रही थी जैसे इस प्रश्नोत्तर की ओर उसका ध्यान ही नहीं था ।

'यों ही मन में ऐसी ही लहर आ गई ।'

'ओह अपना मन भी विचित्र है।' इस बार मृदुला ने कुँवर की ओर देखते हुए कहा। वह शायद मन ही मन मुस्करा रही थी।

'मृदुला जी! मन होता ही विचित्र है। उसकी गति भी विचित्र है। इसीलिए तो कभी-कभी उसे बरबस व्यवस्थाओं, परम्पराओं आदि में जकड़ कर रखना भी बेकार हो जाता है। और उसकी विचित्रता ही तो उसकी गति है, उसका जीवन है···ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह, बैण्ड की एकरस ध्वनियों की भाँति···रागों को सदा सर्वदा एक ही बने रहने वाले स्वरों की भाँति यदि मानव मन भी नपा-तुला सदा एक मार्ग पर चलता एक ही रसमय हो जाता तो विश्व की संस्कृतियाँ कहाँ जातीं और कहाँ होती कल्पना की मधुर उड़ानें और कहाँ जाती जीवन की विविधताएँ··· रंगीनियाँ···'

'किन्तु मन की गति की सीमाएँ···उसकी परिधि निश्चित किये बिना भी तो काम चल नहीं सकता कुँवर साहब'—'चलता है, खूब चलता है। जहाँ मानव के मन में जीवन शक्ति प्रचुर मात्रा में होती है···जहाँ मन को तन की दासता पर आधारित नहीं रहना पड़ता वहाँ उसकी अपनी ही गति उसे लिए चलती है।' 'मेरी एक सखी कहा करती थी कि स्वयं मार्ग खोज कर उस पर चलना महत्वपूर्ण कार्य है। उसका कहना था कि सब ही बन्धन, बाधाओं, परम्पराओं के बीच···ठीक सुख और दुःख दोनों के ही बीच खड़े होकर भी जो अपना मार्ग स्वयं खोज पाते हैं और फिर उस खोजे हुए पथ पर बढ़ते ही चले जाते हैं उनका महत्व अन्य मानवों से कुछ कम नहीं होता अधिक भले ही हो···आपके मन की विचित्र गति और उसकी मार्ग की खोज बहुत कुछ एक-से स्वरों में ध्वनित होती हुई-सी विचार-धारायें जान पड़ती है कुँवर साहब! किन्तु इन दोनों में जान पड़ता है कि बहुत बड़ा अन्तर है।' 'अन्तर कहाँ है सो मैं नहीं जानता किन्तु मन की गति का आश्रय लेकर ही मानव क्यों न चले, यही मैं नहीं समझ पाता।' कुँवर साहब कुछ दार्शनिक-से होते जा रहे थे। 'मन की

गति की दिशा भी तो कुछ निश्चित नहीं है कुँवर साहब ! एक तो मन स्वयं ही सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक सांस्कृतिक उत्तराधिकार आदि की ही देन है और फिर उसकी गति, उसकी इच्छा अनिच्छा भी तो समाज के ही बीच उत्पन्न होती, पनपती और बढ़ती है···तब फिर उसी का आश्रय लेकर कैसे चला जा सकता है।' रमेश ने गम्भीरतापूर्वक कहा—'यही तो, मैं कह रहा था कि खूब चला जा सकता है। पेरिस की एक ठंडी रात को मेरा जी चाहा कि बाहर जाकर घूमूँ। मेरी एक स्त्री मित्र मेरे साथ थीं। उन्होंने बहुत कुछ समझाया कि यह तुम्हारा देश नहीं है जहाँ तारों की छाँह में, चन्द्रमा की ज्योत्सना में घूमा जाता है किन्तु मन नहीं माना; घूमा और खूब घूमा; और उस समय तक घूमता रहा जब तक कि तन-बदन शीत से जमने-सा नहीं लगा···लौट कर आया तो थक कर लेट रहा···और फिर पन्द्रह दिन तक लेटा ही रहा। बाद में मेरी उसी स्त्री मित्र ने पूछा क्या अब तुम्हें घूमने का पश्चाताप नहीं हो रहा है और सच कहता हूँ मित्र यही मेरे हृदय की बात है कि मुझे पश्चाताप नहीं हुआ।'

'मन की गति ही तो है।' व्यंग्य से रमेश ने कहा। 'सचमुच यह तो एक छोटी-सी बात थी किन्तु जो मन की गति को सुन-समझ नहीं पाते वह तो विश्व में व्यवस्थाओं के कैदी मात्र ही हैं और जो उसे तनिक-सा भी समझ पाते हैं वह वैसा ही करने की चेष्टा करते हैं। अन्तरात्मा को जैसे आत्मा कह देने मात्र से ही मन का गौरव कुछ और अधिक बढ़ जायगा ऐसी बात नहीं है किन्तु सचमुच मन की बात मानने से मन ही बढ़ कर आत्मा बन जाता है।'

'आप सचमुच विचित्र बातें करते हैं, कुँवर साहब।' 'थैंक यू फार दी कॉम्प्लीमेन्ट' कह कर कुँवर साहब जोर से हँस पड़े। आसपास की मेजों के लोगों ने एक बार इनकी ओर देखा और फिर दृष्टियाँ घूम गईं। 'देखिये, यही तो है सामाजिक व्यवस्था जिसमें हम खुल कर हँस भी नहीं सकते और जोर से रो भी नहीं सकते।' क्या कर सकते हैं इसका निश्चय नहीं है

और क्या नहीं कर सकते इसका ज्ञान नहीं है फिर भी इसी सधी-बँधी व्यवस्था के भीतर हमें जीना पड़ता है। सचमुच मेरा तो कभी-कभी दम घुटने लगता है इस सब के बीच।'

'यह है शिष्टाचार। यदि यह भी न रहे तो मानव और पशु में अन्तर ही क्या रह जायगा ?'

'अन्तर रहे ही, ऐसी इच्छा भी क्यों हो ?'

'तो हम पशु हो जायँ ?' आश्चर्य से रमेश ने कहा और सरलता से उत्तर दिया कुँवर ने—'पशु तो हम हैं ही; केवल बुद्धि विशेष है। मैंन इज़ ए रेशनल एनीमल।' रमेश की आश्चर्यचकित मुद्रा को देख कर मृदुला हँस पड़ी। उसे रमेश का इस प्रकार अप्रतिभ होना अच्छा लग रहा था।

'जाने दीजिए। हम भी कौन-सा पचड़ा ले बैठे। कुँवर साहब ने किसी को क्यों फँसाया और क्यों बचाया यही प्रश्न क्या आज सर्वोचित्त महत्वपूर्ण है ?' मृदुला ने समझौते की-सी मुद्रा में कहा। कुँवर ने एक रहस्यमयी मुस्कान से रमेश की ओर देखा और रमेश भी उत्तर में मुस्करा दिया।

'देखिये, आपने पिस्ते की बर्फी तो बिलकुल भी नहीं खाई।' कुँवर ने रमेश की ओर प्लेट बढ़ाते हुए कहा। मन की गति से पिस्ते की बर्फी पर आ जाने वाली अद्भुत क्षमता भी आप में है कुँवर साहब! इसका मुझसे अच्छा साक्षी और कौन होगा।' मृदुला की दृष्टि अत्यन्त कोमल हो उठी थी। इसी समय एकाएक कुँवर ने कुछ दूर मेज पर बैठी हुई एक किशोरी को अपनी ओर ही देखते हुए देख कर कहा—'ओह अंजु भी आई है। क्षमा कीजियेगा मृदुला जी, रमेश भाई, तनिक अंजु से मिल आऊँ।' और कुँवर उठ कर उस मेज की ओर चल दिया। मृदुला ने उधर देखा। किशोरी अत्यन्त सुकुमार और सुन्दरी थी। उसे देख कर ही जान पड़ता था कि चित्त प्रसन्न हो जायगा। सुसंस्कृत वेश-भूषा में वह अत्यन्त

आकर्षक लग रही थी। मृदुला को जाने कैसा लगा। शायद अच्छा नहीं ही लगा।

'यह अंजु कौन है ? मृदुला जी !' तनिक व्यंग्य का पुट देते हुए रमेश ने पूछा। कुँवर का लम्बा दुबला शरीर अभी तक चलता हुआ ही दिखाई दे रहा था। सूर्य की अन्तिम किरणें उसके काले बालों से उलझ-पुलझ रही थीं। 'यहाँ कभी देखा तो नहीं है।' कह कर मृदुला ने दही-बड़े में चम्मच लगाया, जैसे इन सब बातों से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। कुछ ही देर बाद कुँवर उस किशोरी के साथ लौट आया। उसने आकर हँसते हुए कहा—'मृदुला जी ! यह हैं अंजु, मिस अंजना दास गुप्ता। हम लोग कुछ दिन तक साथ-ही-साथ ऑक्सफोर्ड में पढ़े थे; किन्तु अंजु परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए और मैं केवल समय बिताने के लिए।' और उसने स्वयं अकारण ही हो-हो करके हँस दिया। अंजना दास गुप्ता ने कुँवर की रक्षा करने की-सी भावना से कहा—'मृदुला जी, आप इनकी बातों पर न जाइये यह तो यों ही कहते रहते हैं।'

'लीजिए, मेरी बातों का मूल्य तो आपको बता ही दिया गया।'

'अरे आप भी हैं रमेश जी, आपको तो मैंने देखा ही नहीं था।' कह कर अंजना दास गुप्ता ने रमेश से हाथ मिलाया। 'बड़े आदमियों से छुट्टी मिले तभी तो छोटों पर निगाह पड़ेगी।' 'ओह ! तो अब आप छोटे आदमी हो गए हैं। किस दृष्टि से ?' मृदुला ने ध्यान से देखा। अंजना युवती थी किन्तु उसके मुख पर कुछ ऐसा भाव था जो कि उसे एक दृष्टि में देखने पर प्रौढ़ा ही जँचता था। उसका सौंदर्य भी कुछ पास की अपेक्षा दूर से ही अधिक आकर्षक जान पड़ता था। उसके बाल बनाने का ढंग तो आकर्षक था, किन्तु कटे हुए बाल उसे इतने फब नहीं रहे थे। एक ही दृष्टि में मृदुला ने यह सब देख लिया। अभी तक अंजना और कुँवर खड़े ही थे। मृदुला ने एक कुर्सी आगे खिसकाते हुए कहा—'मिस दास गुप्ता बैठिये तो।' जान-बूझ कर उसने अंजना नहीं कहा। अंजना ने हँसकर

कुर्सी को कुछ आगे खिसका कर कहा—'मुझे अंजना ही कहिये मृदुला जी और मैं भी आप को मृदुला ही कहूँगी। इस मिस विस से तो लगता है मानो अपना कोई नाम ही नहीं है। भाई, मुझे तो यह तनिक भी अच्छा नहीं लगता।' अत्यन्त घनिष्ठता और बेतक्कलुफी से अंजना बोली। मृदुला ने देखा कि अंजना के समस्त व्यवहार में कुछ ऐसा माधुर्य है, कुछ ऐसा अपनत्व है जो कि उसे शीघ्र ही किसी के भी अत्यन्त समीप लाकर खड़ा कर देता है। 'अच्छा वही सही किन्तु मैं तो सम्भवतः आपको शीघ्र ही नाम लेकर न पुकार सकूँगी।'

'सकोगी·····क्यों वीरेश्वर ?' अंजना ने इस भाव से कहा मानो इस मामले में कुँवर की सम्मति ही अन्तिम सम्मति होगी और वह उत्तर पाने से पूर्व स्वयं ही हँस पड़ी। मृदुला कुछ देर तक उसकी ओर देखती ही रही। कुँवर के मुख पर प्रसन्नता प्रस्फुटित हो रही थी। मृदुला ने भी यह सब देखा·····वह तनिक संकुचित-सी हो गई। उसे जान पड़ा कि अंजना कुछ अधिक निर्लज्ज है·····कुछ अधिक बरबस सिर पड़ने वाली है और उसका मन चाहा कि वह सहज ही उसे 'नीच' की कोटि में रख दे··· ··क्यों क्या इसीलिए कि वह अत्यधिक वाचाल है·····और फिर वह अपने विचार पर स्वयं ही लज्जित हो गई··· ··तो क्या·····तो क्या ? अंजना उससे अधिक·····वह सोच नहीं सकी ·····कुँवर ने कुछ उत्तर दिया था और उस उत्तर पर रमेश और अंजना दोनों ही हँस पड़े थे किन्तु मृदुला के कानों तक उत्तर पहुँच ही नहीं पाया था। उसे इस अत्यन्त वाचाल युवती पर कुछ झुंझलाहट भी हो रही थी। मृदुला ने सोचा था कि वह क्यों झुँझला रही है। यह क्या है ? ईर्षा···एकाधिकार की भावना·····अथवा·····नहीं···नहीं सो सब नहीं·····उसका एकाधिकार क्यों···किस पर किसलिए·····और उसे जान पड़ा जैसे कि इसका उत्तर कहीं कुछ हो ही न,·····उसने स्वयं अपने आप से कहना चाहा कि उसे अंजना अच्छी नहीं लगी किन्तु अंजना तो बहुत अच्छी है। तब

फिर उसने कुँवर की ओर देखा·····कुँवर अंजना की ओर देख रहा था उसकी दृष्टि में कोमलता थी·····मृदुला को न जाने क्यों लगा कि वह कुछ हीन हुई जा रही है·····मानो कहीं अचानक उसकी बहुत बड़ी हार हुई जा रही है किन्तु ऐसा क्यों वह स्वयं नहीं समझ पा रही कि वह क्या चाहती है और क्यों·····उसने रमेश को देखा वह उन दोनों की ओर देख रहा था। अञ्जना कुँवर से कुछ कह रही थी·····मृदुला अचानक कह उठी—'अच्छा, तो अब जरा-सा उधर भी हो आऊँ।' 'लीजिए हम आए तो आप चलीं' अञ्जना ने तनिक शरारत भरे लहजे में कहा मानो उसे अपनी विजय का मान हो। 'नहीं, नहीं·····यह बात नहीं है। मृदुला ने अकारण ही सफाई देना आरम्भ कर दिया। वह घबरा गई थी 'अरे थोड़ी देर तो बैठिए ही·····' कहकर अञ्जना ने बरबस मृदुला का हाथ पकड़कर उसे फिर से कुर्सी पर बिठा दिया। क्षण भर को मृदुला को जान पड़ा जैसे उसके मन की गति के विरुद्ध कार्य हो रहा है किन्तु कैसे थी वह मन की गति वह स्वयं भी तो नहीं समझ पा रही थी। अञ्जना ने मृदुला से कहा—'भाई कुँवर तो थोड़े ही समय में आपके भारी प्रशंसक बन गए हैं और रमेश भी कुछ उनसे कम नहीं हैं·····मेरा तो यह सौभाग्य है कि आप से आज जान-पहचान हो गई···पर यदि मैं 'तुम' कहूँ तो कैसा।' उसने कुछ ऐसे ढङ्ग से कहा कि मृदुला को जान पड़ा कि वह क्षण मात्र में ही उसके अत्यन्त निकट आ गई है। उसने तनिक झेंप कर कहा—'जैसी आपकी इच्छा·····' उसकी इच्छा हुई कि वह भी अञ्जना के समान वाचाल हो सके किन्तु तुरन्त ही उसे ऐसा जान पड़ा कि यह तो उसकी पराजय ही होगी·····किन्तु कैसी पराजय·····किससे जय····· पराजय···कैसा युद्ध·····वह स्वयं भी नहीं समझ पाई। अञ्जना ने सहज भाव से कहा—'तब तो फिर मृदुला तुम एक-एक प्याला चाय बनाकर हमें पिला दो इसी बात पर बेयरा·····चाय लाओ।' तुरन्त ही बेयरा एक चाय से भरा हुआ पात्र मेज़ पर रख गया। कुँवर सिगार पी रहे थे और

रमेश ने अञ्जना से पूछा—'आक्सफोर्ड से कब लौटीं तुम ?'

'थोड़े ही दिन हुए हैं।' वह मुस्करा रही थी।

'अब क्या कर रही हो ?'

'अरे अञ्जना तो कहो, रमेश अंजु न कह सको तो हाँ, तो यहीं युनीवर्सिटी में लेक्चरर की पोस्ट मिल गई है। पापा की इच्छा तो नहीं कि मैं नौकरी करूँ किन्तु मन की गति·····' वाक्य पूरा किए बिना ही वह खिलखिला कह हँस पड़ी। कुँवर मृदुला और रमेश भी हँसने लगे।

'तो यह मन की गति का रोग कुँवर साहब को बहुत पुराना है।' मृदुला ने चुटकी ली।

'अरे बहुत पुराना·····इतना पुराना·····इतना पुराना।' अञ्जना हँस रही थी। मृदुला को वह हँसी चुभ-सी रही थी।

'अंजु के मन की यह गति तो हमें बहुत ही सूट करती है। क्यों रमेश ?' कुँवर कह रहे थे। 'हाँ, यह तो ठीक है।' रमेश ने उत्तर में बरबस कहा।

'मृदुला जी तो पढ़ ही रही होंगी।' प्रश्नसूचक ढंग से अञ्जना ने मृदुला की ओर देखकर पूछा। 'जी नहीं, आजकल तो कुछ भी नहीं कर रही हूँ। बी० ए० कर लिया है।' मृदुला ने बेमन से कहा। 'ओह तो यों कहिए कि यह प्रतीक्षा काल व्यतीत कर रही है।' उसने अर्थभरी दृष्टि से मृदुला की ओर देखा। मृदुला झेंप गई। और सब मुस्करा दिए। पार्टी की भीड़ घटने लगी थी। मृदुला भी उठ खड़ी हुई। उसके पिता अभी कुछ लोगों में उलझे ही हुए थे। कुछ निकट आकर कुँवर ने कहा—'किसी दिन आपके घर पर भी आपके दर्शन हो सकेंगे ?' मृदुला ने सरलता से उत्तर दिया—'अवश्य पधारिये।' कुछ ठहर कर मृदुला ने कहा—'आप भी किसी दिन आइए अञ्जना जी और आप भी रमेश जी।'

लौटते समय मृदुला अपने-आपको कुछ भरी-भरी-सी पा रही थी। उसे

जान पड़ता था कि बहुत-सी बातें जैसे उसके भीतर ही घुटी जा रही हैं। वह उन्हें कहना चाहती है किन्तु किससे कहे, कैसे कहे·····उसे मंजु याद आई किन्तु कहाँ थी वह कौन जाने। पिता ने मार्ग में पूछा—'मिन्नी, आज की पार्टी कैसी लगी ? तू तो एक ही मेज पर बैठी रही। उधर भी सब लोग तुझे पूछ रहे थे।' मैंने उन सब को तो नमस्कार कर लिया था।' 'पगली। नमस्कार ही क्या बातचीत होती है। यों तो ऐसी पार्टियों पर नये-नये लोगों से जान-पहचान हो जाती है, यह अच्छा ही है।'

मृदुला को स्मरण हो आया कि उसकी भी आज अंजना दास गुप्ता से नई-नई जान-पहचान ही तो हुई है। उसने उत्साह से कहा—'आज तो हमारी युनीवर्सिटी की एक लेक्चरर से मुलाकात हुई। बड़ी अच्छी है वह।'

'क्या पढ़ाती है ?'

'ओह ! यह तो मैंने पूछा ही नहीं।'

'बड़ी पगली है, मेरी बिटिया।' मृदुला ने पिता की पीठ पर मुँह टेक दिया। उसे ऐसा जान पड़ा कि वह नन्हीं-सी मिन्नी है·····वही मिन्नी जो कि मणीन्द्र से मार खाकर कितनी ही बार भागकर पिता की गोद में छिप जाया करती थी। उसने तनिक ठुनक कर कहा—'मुझे उनसे पढ़ना है क्या पापा ? मैं तो उनका नाम भर ही जानती हूँ।' 'उनका क्या नाम है वही बता दे।' पिता ने चिढ़ाने के-से भाव से कहा।

'हूँ, नाम भी नहीं जानती क्या ? उनका नाम बड़ा प्यारा-सा है····· अञ्जना दास गुप्ता·····'

'हाँ, नाम तो बड़ा अच्छा है।' मृदुला जानती थी कि पापा का ध्यान कहीं और है केवल उसका मन बहलाने के लिए ही वे उसकी बातों में योग दे रहे हैं। मृदुला के मन में आया कि वह मंजुला को किसी प्रकार पा सकती। उससे सारी बातें कह-सुन सकती। और-और·····

अरुण वह तो जैसे पत्थर की प्रतिमा है·····बहुत दिनों बाद उसे अचानक जान पड़ा कि अरुण निर्जीव है···निष्प्राण है·····और है·····एक दम·····कायर·····वह तो कभी उसकी ओर पूरी तरह देख भी नहीं पाया; किन्तु·····कैसी तेजस्वी···जलती हुई-सी है उसकी वे दोनों आँखें·····न जाने कहाँ की कितनी ज्वाला भरी हुई है उनमें···और··· और···कुँवर कैसी गुलाबी जलभरी कोमल दृष्टि लिए हैं वे दोनों आँखें·····किन्तु उसका मन मुरझा-सा गया·····अञ्जना कितनी मुखर··· कितनी चंचल है वह और कितनी बेतकल्लुफ है·····झिझकना तो कहीं जानती ही नहीं है मानो उसे कहीं और किसी प्रकार की बाधा है ही नहीं···मुझ···निर्द्वन्द्व···जीवनपूर्ण···स्पन्दन भरी-सी·····

उसका जी चाहा कि थोड़ी देर को अंजना की लुभावनी किंचित श्याम छवि देख पाती किन्तु उसे तुरन्त ही लगा कि वह कह उठेगी कि कितनी निर्लज्ज है अंजना···किन्तु कहाँ मन की बात को मन ही में बरबस दबाकर उसका जी चाहा कि वह स्वयं अपने-आप से कह दे कि वह अंजना से कहीं अधिक आकर्ष···क ··किन्तु नहीं वह यह सब कुछ भी नहीं सोचेगी वह क्यों सोचती है यह सब···उसे अपनी ओर किसे आकर्षित करना है किसी को भी तो नहीं ··कुँवर···रमेश···छिः···छिः कैसी लज्जा की बात है··· उसे कुँवर से क्या लेना है···रमेश उसका है ही कौन···और···और ···अंजना उससे भी उसका सम्बन्ध है ही कितना···अरुण···नहीं···नहीं अरुण भी उसके लिए केवल, मात्र मास्टर साहब है···अपरिचित···उसे कहीं पढ़ी हुई एक पंक्ति का स्मरण हो आया 'नारी छलना तो है ही किन्तु वह स्वयं अपने को भी तो कम नहीं छलती और उसे छल का माध्यम मिल जाता है सामाजिक परम्पराओं का आधार···' उसने एक दिन अरुण को यही वाक्य दिखा कर कहा था—'मास्टर साहब नारी तो देवी है···' अरुण ने अधूरे वाक्य को वहीं रहने देकर कहा था—'उसे मानवी ही रहने दो तो कहीं अधिक श्रेयस्कर हो···देवी होने पर उसे सिंहासन भले

ही मिल जाय आदर भक्ति भले ही प्राप्त हो जाय, किन्तु उसे सहज उपलब्ध प्राकृतिक···स्वाभाविक दुःख-सुख की अनुभूति किस प्रकार प्राप्त होगी और वही तो जीवन है···' उस दिन अरुण अत्यन्त मलिन, क्लान्त-सा दिखाई देता था। मृदुला ने बरबस उसे चिढ़ाने, खिझाने की ही भावना से कहा था—'आपको नारी के देवत्व से ईर्ष्या होती है मास्टर साहब···' और उसने सहज मुस्कान सहित उत्तर दिया था···'देवत्व ईर्ष्या की वस्तु नहीं, ईर्ष्या की वस्तु तो है···' और फिर वह चुप हो गया था। उसने फिर तरह-तरह के प्रश्न करके उसे तर्क-धारा में बहा ले जाना चाहा था किन्तु वह फिर भी नहीं बोला। केवल एक बार तनिक जलती-सी, तनिक करुण-सी तनिक कटु-सी दृष्टि से उसकी ओर देख कर ही रह गया था। पाठ के अन्त में उसने कहा था—'मृदुला देवी···तुम देवी बनने के प्रयत्न में सफल हो, यही मेरा आशीर्वाद है किन्तु मानवी बनी रहो···यही मेरी मनोकामना है···' मृदुला ने अपना नाम अनेकों मुखों से अनेकों बार सुना था किन्तु उसे जान पड़ा कि इससे अधिक माधुर्य उसके नाम के उच्चारण में कभी भी नहीं आ सकता···उसका जी चाहा कि स्वयं अपने से कह दे कि वह छलना नहीं है तो क्या है यह वह स्वयं भी नहीं जान पाई। घर पहुँच कर बड़े से दर्पण के सम्मुख खड़े होकर वस्त्र बदलने का उपक्रम करते हुए जब उसने स्वयं अपनी ओर देखा तो उसे जान पड़ा कि वह अत्यन्त सुन्दरी है और वह स्वयं ही अपनी इस व्यर्थ-सी भावना पर हँस दी। नारी और सौन्दर्य···इन दो शब्दों को निकट रख कर उसने कभी देखा ही नहीं था फिर आज अचानक ही उसे यह ध्यान क्यों आ गया। आज अचानक ही अपना शरीर उसे इतना सुन्दर क्यों जान पड़ा? क्या नारी केवल अपने शारीरिक सौन्दर्य को लेकर ही विश्व भर को विजय करना चाहती है किन्तु यही तो पुरातन गाथा है, यही तो चिरकाल से होता रहा है, इसी की तो नारी अभ्यस्त हो गई है।

अपनी मनमोहक प्रतिभा के साथ ही साथ कल्पना में अंजना की मूर्ति

रख कर वह क्यों देख रही है···उसने बरबस सब ही भावनाओं को दूर ठेल कर वस्त्र बदल डाले। घर के सादे और सूती वस्त्रों में उसे जान पड़ा कि वह पहले से कहीं अधिक स्वस्थ है···निश्चिन्त है और है···पूर्ण रात्रि के भोजन के समय खाने की मेज पर रंजना ने उसकी ओर देख कर धीरे से कहा—'मिन्नी! आज तो बड़ी ही अच्छी लग रही हो, तुम।' मृदुला कुछ देर के लिए घबरा गई। उसे जान पड़ा कि भाभी उसके हृदय की सब ही भावनाओं को पढ़ गई हैं···यथासम्भव स्वर को सहज और स्वाभाविक रखते हुए उसने कहा—'भाभी! तुम्हें मैं किसी दिन अच्छी नहीं भी लगती हूँ?'

रंजना ने हँस कर कहा—'बात यों न उठाओ मिन्नी रानी! मैं सब जानती हूँ···जान पड़ता है कि तुम्हें भी सब समाचार मिलते रहते हैं···सच बताओ कौन-सा सी० आई० डी० रखा हुआ है? हमें तो तुम्हारे भैया से भी पूरे समाचार नहीं मिल पाते पर सुना है कि आजकल बड़े जोर से खोज की जा रही है···'

'खोज नहीं पत्थर···'

'अभी तो यहीं बैठी हो। अभी से भाभी पर पत्थरों की बौछार आरंभ हो गई···भई वाह!···मिन्नी रानी···' रंजना चिढ़ा रही थी।

भोजन की मेज पर अब और लोग भी आ गए थे। दोनों चुप हो गईं किन्तु मृदुला ने रंजना की ओर दृष्टि उठा कर देखा···रंजना मुस्करा दी और मृदुला कुछ झेंप गई···

भोजन के पश्चात् रंजना धीरे से कहती गई मृदुला के कान में··· 'घबराओ मत, तुम्हारी सम्मति भी ली जायगी भाई···' 'सम्मति···कैसी सम्मति···किस लिए' वह सोचने लगी और वह सम्मति दे ही क्या सकेगी ···अरुण···कुँवर···रमेश···और भी कितने ही लोग निगाह में आ जाते हैं किन्तु···उसे क्या···उसके लिए तो···तब क्या वह···देवी बनने का प्रयत्न कर रही है···और उसी समय उसे अरुण का वाक्य फिर से याद

आ गया···'मृदुला देवी···देवी बनने के प्रयत्न में सफल हो, यही मेरा आशीर्वाद है किन्तु मानवी बनी रहो यही मेरी मनोकामना है···' वह स्वयं ही अकारण हँस पड़ी···उसे याद आया आज ही की पार्टी में कहा गया कुँवर का वाक्य 'मृदुला जी ! आज तो आप बहुत ही अच्छी लग रही हैं' और फिर उसकी पुलकभरी अनुभूति···भाभी का कहना 'आज तो बड़ी ही अच्छी लग रही हो···' और उसकी सिहरन···किन्तु कुँवर ने यही बात तो अंजना से भी जाकर कही होगी और···और···यही बात उसने आज से पूर्व अनेकों बालिकाओं से कही होगी···रमेश कहता था 'मृदुला जी अनुपम है' और···और सम्भवतः ऐसे ही उसने किसी और से भी कहा होगा। उसे जान पड़ा कि उसका मन कुछ खिन्न-सा हो गया है।···किन्तु क्यों···वह अच्छी है···अच्छी लगती है और सब ही लोग ऐसा कहते हैं··· फिर भी वह ऐसा सुनना क्यों नहीं चाहती किन्तु···सुन कर उसे पुलक उठना पड़ता है···सिहरन होती है···अच्छा ही तो लगता है···यह क्यों··· फिर भी वह सुनना नहीं चाहती···ऐसा कहना उसके लिए उचित नहीं है···और···और···तब क्या वह भी छलना है···नहीं···नहीं। मन की खिन्नता को दूर करने के लिए उसने एक पुस्तक उठा ली···पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर सुपरिचित अक्षरों में लिखा था 'मिन्नी को···उसके सोलहवें जन्मदिवस पर···मंजु की ओर से'···मिन्नी कई क्षण तक उन अक्षरों को ध्यान से देखती रही···कई वर्ष पूर्व का वह दिन उसकी आँखों में झूल उठा···आज मंजु दूर है···क्यों इसीलिए तो कि वह हमारे प्रतिष्ठित समाज में नहीं है···अंजना के समाज में भी नहीं है···उसका पिता रोगी है उसका भाई सौ रुपये का क्लर्क है और उसके पास बढ़िया रेशमी साड़ी नहीं है··· उसे प्राप्त करने की सुविधा भी नहीं है···और उसका अपना पिता मन्त्री है···वह प्रतिष्ठित समाज की मान्य कुमारी है···उसे स्मरण हो आया··· मंजु का एक वाक्य···वर्षों पूर्व सुना हुआ वह वाक्य···'परमुखापेक्षी होने की अपेक्षा स्वावलम्बी होना किसी भी मूल्य पर श्रेयस्कर है···' उसने हँस

कर कहा था 'मंजु ! यह वाक्य तेरा तो नहीं है।' और मंजु ने निष्कपट सरलता से हँस कर कहा था 'भैया का तो है।' एक बार मृदुला की दृष्टि में अरुण और कुँवर साथ ही साथ आकर खड़े हो गए···उदास जलते से नेत्रों वाला अरुण और कोमल छबिवान प्रियदर्शी कुँवर···उसे याद आया कि उस दिन वह कितनी रोई थी जब माँ ने दाई से मंजु के घर का हाल सुन कर मृदुला से कहा था 'मिन्नी ! अपने पिता की प्रतिष्ठा का भी तो ख्याल रखा करो ! भाई ! ऐसे घर में तुम्हारा आना-जाना हेल-मेल करना तुम्हारे घर की मर्यादा के अनुकूल नहीं है।' यद्यपि मृदुला ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया था किन्तु फिर भी उसके बाद वह मंजुला के घर नहीं गई···प्रतिष्ठित परिवार की लड़की विजया के घर भी नहीं गई और श्री के घर भी नहीं···रमा के घर भी नहीं और देवबाला के घर भी नहीं···मृदुला स्वयं हँस पड़ी कि उसकी विचारधारा कहाँ-से-कहाँ भटक गई थी···उसे जान पड़ा कि वह थक गई है। उसे लगा जैसे वह सदा ही सोचते-सोचते थक जाती है।

१३

'मंजु ! अरी ओ मुनिया !! कहाँ है ! इधर आ, तेरे लिए एक शुभ समाचार लाया हूँ।' गिरिजा का ऊँचा स्वर वायु में बिखरते ही शान्त भाव से धीरे-धीरे पिता के कमरे से निकल कर मंजुला ने गिरिजा को प्रणाम किया। मंजुला कुछ और दुबली हो गई थी। उसका गोलाकार मुखड़ा कुछ लम्बा-सा दिखाई देने लगा था। उसकी प्रसन्न गहरी आँखों में अजीब उदासी-सी दिखाई देने लगी थी। अधमैली-सी धोती के आँचल को सिर पर ठीक करते हुए उसने गिरिजा को प्रणाम किया। गिरिजा बरामदे में तखत पर बैठ गया। मंजुला पास ही आकर खड़ी हो गई।

'क्यों, क्या समाचार है ? गिरिजा भाई।'

'तू इतनी उदास क्यों है आज ?'

'नहीं, उदास तो नहीं···उदास कहाँ हूँ।' बरबस शब्दों को तोड़-मरोड़ कर किसी प्रकार सम्भाल कर मंजुला ने कहा।

'तू कुछ छिपा रही है मुझसे। मुनियाँ देख हम लोग तो बचपन के साथी हैं।···' कुछ सोच कर अचानक गिरिजा चुप हो गया। मंजुला चुप ही थी किन्तु उसे जान पड़ा कि वह रो देगी। मास की अठाइसवीं तिथि थी। घर में आटे और दाल के अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं था। पिछले तीन दिन से रोगी के पथ्य का भी तो समुचित प्रबन्ध नहीं हो पाया था। एक-एक करके रोगी के पथ्य और औषधि की व्यवस्था करने में माँ के सब ही आभूषण स्वाहा हो चुके थे। स्वयं उसके आभूषण थे ही कितने; किन्तु वे भी तो नहीं रह गए थे। वह कभी-कभी लेख, गल्प आदि लिखती और पत्रों में भेजती थी किन्तु उससे भी क्या मिल जाता था। अरुण के दफ्तर का काम बढ़ता ही जाता था···'आराम करना हराम है' का सशरीर उदाहरण···बरबस अधिकाधिक काम करवा लेने के लिए ही तो दफ्तरों में निरंतर क्लर्कों के रूप में बना रहता है। माँ का निरन्तर चिन्ता को लेकर गलित शरीर पिछले तीन दिन से भयंकर ज्वर यन्त्रणा भोग रहा है···किन्तु विश्राम की भी सुविधा कहाँ है···साबूदाना कहाँ से आयेगा···चाय तक की तो पत्तियाँ समाप्त हो गई हैं मास का अन्त है न··· दोपहर को ज्वर से काँपती यशोदा देवी अपना जर्जर शरीर लिए बरामदे में तखत पर आकर लेट गईं।पिता की परिचर्या, भाई के लिए भोजन, घर की सफाई करके रसोई उठाकर ज्यों ही मंजुला आँगन से होकर बरामदे में आई उसने माँ को तख्त पर लेटे देखा। तीन दिन से निरन्तर सारे घर का कार्य और रोगी की परिचर्या करते हुए मंजुला का शरीर थक-सा गया था। मन में भी अवसाद दब रहा था। अचानक उसे उन दिनों की स्मृति हो आई जब कि वह बढ़िया रेशमी फ्राक पहन कर नौकर के साथ स्कूल जाया करती थी और फिर जब कि वह कालिज के लान में घास पर लेट कर मिन्नी से घन्टों बातें किया करती थी···उसे वातावरण में उमस-सी

जान पड़ी···उसका दम घुटने-सा लगा···मुहल्ले के कोने वाली हवेली में रोगग्रस्त गृह-स्वामी के घर से लौटती हुई रात की नर्स उसकी आँखों में··· कल्पना में स्पष्ट हो उठी और···वह अचानक ही वर्षों निरन्तर चिन्ता, सेवा और संघर्ष में रत माँ के प्रति सदय हो उठी। भोजन करने को उसका मन नहीं चाहा···रसोई उठाकर मंजुला बाहर आ गई और··· माँ···उसकी माँ···गठरी सी बनी बरामदे के तख्त पर पड़ी हुई थी। यही उसकी स्वर्णमयी माँ है···कहाँ गया उसका कुन्दन-सा रंग···रूप··· सौन्दर्य···

'माँ! यहाँ क्यों आ गई?' उसने प्रेम से कहा।

'तो कहाँ चली जाऊँ?' माँ ने झुँझलाहट से भर कर कहा। 'यहाँ हवा लग जायगी, माँ!' मंजुला जानती थी कि माँ इधर चिड़चिड़ी होती जा रही है। यों तो आज मंजुला के मन में भी कुछ कम झुँझलाहट नहीं थी। 'कहीं चुपचाप पड़ भी तो नहीं सकती। कहाँ चली जाऊँ?' स्वर की कटुता विवशता की प्रतीक थी। मंजु चुप रही। माँ ने फिर जल कर कहा— 'जा यहाँ से मेरा जी न जला। तू जाकर अपना काम कर।' सुबह से भूखी-प्यासी मंजुला की झुँझलाहट पिघलने लगी थी···उसकी स्मृति में वे दिन सजीव हो उठे जब कि पूरा गिलास दूध पी जाने पर भी माँ यही कहती थी कि मंजु तो कुछ खाती ही नहीं है। तनिक-सा भी काम में हाथ लगाते ही माँ उसे उठा कर कह देती थी···मेरी बेटी रानी क्या ये काम-काज करेगी···जा बेटा अपना लिख-पढ़···और अब···आज···इधर न जाने क्यों माँ मंजुला की पढ़ाई-लिखाई से भी चिढ़ने लगी थी···अरुण ने तो एक दिन साफ-साफ कह भी दिया था—'माँ! मंजु का विवाह नहीं होता है तो भले ही न हो मैं उसे अपात्र को नहीं सौंप सकूँगा।'

'बेटा तब उसका जीवन कैसे कटेगा?'

'क्यों; पढ़ी-लिखी लड़की है माँ चिन्ता क्या है।' माँ पुत्र से कुछ न

कह सकी किन्तु तब ही से मंजु का पढ़ा-लिखा होना ही माँ की दृष्टि में सब से बड़ा अपराध हो गया। इधर मंजु को पुस्तक छूने का भी अवकाश नहीं मिलता था···पुस्तकें थीं भी कहाँ···आती भी वे कहाँ से···कभी-कभी अरुण दफ्तर के पुस्तकालय से कुछ पुस्तकें ला देता था। इधर गिरिजा शंकर भी पुस्तकें ला देते थे किन्तु अवकाश मिलता ही कहाँ था पढ़ने के लिए···तिस पर बार-बार माँ के मुख से यह भी सुनने को मिलता था कि इतनी बड़ी हो गई है वर भी तो कहीं नहीं मिलता, अरी हरतालिका का व्रत ही कर लिया कर···सोमवार का व्रत रख कर शिवपूजन ही किया कर···आदि···आदि···। मंजुला चुपचाप सब कुछ सहने की चेष्टा किए जाती थी किन्तु ···पढ़ना···पढ़ सकना···अचानक माँ ने चौंक कर मंजुला के मुख की ओर देखा ··मुख सूखा हुआ था और नेत्र डबडबाए हुए··· मुरझाये हुए···'मुनिया, तूने खाना भी खाया है कि नहीं···' स्वर में स्नेह था और थी वात्सल्य सरिता का प्रवाह···मंजुला के पानीभरे नेत्र बरस पड़ने को व्यग्र हो रहे थे। अचानक माँ ने बेटी को ज्वरतप्त छाती से चिपका लिया···दोनों माँ बेटी न जाने कितनी देर तक रोती रहीं। अभी थोड़ी ही देर पूर्व तो बेटी माँ को भीतर बिछौने पर लिटा कर पिता को औषधि देने गई थी। गिरिजा का कण्ठ स्वर सुन कर मंजुला बाहर निकल आई। गिरिजा के स्नेह और सहानुभूति से मिश्रित वाक्य ने मंजुला के अन्तरतम को झकझोर दिया। उसका जी चाहा कि एक बार बहुत जोर से रो उठे···आँसू आँखों से निकलने को मचल उठे किन्तु संस्कारों ने बाधा दी। मंजुला कुछ देर तक मौन ही रही। अपने आप को संयत करके उसने धीरे से कहा—'तब ही तो तुम पर इतना विश्वास करती हूँ गिरिजा भाई···' भावुकता से भरे इस वाक्य के पश्चात् तुरन्त ही उसने स्वर को यथासम्भव स्वाभाविक बना कर कहा—'कोई नई ताजी बात सुनाओ गिरिजा भाई···।

गिरिजा का उत्साह भंग हो चुका था। मन की उदासी को भीतर-ही-

भीतर दबा कर उसने कहा—'कोई भी समाचार नहीं है।' 'कुछ है तो जरूर। सुनाओ न।' सुन कर तू क्या खिलाएगी ? बता तो।'

साधारण-सी बात मंजु के मर्म स्थल पर कहाँ पर जाकर लगी यह गिरिजा शङ्कर जान भी न सका किन्तु अन्तर की घनीभूत वेदना, लज्जा और दीनता को दबाकर मंजुला ने कहा—'तुम्हारी मुनिया के पास है ही क्या तुम्हें खिलाने को·····'बात साधारण होते हुक भी स्वर की अस्वाभाविकता ने गिरिजा को कँपा दिया। उसने घबराकर केवल यही कहा—'सब ठीक हो जायगा मुनिया·····' दोनों फिर कुछ देर चुप रहे। गिरिजा ने इस बार हँस कर कहा—'तुझे नौकरी मिल गई है मुनिया। मंजुला को विश्वास नहीं हुआ। उसने सहज शंकाशील स्वर में कहा—'क्यों गप हाँकते हो गिरिजा भाई। नौकरी क्या यों ही रखी है।'

'रखी तो है ही मुनिया·····स्थानीय बालिका विद्यालय में लेक्चरर की जगह है·····जानती है वेतन कितना मिलेगा·····अरे अरुण से भी अधिक·····'

'किन्तु वहाँ से तो मुझे कोरा उत्तर मिल गया था गिरिजा भाई···'

'तुझे मिला था न गिरिजा शंकर एम० एल० सी० को थोड़े ही मिला था·····जानती है मैं मिनिस्टर की सिफारिश लेकर गया था····· समझी·····अरी समझी ना·····' और मंजुला फटी-फटी-सी आँखों से गिरिजा की ओर देख रही थी·····

किन्तु मिनिस्टर·····कौन से मिनिस्टर···वे मुझे क्या जानें···'

'ओह ! तू तो निरी पगली है मुनिया···अरे भाई मिनिस्टर साहब को भी तो चुनाव लड़ते समय मुझसे ही काम पड़ेगा।' गर्व से गिरिजा ने कहा।

'तुम उनका क्या काम करोगे ?' जिज्ञासा से मंजु का स्वर भर उठा। 'क्यों ? मिनिस्टर बनवाऊँगा। और क्या ? तूने अपने गिरिजा को समझा

क्या है ? मुनिया !' और वह बड़े जोर से हो-हो करके हँस उठा। मंजुला के मन की उदासी धीरे-धीरे उड़ती जा रही थी। आत्माभिमान पर कहीं ठेस-सी तो लगी किन्तु उसे हँसी के प्रवाह में उड़ाते हुए-से ढंग से मंजुला ने कहा--'तो गिरिजा भाई। इसका यह अर्थ हुआ कि मुझे तुम्हीं नौकरी दे रहे हो।' रोकते-रोकते भी व्यंग्य उभड़ पड़ा स्वर में। गिरिजा सम्भल गया। उसने उसके स्वर में छिपी वेदना पढ़ ली। गिरिजा दोनों भाई-बहिन के आत्माभिमानी आदर्शवादी स्वभाव से परिचित था। मंजुला को ठेस भी नहीं पहुँचाना चाहता था। उसने सहज स्वर में कहा—

'अरे नहीं, मैं तो साधन मात्र ही हूँ मुनिया।'

'गिरिजा भाई, इस स्थान के लिए मैंने आवेदन पत्र भेजा था। इण्टरव्यू में भी गई थी किन्तु नियुक्ति न हुई·····अब तुम्हारी कृपा से···' वाणी में व्यंग्य भी नहीं था और वेदना भी नहीं किन्तु कुछ ऐसा स्वर था कि गिरिजा शंकर एक क्षण को काँप उठा। 'चल छोड़ इन बातों को। ले यह नियुक्ति पत्र और कल-परसों से कालिज जाना आरम्भ कर दे।'

मंजुला ने हाथ बढ़ाकर नियुक्ति पत्र ले लिया किन्तु उसे जान पड़ा कि वह छोटी हो गई है, तुच्छ हो गई है·····उसका निजी महत्व तो कुछ भी नहीं है···तनिक भी नहीं है·····उसकी योग्यता·····उसकी लगन····· गिरिजा ने उसके मुख की ओर देखकर कहा—'देख मुनिया, युग धर्म के अनुसार चलना ही बुद्धिमत्ता है। आज का युग है बुद्धि की·····'

'मैं तो कुछ भी नहीं कह रही हूँ गिरिजा भाई।' मंजुला कहती गई किन्तु उसका सर्वाङ्ग, रोम···रोम उसके शब्दों का तीव्र विरोध कर रहा था।

'मुनियाँ ! यदि तुझे संसार में रहना है तो उसी प्रकार रहना होगा जैसे सात-पाँच अन्य व्यक्ति रहते हैं। जानती है इसी रिक्त स्थान को प्राप्त करने के लिए कितनी योग्य लड़कियों ने अधिकारियों के द्वार के कितने

चक्कर लगाये हैं। एक तू ही है कि विद्यालय के अध्यक्ष महोदय कहते थे कि वह तो हमसे कभी मिली भी नहीं……'

'किन्तु मिलना इतना आवश्यक भी क्यों है? गिरिजा भाई! मेरी योग्यता विश्वविद्यालय के प्रमाण पत्रों सहित उनके सम्मुख है।' कितनी भोली है तू भी मुनिया। मानव स्वभाव में एक होता है अहं। कितना प्रबल है वह 'अहं' यह तू अभी समझती ही नहीं है। विश्वविद्यालय के प्रमाणपत्र देते हैं योग्यता सम्बन्धी अनुमान……स्वयं मिलकर इण्टरव्यू में देखी जाती है साधारण व्यापक योग्यता और परखा जाता है व्यक्तित्व किन्तु सत्ताधारी केवल इन्हीं से तो सन्तुष्ट हो नहीं जाता……वह तो चाहता है……अपने अहं को, अपने महत्व को सन्तुष्ट करने के लिए दूसरे मानव को याचक के रूप में गिड़गिड़ाते……हाथ फैलाते…… देखना। सम्भवतः इस लिए नहीं कि वह दूसरे के महत्व को कम करना चाहता है वरन् अपने अहं की संतुष्टि के लिए……' गिरिजा उपदेश दे रहा था।

'किन्तु गिरिजा भाई……'

'तू बीच ही में बोल पड़ी मुनिया तेरा तर्क क्या होगा सो मैं जानता हूँ……यह भी जानता हूँ कि किसी भी एक मानव को दूसरे मानव को अपने सम्मुख घुटने टेकने के लिए विवश करने का अधिकार ही क्या है? किन्तु यह भी तो सत्य है……मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि इसी से मानव के अहं की तृप्ति होती है……बड़े साहब की घुड़कियाँ खाकर बाबू जी पत्नी को डाँटते हैं और बाबू जी से झिड़कियाँ पाकर उनकी पत्नी घर की महरी……बाल-बच्चों को डाँटती है और……और……इसी प्रकार क्रम चलता ही जाता है। क्यों? इसीलिए न कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर……'

'यह सब तुम्हारा विकृत तर्क है गिरिजा भाई……'

'मुनिया……एक चित्र देखा था अँग्रेजी में……उसके कथानक

की चर्चा नहीं करता किन्तु उसका एक दृश्य आज भी भूल नहीं पाता हूँ·····मैं तो किसी दिन भी भावुक नहीं रहा किन्तु सभ्यता के शिखरासीन कुँवर विश्वेश्वर तक को उस चित्र में विचलित होते देखा था। हाँ तो, सम्राट के अधीन सभ्य माने जाने वाले प्राचीन रोमन सम्राज्य के एक दासों के बाजार का दृश्य था·····रस्सी में बँधा एक मानव बिक्री को टेकरी पर खड़ा किया जाता है और फिर लगता है उसका मूल्य·····होता है···नीलाम···विवश···मूक···मानव प्राणी···दास की दृष्टि में कुछ ऐसा सामञ्जस्य था विचित्र भावनाओं का·····वहाँ उमड़ रहा था करुणा रस···प्रतिहिंसा, विवशता और विद्रोह की भावनाओं में लगा हुआ·····उस दिन काँप उठा था मैं। चित्रपट से अन्य सब ही दृश्य लुप्त हो गए थे और बड़ी देर तक देखता रहा कल्पना में मैं केवल उस अतीत युग के दास·····की आँखें·····किन्तु तब तक जीवन से मेरा उतना अधिक परिचय नहीं था·····आज जब तक स्वयं ही अपने द्वार पर सुशिक्षित, सुसंकृत, सभ्य युवक-युवतियों को घण्टों दीनतापूर्वक, अकारण अपनी प्रशंसा करते पाता हूँ नयनों में अतुलित करुणा और याचना भरे हुए केवल एक छोटी-सी नौकरी के लिए···केवल तनिक-सी वेतन वृद्धि के लिए तो सचमुच मुनियाँ जान पड़ता है कि दास युग अभी समाप्त नहीं हुआ है·····मानव का आत्माभिमान जब लौकिक माँगों के चाबुक की कड़ी मारपीट पर खाकर मन-ही-मन विवशता की सिसकियों के बीच पछाड़ें खाता है तो मुझे तुरन्त ही उस चित्रपट के दास की स्मृति मन के किसी कोने में सिसकती हुई-सी जान पड़ती है·····किन्तु यह सब क्यों है ?'

इसीलिए तो कि मानव बरबस दाता बनने के गौरव को ओढ़ने के लिए किसी अन्य मानव को याचक ही बना डालता है·····'

'किन्तु भाई, नौकरी तो केवल परिश्रम का व्यापार·····धन से बदला मात्र ही है। यह तो दासता की बात नहीं है। नौकरी का अर्थ केवल,

मात्र एक समझौता ही तो है·····काम, श्रम और धन के बीच अदला-बदली ही तो है·····श्रम और धन का विनिमय एक के हीनत्व और दूसरे के महत्व को क्यों जन्म देता है ? हो सकता है कि यह अर्थशास्त्र से सम्बन्धित कोई समस्या हो किन्तु·····'

'ओह ! कोई किसी को धन देता है···जीवन की सब ही आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति का सुलभ साधन···सुलभ माध्यम देता है···तब क्या वह उसका उपकार नहीं करता ?' गिरिजा शंकर के स्वर में व्यंग्य था किन्तु मंजुला उस ओर ध्यान न देकर कहती गई 'तब क्या केवल धन का ही महत्व है श्रम का कोई मूल्य ही नहीं है·····श्रम के अतिरिक्त धन उत्पन्न होगा ही कहाँ से और उसका मूल्य रह भी कहाँ जायगा ?'

'सैद्धान्तिक बात तो जाने दो। कल्पनाओं से वास्तविकता बहुत दूर रहती है मुनिया। वास्तविक जगत में तो आज भी धन का ही महत्व है·····हाँ महत्व सत्ता का भी है·····' 'और योग्यता नैतिकता····· मानवता·····' मंजुला कुछ असहिष्णु हो उठी थी। गिरिजा शंकर मंजुला को अप्रतिभ करता हुआ 'हो-हो···' करके हँस उठा। तनिक हँसी का वेग कम होने पर उसने कहा—'यह सब शब्द हैं·····सुन्दर किन्तु इससे क्या ? सत्ता होने पर उसके बल पर और धन होने पर धन के द्वारा इस युग में योग्यता·····नैतिकता·····मानवता सब कुछ ही खरीदी जा सकती है और खरीदी जाती है·····'

'नहीं·····नहीं·····यह सब कुछ नहीं, यह क्या है·····मानव धन का···सत्ता का···दास नहीं बनेगा, कभी भी नहीं बनेगा·····बन सकेगा ही नहीं·····एक दिन उसी ने तो धन की ··श्रम के क्रय-विक्रय की सृष्टि की थी·····एक दिन उसी ने तो सत्ता का सृजन किया था आज क्या वे ही उसे·····' वाक्य अधूरा ही रह गया। अचानक अरुण को चुपचाप घर में प्रवेश करते देखकर मंजुला चुप हो गई। इधर कितने ही दिनों से अरुण उदास रहता था किन्तु आज की-सी गहरी निराशा

उसके मुख पर किसी दिन भी नहीं देखी गई थी। अरुण पर दृष्टि पड़ते ही मंजुला के गुरू का वाक्य जैसे अधूरा ही रह गया मंजुला की दृष्टि में भरी अग्नि मानो कुछ बुझ-सी गई उसके स्थान पर दिखाई दी स्निग्ध स्नेह की धारा। अरुण आकर तख्त के एक कोने पर बैठ गया।

'लो अब तो अरुण भी आगया अब विवाद का रंग कुछ और भी जमेगा।' गिरिजा शंकर ने तनिक हँसते हुए कहा किन्तु मंजुला न हँस सकी।

'क्या बात है भैया·····' उसने सीधे दृङ्ग से स्नेहसिक्त स्वर में कहा।

'कुछ भी नहीं मंजु। कहो भाई गिरिजा क्या समाचार है ?' बुझे से स्वर में अरुण कहता गया, किन्तु उसकी दोनों आँखें जल-सी रही थीं।

'यों मंजु को बहला न सकोगे। भइया···क्या बात है ? गिरिजा भाई तो पराये नहीं हैं। बताओ न।' 'मंजु के स्वर में न केवल प्रबल आग्रह वरन् अद्भुद अधिकार का सशक्त दावा भी था। अरुण ने मंजु से दृष्टि मिलाई और फिर शून्य की ओर ताक कर धीरे से बोला—'छँटनी में आ गया हूँ मंजु···विभाग भी तो समाप्त हो रहा है न।'

कुछ चौंक कर गिरिजा शंकर ने कहा—'अरुण ! तुमने मुझसे तो इस विषय में कभी कुछ भी नहीं कहा नहीं तो···' अरुण का दोपहर से ही सिर फटा जा रहा था उसे जान पड़ा कि उसकी दोनों आँखों से ज्वालाएँ-सी निकल रही हैं···यथासम्भव शान्त स्वर में उसने कहा—'समस्या केवल मेरी ही तो नहीं है गिरिजा ! जो तुम सुलझा लोगे··· सुलझा सकते हो तो सुलझाओ देश के अधिकांश निवासियों की बेकारी, भूख और शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों की समस्याएँ···'

'मैंने सब का ठेका नहीं लिया है किन्तु भाई' 'ठेका तो तुम्हें लेना ही होगा और तुमने लिया ही है···तिस पर भी मैं तुम्हें अपने ही—केवल, मात्र अपने ही लिए जाकर कहूँ और तुम उसे कर दो···क्यों भला···आज

ही तो छँटनी में एक और साथी भी आया है···उसके घर के सात प्राणियों में से तीन राजयक्ष्मा के शिकार हैं···पथ्य नहीं, औषधि नहीं···बच्चों की शिक्षा नहीं केवल पेट भरने मात्र को जो वेतन मिलता था सो भी कल से बन्द हो जायगा और···और···'

मंजु ने चुपचाप भाई के पीछे जाकर उसके कन्धे पर हाथ रख दिया। गिरिजा उसकी ओर देखता ही रहा। अरुण कहे जा रहा था—'और समस्या तो दिन पर दिन उलझती ही जा रही है···वस्तुतः सुलझाने वाले भी तो नहीं हैं जिन्होंने जीवन में कभी भूख, दीनता, परमुखापेक्षित्व····· रोग···शोक से साक्षात् भी तो नहीं किया है···उन्हीं द्वारा योजनाएँ बनती हैं···और बनती ही चली जाती हैं किन्तु···'

'भैया···' गिरिजा स्वर की स्निग्धता से चौंक उठा उसने मंजुला की ओर देखा। मंजुला के दुर्बल किन्तु सुन्दर मुख पर अपूर्व कान्ति थी··· वात्सल्य···स्नेह···ममत्व की स्निग्धता से उसका समस्त व्यक्तित्व भर उठा था। धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ स्वर में वह कहती गई 'भैया···तुमने वकालत पढ़ी है तुम आज भी दासता के बन्धन से मुक्त होकर स्वतन्त्र व्यवसाय कर सकते हो···यही नहीं तुम्हारे हृदय में भावना है···मस्तिष्क में बुद्धि है और जीवन में है स्फूर्ति; तुम देश की समस्याओं को हल करने में भी अग्रणी हो सकते हो···तब यह निराशा क्यों···'

'उत्तेजना क्यों ?' मंजुला भूल गई थी कि कुछ ही क्षण पूर्व वह स्वयं अत्यधिक उत्तेजित थी···गिरिजा शंकर देख रहा था उस अद्भुत क्षीणकाय नारी प्रतिभा को जो कुछ ही क्षण पूर्व उत्तेजना से ·····भरपूर थी और अब स्निग्धता, स्नेह और सहृदयता से ओत-प्रोत हो रही थी। अरुण कुछ शान्त हो गया था। उसने अपेक्षाकृत शान्त स्वर में मंजु को अपने पास बिठाते हुए कहा—'नहीं मंजु वकालत नहीं करूँगा···आत्मा मन प्राण का क्रय-विक्रय-नौकरी में देखा और खूब देखा किन्तु तो भी उसे पूरी तरह ग्रहण नहीं कर पाया वास्तव में आज भी जब···जड़, शून्य, यन्त्र की

भाँति स्वामी की, वह स्वामी ही है भले ही उसे अधिक प्राप्त व्यक्ति कह लो···आफिसर की आज्ञाओं का···मूर्खतापूर्वक दिये गये आदेशों का पालन करना स्मरण करता हूँ तो ग्लानि से मन प्राण रो उठता है और वह केवल चाँदी के एक सौ टुकड़ों के लिए ही तो·····'

'तब ही तो कहती हूँ भैया ! तुम नौकरी मत करो तुम्हें विधाता ने नौकरी करने के लिए तो बनाया ही नहीं है···यदि उसे तुमसे नौकरी ही करवानी होती तो तुम्हें भगवान इतने बड़े विश्व ब्रह्माण्ड के इस देश में ही·····और सो भी असमय ही नौकरी करने को विवश करके भी इतनी अधिक विद्या-बुद्धि इतना तीव्र आत्माभिमान देकर क्यों भेजता ?' घने दुःख में भी बहन के भोलेपन पर अरुण तनिक-सा हँस दिया। उत्तर गिरिजा ने दिया—'कब किसे कौन क्यों विश्व में भेजता है इसकी मीमांसा फिर कभी कर लेना, मुनिया। इस समय चाय का पानी तो चढ़ा जरा।' मंजुला के मन में आया कि कह दे 'घर में तो दूध की बूँद भी नहीं है और न ही चाय की पत्तियाँ हैं···चाय कहाँ से बना कर दूँ और फिर आज ही से तो रूखी रोटी और दाल का भी साधन समाप्त हो रहा है।'···संस्कारवश कह नहीं पाई साथ ही उसे यह ध्यान आ गया कि इसी व्यक्ति की दौड़-धूप से तो उसे डेढ़ सौ रुपये की नौकरी ··हाँ···नौकरी मिली है···कुछ देर पूर्व ही वह गिरिजा शंकर से यह कहना चाहती थी 'गिरिजा भाई ! तुम अपने हो इसी से तो तुम्हें हम लोगों की इतनी चिन्ता रहती है किन्तु यह नौकरी मैं किसी प्रकार भी नहीं कर सकूँगी ··योग्यता के बल पर नहीं··· आवश्यकता के कारण भी नहीं केवल संस्तुति के बल पर पाई हुई यह नौकरी मुझे स्वीकार नहीं है···' उस समय कह नहीं सकी थी और अब कहने का अवसर ही कहाँ रह गया था···'वह अपने भैया की चिन्ता दूर करेगी···वह···' उसके पीले मुख पर क्षण भर के लिए लालिमा की रेखा दिखाई दी। कुछ हँस कर गिरिजा ने कहा—'लो बातचीत में भूल ही गया कि मुनियाँ के लिए मिठाई जो लानी है···आज तो यह हम सब को

मिठाई खिलायेगी न ?' और उत्तर की उपेक्षा किये बिना ही गिरिजा शंकर झट से बाहर की ओर चल दिया। मंजुला अभी तक बैठी ही थी। अरुण ने उसकी ओर देखते हुए पूछा—'किस बात की मिठाई, मंजु ?' और न जाने क्या सोचकर तुरन्त ही उत्तर सुने बिना ही उसके मुख से निकल गया—'कल से क्या होगा मंजु ?' अरुण के स्वर की कातरता मंजुला के हृदय को विदीर्ण कर रही थी। मंजुला ने धीरे से कहा—'गिरिजा भाई सूचना लाये हैं कि मुझे बालिका विद्यालय में लेक्चरर की जगह मिल गई है।' उसने कह कर भाई की ओर देखा। किन्तु वह सिर झुकाए अन्य-मनस्क-सा ही बैठा रहा। मंजुला ने भाई के निकट सरक कर कहा—'भैया ! तुम वकालत करना आरम्भ कर दो। भगवान ने चाहा तो चलेगी ही।' 'और तू नौकरी करेगी। मंजु।' उसके स्वर में मृत्यु की-सी शीतलता, शून्यता और नीरवता थी। मंजु मन-ही-मन काँप उठी किन्तु उसने पूर्व-वत ही शान्त सरल स्वर में कहा—'कुछ ही दिन तो।' अरुण का जी चाहा कि इस स्नेहमयी नारी की गोद में सिर रख कर बिलख-बिलख कर रो उठे···बाँध टूटने को ही था...अरुण नयन कोरों तक आये हुए अश्रुओं को आँखों में ही पी गया···उसका सिर चकरा रहा था। उसने मंजु से कहा—'मंजु ! चाय बना ले। गिरिजा कुछ न कुछ लाता ही होगा।' मंजुला चुपचाप उठ कर अपने कमरे में चली गई···वह भाई से कैसे कह दे कि घर में न दूध है और न चीनी चाय की पत्ती तक तो है नहीं·····हायरी विवशता·····किन्तु मंजुला को तो रोने की भी सुविधा कहाँ थी·····भैया को चाय देनी होगी·····रोगी पिता को दूध···दुर्बल जर्जर शरीर और मन वाली माँ को भोजन भी देना ही होगा। मंजुला ने बक्स से एक नन्हीं-सी अँगूठी निकाल ली उसकी आँखें भर आईं·····यह अँगूठी उसे उसके जन्म दिन पर मृदुला ने भेंट की थी·····कहाँ गई वह मृदुला जिसके साथ जीवन-मरण की प्रतिज्ञाएँ हुआ करती थीं और····· और मंजु भी तो उसे उसके जन्म दिन पर सदा ही कुछ-न-कुछ भेंट देती

अँगूठी सदा पहने रहना·····देख इसे कहीं तेरा दूल्हा भी न उतरवा ले, यह मेरे स्नेह का चिह्न है।' स्नेह·····क्या है स्नेह·····कहाँ जाते हैं अधिकांश दीन-दुखियों के स्नेह प्रतीक···भरी हुई आँखों से मंजुला ने कोठे पर से ही पड़ोसिन को बुलाकर उससे धीरे-धीरे बात करके अँगूठी उसके हाथ में दे दी। उसे जान पड़ा कि उसने अपना सर्वस्व पड़ोसिन को सौंप दिया है।

चाय बनी और पी भी गई। रात को अरुण ने मंजुला से केवल इतना ही कहा—'मंजु! तू काम कर ले···इसके बिना कोई चारा भी तो नहीं है।' उससे पहले और बाद अरुण एकबारगी मौन ही रहा किन्तु उन शब्दों में भी कुछ इतनी अधिक विवशता, वेदना और करुणा थी कि मंजुला मन-ही-मन काँप उठी। थोड़ी देर तक बैठ कर गिरिजा शंकर चला गया। रात को बिस्तर पर पड़े ही पड़े मंजुला को कल्पना में उस दिन का ध्यान आ गया जब कि मंजुला के जन्मदिवस पर प्रीतिभोज दिया जा रहा था। आनन्दित हर्षित अतिथियों के समूह के बीच मंजुला साम्राज्ञी-सी जान पड़ती थी···और···और···मृदुला ने कितने स्नेह से उसकी अँगुली में यह अँगूठी पहनाते हुए कहा था 'मंजु! यह अँगूठी सदा पहने रहना। देख, तेरा दूल्हा भी इसे कहीं उतरवा न ले···यह मेरे स्नेह का चिन्ह है।' और कितनी हँसी हुई थी उसकी इस बात पर। तब से मंजु वह अँगूठी सदा पहने ही रहती थी। इधर घर का काम-काज करने में वह कुछ मैली-सी होने लगी थी। तब एक दिन उसने उसे भली प्रकार धो-पोंछ कर बक्स में रख दिया था। एक-एक करके सारे माँ के और फिर अपने आभूषण निकल जाने पर भी उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि कभी इस अँगूठी को भी निकालना पड़ेगा। उसने मन-ही-मन कहा—'क्षमा करना मिन्नी! तुम्हारा अनुरोध न रख सकी किन्तु तुम्हीं को कहाँ रख सकी···मेरी बचपन की एक मात्र साथिन कहाँ हो तुम आज और ··और

तुम्हारी स्मृति का चिन्ह भी तो आज मेरे पास नहीं···किन्तु नहीं तुम्हारा स्मृति चिह्न वह अँगूठी ही तो नहीं थी जीवन की कितनी ही ऊँचाई निचाइयाँ···बचपन की कितनी ही कल्पनाएँ, भावनाएँ साथ-साथ पार करके आज हृदय के किसी भी कोने में तो तुम्हारे स्मृति चिह्नों का अभाव है नहीं···समाज के विभिन्न स्तर···सामाजिक जीवन के गहरे अन्तर···भी तो हमें···ओह ! उसे जान पड़ा कि उसका सिर फट जायगा···नींद आ ही नहीं रही थी उसने उठ कर सुराही से एक गिलास पानी लेकर पिया··· नीचे अरुण के कमरे में भी प्रकाश था···वह लौट आई···लेट गई; किंतु आँखों में नींद तो थी ही नहीं···मस्तिष्क का बोझ बढ़ता ही जा रहा था···उसे नौकरी करनी ही होगी···और उपाय भी क्या शेष था ··अच्छा ही तो है उसे जीवन के विभिन्न पक्षों का परिचय ही मिलेगा किन्तु नौकरी सो भी उन लोगों की अधीनता में जिनके निकट उसकी योग्यता नगण्य है, लगन नगण्य है और सत्य है केवल संस्तुति···किसी सत्ताधारी की संस्तुति । वह काँप उठी ।

१४

'तुम्हारे लिए सुविधाओं का अभाव नहीं है । कुँवर ! सुख और वैभव तुम्हारे चरणों पर लोटते हैं···अवसर तुम्हारे लिए प्रतीक्षा करता है···तुम कैसे समझ पाओगे उसे जिसके निकट सुख, सुविधा और अवसर आकाश-कुसुम हैं···जिसने जीवन में आशा को केवल आकाश पर चम-चमाते हुए ध्रुव तारे की भाँति ही जाना है···'

'यहीं तुम धोखा खा जाते हो अरुण मनोविज्ञान में एम० ए० पास कर लेने से ही कोई मनोविज्ञान का पंडित नहीं हो जाता भाई···किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि मेरे निकट सुख, सुविधा और अवसर आकांक्षा की वस्तुएँ नहीं हैं और वह भी इसलिए नहीं कि मैं त्यागी, बैरागी हूँ वरन इसीलिए कि मेरे जीवन में उनका बाहुल्य है···मुझे उनके लिए कभी

मुझे अपनी बिरादरी से सदा सर्वदा के लिए निर्वासित कर देना चाहते हो और यह भी विश्वास करते हो कि मैं तुम्हारे दण्ड को सिर झुका कर स्वीकार कर लूँगा।'

'नहीं-नहीं ऐसी बात नहीं है कुँवर साहब किन्तु···' 'किन्तु परन्तु की बात जाने दो, भाई! जीवन अत्यन्त जटिल है उसे समझ पाना कुछ उतना सरल नहीं है फिर भी मैं यह मानता हूँ कि मानव के साधारण जीवन में सुख-सुविधाओं का महत्व है किन्तु वे ही उसके जीवन का एक-मात्र वरदान है यह समझने की भूल तुम कभी भी न कर बैठना।' स्वर में कुछ मस्ती भी थी और कुछ वेदना भी। 'ऐसा कहना आपको शोभा देता है—क्योंकि आज आप को यह सोचना नहीं पड़ता कि चीनी की मिल में छः मास काम करने के पश्चात् शेष मास के लिए भोजन-वस्त्र जुटा सकने योग्य धन कहाँ से मिलेगा, आप को यह नहीं सोचना पड़ता कि कठिन रोगग्रस्त हो जाने पर अपने और परिवार के भरण-पोषण का क्या प्रबन्ध किया जाय···ओह, यह तो दूर की बात है आपको यह भी नहीं सोचना पड़ता कि किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाने पर उसके कफ़न के लिए, दाह संस्कार के लिए प्रबन्ध किस प्रकार किया जाय···'

'बस करो, भाई! बस···समाज के सब ही अभिशापों का वर्णन क्या यहाँ एक साथ ही कर डालोगे किन्तु तुमने क्या कभी उस व्यक्ति की पीड़ा का भी अनुमान किया है जिसके चारों ओर सुख-सुविधाओं का जाल बिछा हो और फिर भी वह उन सबके बीच मरुस्थल में तृषित मृग की भाँति अपने निजी किसी एक आदमी के स्नेह की बूँद पाने के लिए तड़प रहा हो, जहाँ न तो सहानुभूति ही मिलती हो और न स्नेह ही···मिलती हो केवल, मात्र खुशामद, चाटुकारिता···और···और···'

'जीवन में···मानव जीवन में स्नेह की आवश्यकता होती है कुँवर साहब किन्तु उससे भी अधिक आवश्यकता है रोटी की···कपड़े की···

कल्पना जगत की बात नहीं कहता किन्तु यथार्थ···ठोस धरातल पर तो···'

कुँवर साहब इतने जोर से हँस पड़े कि कमरे की दीवारें तक काँप उठीं···अरुण अप्रतिभ होकर चुप हो रहा किन्तु भली-भाँति तृप्तिपूर्वक हँस चुकने पर कुँवर साहब ने बहस का अन्त-सा करते हुए कहा—'जाने दो, हो सकता है कि तुम्हारी ही बात सत्य हो; किन्तु···'

'कुँवर साहब आज से तीन दिन पूर्व की ही बात है···वहाँ उस नीम के पेड़ के नीचे खड़े होकर चन्दन ने धरती पर माथा रख कर आपसे पचास रुपये की भीख माँगी थी । कारण पूछने पर उसने कहा था कि उसकी स्त्री का शव दाह-क्रिया की प्रतीक्षा में घर में अकेला पड़ा है और वह बाहर घूम-घूमकर पैसों का प्रबन्ध कर रहा है । और···'

'और मैंने उसे बहुत रोने-पीटने पर भी केवल तीस रुपये ही दिए थे और शायद तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा कि उसमें से भी उसने दस रुपये की ताड़ी पी डाली···उसी दिन···उसी समय शव की दाह-क्रिया से पूर्व ही···'

अरुण अत्यधिक उत्तेजित हो गया था । उसने तनिक उत्तेजित स्वर में कहा—'किन्तु इस प्रकार की मनोवृत्ति के लिए भी कौन उत्तरदायी है कुँवर साहब ? आपके पास धन है, सुविधा है···आप लोग क्लब में बैठ कर ड्रिंक करते हैं और करते ही जाते हैं जब कि आपके घर की स्वामिनी, नारी आपकी प्रतीक्षा में भोजन लिए बैठी रहती है अथवा क्लब के ही किसी निर्मम सदस्य के साथ बैठी आपकी ओर चकित, व्यथित एवं उदासीन दृष्टि से देखती हुई तिल-तिल कर नित्य ही घुलती-मरती जाती है···और···और वह···वह निर्धन है···उसे साँझ के झुटपुटे में अपनी प्रेयसी का शव टूटे-फूटे झोंपड़े में अकेला छोड़ कर उसकी अन्तिम क्रिया करने योग्य धन जुटाने के लिए दर-दर घूम कर भिक्षा प्राप्त करना होता है···उस दारुण वेदना के प्रबल उत्ताप में···वह···'

'हाँ समाज उत्तरदायी है किन्तु···'

'काश कि आप लोग···सुविधाप्राप्त लोग समाज की इस अव्यवस्था की वेदना का अनुभव कर पाते···'

'नहीं कर पाते, बस इतना ही तुमने जाना है न किन्तु जाने दो मित्र···' कुँवर साहब कुछ चुप हो गये और उन्होंने अपना सिगार मुँह से लगा लिया। स्वास्थ्य और यौवन की लालिमा से दीप्त मुख की छवि संध्या से घटते हुए प्रकाश में और भी अधिक उज्ज्वल हो उठी। अरुण ने थोड़ी देर के लिए उस प्रियदर्शी मुख की ओर देखा किन्तु अकारण ही उसका मन उदास हो उठा। उसे अपने पड़ोस के उस युवक का सुन्दर मुख कल्पना में दिखाई देने लगा जिसने अत्यधिक परिश्रम से बी० ए० तो प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर लिया था; किन्तु फिर यक्ष्मा का शिकार हो गया था·····उसे स्पष्ट ही उसके मुख की दोनों छवियाँ साथ-साथ दिखाई देने लगीं·····एक उस दिन की जब कि वह ग्राम से नगर में पढ़ने के लिए जा रहा था·····स्वस्थ, सुन्दर, सबल शरीर और स्वास्थ्य एवं यौवन की लालिमा से दीप्त मुख·····और दूसरा उस दिन जब वह नगर से पुस्तकों के ढेर के साथ-ही-साथ दुर्बल, रोगी शरीर एवं कान्ति-हीन पीला मुख लेकर गाँव में आया था। दरिद्र विधवा माँ अपने अकाल वृद्ध पुत्र की ओर देखकर हाहाकार कर उठी थी और उस क्रन्दन की ध्वनियों में तीव्रता तो उस समय आई थी जब ग्राम के वैद्य ने रोग का निदान करते हुए उसके लिए औषधि, पथ्य आदि की व्यवस्था सुनाई थी। विधवा के आभूषण गिरवी रखे थे·····थोड़ी-सी धरती बँटाई पर थी किन्तु उससे तो रूखा-सूखा भोजन भी नहीं मिल पाता था·····लड़का बी० ए० पास कर चुका है और वह भी सम्मान सहित। माँ बिचारी तो उसी के भरोसे पर अपनी सारी पूँजी लुटा बैठी थी·····' कहते-कहते वह रुक गया। उसने देखा कि कुँवर साहब का ध्यान उसकी बातों की ओर नहीं था। वह सोचने लगा कि वह दरिद्रा भोजन का जुगाड़ नहीं कर पाती

थी और·····और कुँवर साहब के हाथ के फुँकते हुए सिगार से उसके दो जून के भोजन का, दो दिन का तो भली प्रकार काम चल ही सकता था··· उससे कुछ अधिक ही मूल्य का होगा यह सिगार···सुधीर अन्य मनस्क हो उठा था। दाहिने हाथ का सिगार बायें में लेकर कुँवर साहब ने धीरे से कहा—'अरुण ! विश्वास करो अभिशप्त देवदूत की भाँति वह वर्ग भी तो विकल है जिसे तुम सुख-सुविधाप्राप्त कहते हो, मानते हो। मैं जानता हूँ कि इसके पक्ष में देने के लिए मेरे पास कोई तर्क ही नहीं है। यह भी जानता हूँ कि मेरी माता ही और वह ही क्यों उनकी ही तरह अनेक अभिजातवंशीय व्यक्ति यह कह उठते हैं कि यह कैसा अंधेर है कि राजाओं की संतानें आज भिक्षुक बना दी गई हैं·····अरे जिसे भगवान ने दिया है उसे उसका उपयोग क्यों न करने दिया जाए·····पहली बार विदेश में जब मैंने इंजीनियरिंग कॉजिल में स्वेच्छा में पढ़ना आरम्भ किया तो मेरी माता ने यह साफ-साफ लिख दिया था कि मेरा पुत्र कुली-मजदूर नहीं हो सकता·····जिसका जो स्थान है वही रहना शोभा देता है; किन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि यह व्यवस्था और अधिक देर तक नहीं चल पायेगी। मानव जिस समय 'मानवत्व' का मूल्य समझने लगता है तब उसे बरबस दबाये रहना कठिन हो जाता है। 'कमीने सिर ही चढ़े जा रहे हैं।' इस कथन में जितनी विवशता, विकलता, और झुँझलाहट है उसे तुम क्यों नहीं समझ पाते हो ? भाई !'

'किन्तु वह अपने कर्मों का फल ही तो भोग रहे हैं, कुँवर साहब। युगों तक·····युगान्तरों तक एक मानव ने दूसरे मानव को जो क्रीत दास बनाकर रखा, वह भला किस अधिकार से·····क्यों ? उसे ऐसा करने का क्या अधिकार था किन्तु उसने किया ही·····सत्ता के नाम पर·····भगवान के नाम पर··· सामाजिक व्यवस्था के नाम पर किन्तु अब तो दूसरा मानव भी यह समझ गया है कि वह भी मानव ही है, अतः वह अपने शरीर के समस्त रक्त और प्रस्वेद तथा हृदय की समस्त कोमल भावनाओं को रगड़

कर, घोंट कर, कुचल कर उनसे मुट्ठी भर लोगों को अभिजातवंशीय कहकर सुख-सुविधाओं का ढेर जुटा कर नहीं दिला सकेगा। तब भला पहले मानव को झुँझलाहट क्यों हो और यदि होती ही है तो उसका उपाय भी क्या है ?'

'किन्तु ऐसी मनोवृत्ति भी तो किसी ने दी ही होगी·····उसका इसमें क्या दोष है भाई। वह भी तो ठीक उसी तरह सामाजिक व्यवस्थाओं, सामाजिक वातावरण और सामाजिक सांस्कृतिक उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति की देन ही है जिस प्रकार कि दूसरे मानव की मनोवृत्ति उसके समाज की देन है। एक दिन मैं अकेला घूम-फिर कर लौट रहा था। घोड़ा भी प्यासा था और मैं भी। एक खेत की मेज के निकट ही कुँआ था·····एक स्त्री पानी भर रही थी···घोड़े से उतर कर मैंने उससे पीने को जल माँगा·····स्त्री ने कहा—'कि खींच कर पीलो।' किन्तु कुँए पर न तो लोटा था और न डोर। स्त्री अपना घड़ा भर चुकी थी। मैंने उससे कहा—'कि उसी में से थोड़ा-सा जल पिला दो।' किन्तु उसने स्पष्ट ही कह दिया—'भाई ! मैं चमारिन हूँ। तुम्हारा धर्म भ्रष्ट नहीं करूँगी।' मेरे बार-बार यह समझाने पर भी कि मैंने यूरोप में यथेष्ठ मलेच्छ अन्न-जल भक्षण-पान किया है फिर भी वह मुझे इस देश की धरती पर प्यासे होने पर भी जल पिलाकर भ्रष्ट करने को तत्पर नहीं हुई·····यह मनोवृत्ति उसे कहाँ से मिली····· प्यास से प्राण कण्ठ तक आ जाने पर एकादशी को विधवा को जल न पीने की मनोवृत्ति कहाँ से मिली·····'

'किन्तु वह उद्गम भी तो परिवर्तित किया जा सकता है। एक दिन मानव ने ही तो उस व्यवस्था को जन्म दिया था···भले ही अल्पसंख्यकों के स्वार्थ की दृष्टि से दिया हो अथवा केवल शुद्ध सामूहिक हित की ही दृष्टि से किन्तु आज मानव ही उसे तोड़-फोड़ कर नवीन का निर्माण भी तो कर सकता है।'

स्वर में हारने की खीज नहीं थी और जीतने की विजय का अभिमान

भी नहीं किन्तु कुछ कर गुजरने की दृढ़ता अवश्य थी। उत्तर सीधा था 'अवश्य कर सकता है और करे·····'

'आप लोग करने दें तब तो करें।'

'लो हमें ही उखाड़ फेंकना चाहते हो और हमारी ही सहायता से··· भाई यह तो हमसे न होगा।' कहकर कुँवर वीरेश्वर प्रताप सिंह मुक्त हँसी बिखेरने लगे। सुधरि ने इस बार कुँवर साहब का हाथ पकड़ कर कहा— 'कुँवर! तुम्हें उस दिन नहीं समझ पाया था दिस दिन सर्व प्रथम तुम्हारे दर्शन किए थे किन्तु मेरे लिए तो तुम आज भी उतने ही दुर्बोध हो, भाई!'

'दुर्बोध होने में पर्याप्त आकर्षण है अरुण।' कह कर कुँवर कुटिल मुस्कानभरी दृष्टि से उसकी ओर देखने लगा। उसने फिर कहा—'आत्म-विश्लेषण करने में मेरा विश्वास नहीं है। स्वयं अपने विषय में सोच-विचार करना मेरा स्वभाव भी नहीं है और ऐसा करने की मेरी इच्छा भी नहीं है किन्तु इतना तो अपने विषय में मैं भी जानता हूँ कि सुख-सुविधाएँ मेरे लिए सहज स्वाभाविक बनकर जीवन भर मेरे साथ रहीं। यहाँ तक कि जमींदारी उन्मूलन हो जाने पर भी मेरे लिए उनका अभाव नहीं हुआ·····मैं उनमें सर्वथा लिप्त ही होऊँ अथवा उनसे मुझे प्रेम ही हो यह भी सत्य नहीं है किन्तु यह भी ठीक है कि सहज ही मैं उन्हें छोड़ना भी नहीं चाहता हूँ। किसी आदर्श के नाम पर भी नहीं·····'

अरुण फिर तनिक उत्तेजित हो उठा था। 'त्याग करना सहज नहीं होता है कुँवर साहब! और वैसा कर पाना सबके वश का कार्य भी नहीं है।'

'हाँ और इसीलिए तो मैं मानव हूँ।' हँसी का ऊँचा स्वर फिर गूँज उठा।

'तब क्या त्याग करना मानव का कार्य नहीं है?'

'महामानव का हो सकता है, अति मानव का हो सकता है किन्तु

मानव, अत्यन्त साधारण मानव तो प्राप्ति चाहता है·····ग्रहण करना चाहता है·····यही स्वाभाविक है·····यही प्राकृतिक है·····यदि ऐसा न होता तो किसी एक का त्याग दूसरे के ग्रहण करने से सम्बन्धित क्यों रहता और सबके ही त्याग देने पर ग्राह्य भला वह किसके लिए हो पाता ? त्याग में कोई नैसर्गिक सौंदर्य हो, ऐसी बात नहीं है। अन्य अनेकों प्रचलनों की भाँति यह भी प्रकार विशेष के सम्बन्धों में प्रथा एवं प्रचलन मात्र ही है अन्यथा मानव के लिए तो प्राप्ति ही स्वाभाविक है ?'

'तब क्या प्रत्येक मानव का स्वार्थ ही उसका धर्म है ?'

ऐसा कैसे कहूँ ? मानव ने युग-युगान्तर के अनुभवों के आधार पर जिस सभ्यता का विकास किया है उसे क्षण मात्र में ढा देना मेरी शक्ति से बाहर है किन्तु स्वार्थ है भी क्या ? मानव तो कभी और कहीं भी एकाकी नहीं होता···अब रह जाता है प्रश्न केवल इतना ही कि उसके 'स्व' की परिधि कितनी है, उसकी सीमाएँ कहाँ तक हैं ? अपने लिए अपनी मुक्ति के लिए, अपने अनंत सुख के लिए तपश्चर्या करना क्या स्वार्थ नहीं है ? यदि है तो क्या उसका महत्व केवल इसीलिए बढ़ गया कि उस 'स्व' की सीमाएँ शरीर से कहीं अधिक दूर पर जाकर व्यथित आत्मा अथवा मनस अथवा अन्य क्षेत्रों तक छा गई···देश के लिए प्राण त्याग करने वाले का स्वार्थ क्या 'स्व' की सीमाओं को देश तक व्यापक कर डालना नहीं है···और··· और···'

'यह सब क्या उलझन है ? स्वार्थ के नग्न स्वरूप को न सहन कर सकने के कारण की व्याख्या क्या 'स्व' के अर्थ-विस्तार के रूप में करके उसे सिद्ध करना ही अभिजात वर्ग का उद्देश्य रहा करता है···क्या इसी एक आधार को लेकर···' सुधीर का स्वर तीव्र हो गया था ? कुँवर ने हँसते हुए कहा—'और तुम्हारी यह अकारण उत्तेजित होने की प्रवृत्ति क्या तुम्हारे तर्क के, विचार के दिवालियेपन की द्योतक नहीं है ?' स्वर में सहज ममता

थी। वह झेंप गया। उसने तनिक-सा मुस्करा कर कहा—'व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ऐसा विकास जिसमें दिवालियेपन का अभाव हो, भी तो सुख-सुविधाओं के बीच ही हो पाता है···कुँवर साहब शान्ति, तर्क, विचार, धैर्य यह सब क्या तब ही नहीं सूझते हैं जब कि पेट भरा हो···आपने भूख की तीव्र लपलपाती हुई जिह्वा नहीं देखी है···किन्तु मैंने देखी है वह भयंकर पीड़ा···जठराग्नि की तीव्र ज्वालाएँ भी देखी हैं। उनमें कब अनजाने में ही तर्क एवं विचार मात्र ही नहीं विश्वास और संस्कार तक जल कर भस्म हो जाते हैं सो सहज ही जान नहीं पड़ता।' उसका स्वर निर्जीव-सा था किन्तु उसमें सत्य की ध्वनि थी।

नौकर चाय की ट्रे ले आया था। सामने की तिपाई पर चाय रख कर नौकर चला गया। कुँवर ने हँस कर गरम पकौड़ों की प्लेट अरुण की ओर बढ़ा कर कहा—'लो इस समय तक तो जठराग्नि की तीव्र ज्वालाएँ शान्त करने की सामग्री सुलभ है। इसका ही सदुपयोग करें।' अरुण हँस नहीं सका···मुस्करा भी नहीं सका···एक दीन-सी···मटमैली-सी···बुझी-बुझी-सी हलकी-सी करुण मुस्कान उसके होठों को छूती हुई न जाने कहाँ विलीन हो गई। उसने अन्यमनस्क भाव से एक प्लेट में दो-तीन पकौड़े रख लिये और फिर उनमें से एक को उठा कर खाने लगा। कुँवर दो प्यालों में चाय ढाल रहे थे। अचानक उसने कुँवर की ओर देख कर कहा—'कुँवर साहब! क्या सचमुच ही आपकी दृष्टि में परोपकार···परहित, निज-स्वार्थ त्याग आदि सब कुछ स्वार्थ के ही विभिन्न स्वरूप हैं? क्या आप स्वयं कष्ट उठा कर भी दूसरे को सुख पहुँचाने की भावना को भी स्वार्थ की सीमाओं के भीतर ही ले आते हैं और इस सब को केवल 'स्व' की विभिन्न परिभाषाओं, सीमाओं द्वारा ही समझा सकते हैं?'

'यह जान कर तुम्हें लाभ ही क्या होगा?' उत्तर में एक दूसरा प्रश्न इस सरलता से कुँवर ने इस तरह किया कि वह अचकचा गया। उसने

किसी प्रकार सँभल कर कहा—'यों ही केवल जिज्ञासा शान्त करना चाहता था।'

'तब जाने दो। उत्तर नहीं दे पाऊँगा किन्तु यह जान लो कि मानव-मन उस समय तक सुखाभिलाषी रहता ही है जब तक कि वह 'निज और पर' के अन्तर को सर्वथा भूल नहीं जाता।'

'व्यक्ति का मन स्वार्थी हो सकता है और उसके 'स्व' की सीमाएँ, यह भी सम्भव है, कि घनिष्ठ सम्बन्धों तक ही रह जाती हों, किन्तु क्या इसी कारण, इसी आधार पर समाज सदा सर्वदा कुछ व्यक्तियों के स्वार्थ का शिकार अन्य व्यक्तियों को होने ही देगा···होते रहने ही देगा···और ऐसा करना क्या उचित है?' प्रश्न में जिज्ञासा ही अधिक थी।

'समाज है क्या भाई? व्यक्तियों का समूह-मात्र ही तो। वह क्या कर सकता है···करते तो हैं व्यक्ति ही···और व्यक्ति भी कहाँ करते हैं? साम्राज्य तो होता है विचारों, सिद्धान्तों और विश्वासों का ही।'

'तब तो और भी समुचित कारण आ जाता है यह कहने के लिए कि मानव द्वारा मानव पर ही होने वाले अत्याचारों का अन्त होना ही चाहिए।'

'किन्तु ऐसा विचार सर्वजनसम्मत हो ही गया है यह तुम कैसे कह सकते हो?'

'स्वच्छन्दता, स्वतन्त्रता और अराजकता के युग में यही विश्वास रहा होगा कि बलशाली व्यक्ति की अधीनता उसकी सत्ता, उसकी आज्ञा अपेक्षाकृत न्यून बलवाले व्यक्ति को मान कर ही चलना होगा। युद्ध में हार जाने पर परास्त व्यक्ति को, विजित को विजेता का दास होना ही पड़ेगा, उसकी सब ही इच्छाओं को स्वीकार करना होगा···और वैसा हुआ भी है,··· फिर···फिर···युग बीते। सम्भवतः बल के महत्व का, उसकी महत्ता का विश्वास कुछ इतना गहन हो गया कि स्वयं बलवान व्यक्ति ही पूजनीय नहीं बन गये वरन् उनकी सन्तति भी उतनी ही पूजनीय हो गई···और यह

मान्यता चलती रही। अनेकों न्यून बलशाली व्यक्तियों का मान, महत्व उस एक बलशाली के महत्व के अधीन होकर रह गया। यह भी चला होगा दीर्घ काल तक और फिर वह अतुल महत्वशाली व्यक्ति···शासक बन बैठा। उसका कुल राजकुल हो गया और मानव के महत्व में भेद-प्रभेद का जन्म हुआ, बढ़ता गया···अभिजात कुल की···उच्च वंश की सृष्टि हुई और होती ही गई···मानव निरा मानव···एक-दूसरे से दूर, दूर परे हटता ही चला गया···सचमुच कहानी नहीं कह रहा हूँ भाई···और एक समय वह भी आया जब कि एक मानव ने यह विश्वास करना ही अपना धर्म समझ लिया कि वह दूसरे से भिन्न ही नहीं वरन् हेय है और दूसरे ने समस्त मन-प्राण से यह ही समझ लिया कि वह उससे श्रेष्ठ है···उच्च है···'क्यों ?' यह पूछना दोनों ही भूल गए···पहला तो इसलिए नहीं भूला कि वह उसके लिए सुविधाजनक था वरन् इसलिए भूला रहा कि इसके अतिरिक्त और कुछ तो उसने कभी जाना ही नहीं था और दूसरे के लिए भी लगभग भूलने का यही कारण था।'

'किन्तु यह तो मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं है कुँवर साहब।'

'यही उत्तर है भाई। आज अचानक जब तुम उचित-अनुचित का नवीन मापदण्ड लेकर खड़े होते हो तो दोनों ही दल चौंक कर तुम्हारी ओर देखने लगते हैं और तुम कह उठते हो कि यह सब दोष समाज का ही है···यह सत्य है कि बल से कुल और कुल से धन ही महत्व का मापदण्ड हो गया किन्तु सब ही अवस्थाओं में प्राधान्य तो विचार एवं विश्वास का ही रहा। किसी भी एक व्यक्ति की शक्ति अनेकों की सामूहिक शक्ति से अधिक तो किसी दिन भी नहीं थी किन्तु जब समूह ने, सामूहिक शक्ति ने व्यक्ति की शक्ति के सम्मुख विश्वास के आधार पर घुटने टेक दिए तब ही व्यवस्था का जन्म हुआ और वहीं से तो मानव की दासता का जन्म हुआ।'

'यह तर्क तो विकृत है···व्यवस्था और दासता का जन्म स्थान एक

नहीं हो सकता···कदापि नहीं हो सकता' 'तुम यही तो कहोगे कि व्यवस्था वह है जहाँ कि अनेक स्वेच्छा से एक को आत्मसमर्पण कर दें अथवा अपने अधिकारों का एक अंश समर्पित कर दें और उसके बदले में उन्हें सुरक्षा का आश्वासन अथवा कुछ ऐसी ही वस्तु की प्राप्ति हो जाए, जबकि दासता वह है जहाँ कि केवल एक के द्वारा दूसरे को दिया जाना, देते जाना, देना ही हो पाने का प्रश्न न हो और वह देना भी देना न होकर दूसरे पक्ष की ओर से लेना···बरबस लेना मात्र ही हो··· 'स्वेच्छा' जहाँ केवल एक ही पक्ष की अधिकृत वस्तु हो···किन्तु स्वेच्छा क्या सदा सर्वदा 'स्व' एक मात्र 'स्व' इच्छा ही होती है···और 'स्व' क्या सदा सर्वदा पूर्वतया स्वतन्त्र रूप से विकसित 'स्व' ही होता है···'स्व' क्या उन संस्कारों के बन्धन में जकड़ कर पाला हुआ, विकसित किया हुआ 'स्व' नहीं होता जिसे हम सांस्कृतिक उत्तराधिकार में प्राप्त परिवार, जाति अथवा देश की सम्पत्ति कहते हैं···अरुण ! हमारे घर की ही बात है···किसी एक छोटी-सी बात पर एक बार मामा ने मामी का घोर अपमान किया और उन्हें लगभग त्याज्य घोषित कर दिया। मैं बालक ही था, किन्तु मामी के अकारण किए गए तीव्रतम अपमान से तड़प कर जब मैंने उनसे कहा— 'मामी ! तुम इस अत्याचारी व्यक्ति को छोड़ कर कहीं चली क्यों नहीं जातीं' तो उन्होंने अत्यन्त सरलता से आँखों में आँसू भर कर कहा—'भैया ! स्त्री जो हूँ···पति के चरणों के अतिरिक्त और स्त्री का ठीक-ठिकाना है भी कहाँ ?' ध्वनि ठीक वैसी ही रही होगी जैसी कि किसी दास के मुख से उस समय निकलती होगी जब कि कोई उसके स्वामी के असह्य अत्याचार देख कर उससे कहता—'कहीं भाग क्यों नहीं जाते ?' और वह उत्तर देता— 'भाई ! स्वामी के अतिरिक्त और मुझे आश्रय देगा ही कौन ?' स्नेह की दासता की बात नहीं करता किन्तु विचार और संस्कारजन्य दासता को ही किसी युग में 'व्यवस्था' कहा जा सकता है और किसी अन्य काल में 'अनुशासन' किन्तु उसी को तो कभी 'दासता' भी कहा जाता है। मैं मोटर

खरीदने गया था···मैं था ग्राहक और वह था दुकानदार···उसने मुझे बैठने को कुर्सी दी मेरा स्वागत किया और हम दोनों समानता के स्तर पर खड़े होकर सौदा करते रहे···मेरा बेयरा भी तो विक्रेता है और मैं ग्राहक··· वह श्रम विक्रय करता है और मैं उस श्रम को क्रय करता हूँ। हमारा इसी आधार पर समझौता हो गया है किन्तु मैं कुर्सी पर बैठ कर चाय पीता हूँ और वह खड़ा रहता है···क्यों ? इसीलिए तो कि ऐसी ही व्यवस्था है, नियम है···किन्तु ऐसा नियम क्यों है ? यह समाज का अनुशासन है··· नियम, व्यवस्था, अनुशासन···क्या इन्हीं शब्दों में खिंचा बँधा मानव··· बलि के लिए बँधे मूक पशु तुल्य दीन नहीं हैं।

अरुण को आश्चर्य हो रहा था कि यह शराबी व्यक्ति भी ऐसे विचार रख सकता है। उसे कुछ विचित्र भी लगा।

'तब तुम चाहते क्या हो ? समाज में घनघोर अत्याचार, मानव का घना अन्तर, धन का प्रभुत्व या तो बना रहे और या अव्यवस्था का, अराजकता का ही साम्राज्य हो जाय ?'

'मैं तो इस समय यही चाहता हूँ कि तुम गाजर के स्वादिष्ट हलवे की यह प्लेट साफ कर जाओ।' और वह स्वयं ही ठठाकर हँस उठा।

अरुण के मस्तिष्क में खलबली मच गई थी···कैसा है यह विचित्र तर्क किन्तु इसमें सत्य की गन्ध है···एक मानव जब कि दूसरे मानव का महत्व उसकी बुद्धि की शुद्धता, चरित्र की दृढ़ता और हृदय की निर्मलता के कारण नहीं मानता तो फिर मानता ही क्यों है···सम्भवतः संस्कारजन्य विश्वासों के ही नाते···सम्भवतः व्यवस्था की लौह-लीक के ही कारण···किन्तु ऐसा होना क्या आवश्यक है ? और न होने पर क्या अव्यवस्था नहीं फैल जायेगी ? क्या मानव मन सदा सर्वदा उतना सतर्क, निश्चिन्त और सरल रह पायेगा कि वह नियम न होते हुए भी नियमितता में स्वेच्छा से बँध कर चलता रहा···अनुशासन का दण्ड न होने पर भी अनुशासित रहे···और किसी भी प्रकार की शृङ्खलाएँ न होने पर भी सरलतापूर्वक चलता रहे

तथा···मार्ग···बँधा-सधा सीधा-साधा एक-सा मार्ग न होने पर भी प्रशस्त विश्व भूमिका पर अपना मार्ग बनाता हुआ चलता ही जाय और···और उसके दोनों सुदृढ़ पग न तो डगमगायें ही और न गलत ही पड़े ?'

वह चुपचाप सोचता ही रहा। कुँवर साहब ने चाय का प्याला उठाकर स्वाभाविक मुस्कानसहित मुख से लगा लिया। उनकी दृष्टि बराबर चिन्तित, चकित, विचारमग्न अरुण की ही ओर लगी हुई थी। अरुण सोच रहा था कि यह सब क्यों है, किसलिए है और कब तक रहेगा ? दार्शनिक व्याख्या कुछ भी हो·····तार्किक उलट-फेर चाहे जो हों किन्तु मानव की पीड़ा की चिकित्सा के लिए तो इस युग के मानव को खोज कर लाना ही होगा। उसके विश्वासों को, यदि वह निर्जीव है, निष्प्राण हैं···तो नष्ट करना ही होगा···उनकी भस्म पर फिर से नव निर्माण करना ही होगा··· एकाएक वह बोल उठा—'वीरेश्वर···तुम्हें समझने की चेष्टा करूँगा···तुम या तो पूर्णतया धूर्त हो अथवा अत्यन्त सरल हृदय···निष्पाप और···' पहली ही बार उसने कुँवर साहब न कह कर 'वीरेश्वर' कहा था···कुँवर की इस बार मुस्कराहट में अपूर्व ममत्व थी और थी सहृदयता। उसने मीठी मुस्कानसहित कहा—'तब यही करो अरुण। अपनी थीसिस मुझे भी दिखा देना, भाई !' कुँवर के कहने के ढङ्ग पर दोनों ही हँस पड़े। चाय के प्याले फिर से भरे जा रहे थे और सुधीर की दृष्टि में तनिक से ममत्व का आभास था।' तर्क की बात जाने दो किन्तु क्या वास्तव में ही वीरेश्वर तुम्हें केक, पेस्ट्री, मक्खन, घी, दूध-मलाई खाते और विलायती मदिरा पीते हुए कभी भी उस अभागे बेयरा का ध्यान नहीं आता जो कि सम्भवतः स्वयं तो तुम्हारे दस्तरखान के जूठे किन्तु मीठे टुकड़े पा ही जाता है किन्तु जिसकी दुखिया पत्नी, जिसके अबोध नन्हें बच्चे गाँव के किसी कोने में पड़े सूखे टुकड़े कठिनाई से ही पाते होंगे।' 'नहीं भाई ! ऐसी बात नहीं है। ये बेयरा और इनके घर वाले तो सम्भवतः ग्राम की घनी जनता में से ही हैं किन्तु तुम्हारा प्रश्न भी मैं समझ गया हूँ···मुझे उन अभागों का ध्यान नहीं आता यह तो

कैसे कहूँ जिन्हें कि दो समय का अन्न जुटाना भी कठिन होता है किन्तु मैं अभ्यासवश, आलस्यवश और संस्कारवश इससे आगे बढ़ ही नहीं पाता। जानते हो जब योरप से लौट कर पहले-पहल मैंने मिल का काम देखना आरम्भ किया था तो मस्तिष्क में बड़ी-बड़ी योजनाएँ थीं श्रमिकों के हित-साधन के लिए, किन्तु कहाँ ? कुछ भी तो नहीं हो सका। डाइरेक्टरों ने कहा—'कुछ दिन ठहर जाओ यूरोप की हवा तनिक ढल जाने दो···' माँ ने कहा—'बेटा ! वर्गवाद तो विश्व में सदा रहा है और रहेगा भी···यह तो सब अपने कर्मों का फल है।' और धीरे-धीरे मैं भी वह सब भूल गया···आज जब कभी सोचता भी हूँ तो स्वयं ही अपनी उन योजनाओं पर हँसी आ जाती है।'

अरुण ने कुछ कहना चाहा किन्तु कह नहीं पाया। कुँवर बड़े आनन्द से धीरे-धीरे चाय की चुस्की लगा रहे थे। अरुण को ऐसा लगा कि वह कुँवर साहब की ओर आकर्षित होता जा रहा है। कुँवर ने उससे अनेकों बार आग्रह किया था कि वह उसे केवल 'वीरेश्वर' ही कहे, किन्तु वह कभी भी प्रयत्न करके भी ऐसा नहीं कर पाता था। उसे आश्चर्य हुआ कि आज वह सहज में ही 'कुँवर' को कैसे 'कुँवर साहब' से 'वीरेश्वर' बना पाया है। कुँवर के व्यक्तित्व के विचित्र आकर्षण ने मानो उसको अभिभूत कर लिया था और वह कुछ कह भी तो नहीं पा रहा था। उसका जी चाहा कि इस उद्धत, धनी विचित्र युवक को एक बार फिर घृणा की दृष्टि से देख सके। यह मदिरा पान करता है···क्लब में युवतियों के साथ घूमता, फिरता, नाचता है···और फिर बड़े मजे में बैठकर सब ही विषयों पर तर्क भी करता है···धूर्त कहीं का किन्तु उसके व्यवहार में सहज आत्मविश्वास है···दृढ़ता है, और है स्वाभाविकता···झिझक का····· हीनत्व का तो कहीं नाम भी नहीं है और···और···यह सब हो भी कहाँ से···जन्म से ही जिसने कभी अभाव···नकार···दुत्कार से परिचय ही नहीं पाया हो उसमें आत्मविश्वास का सहज ही उदय तो होगा ही। उस

रात्रि को अरुण को स्वप्न में भी कुँवर साहब के तर्क के साथ उलझता-पुलझता रहा किन्तु उनका व्यक्तित्व उसे बुरी तरह प्रभावित कर रहा था। कुँवर उसके चले जाने के बाद अकेले ही रह गए थे। बेयरा ने आकर रेडियो चला दिया। पंजाबी संगीत आ रहा था···कुछ देर तक सिगार के धुएँ से गोले बनाते हुए कुँवर धैर्यपूर्वक संगीत सुनते रहे किन्तु रह-रहकर उनकी तबियत उखड़ती-सी जाती थी···उन्हें ध्यान हो आया था उस अभागे मानव का जिसकी पत्नी का शव घर में अकेला पड़ा है और जो कुछ रुपये एकत्रित करने के लिए उसके द्वार पर नाक रगड़ रहा था···संगीत आ रहा था···'डोली चढ़दियाँ भारी हीर कूँका···मैं तूँ ले चले बाबुला···' कुँवर ने उठ कर स्टेशन बदल दिया पश्चिमी संगीत के स्वर गूँजने लगे ···रेडियो को तनिक धीमा करके कुँवर ने कमरे में दो चक्कर लगाए। वह भावुक नहीं था···भावुकता से उसे प्रेम भी नहीं था···जीवन के प्रति उसका कुछ वैसा घना ममत्व भी नहीं था किन्तु विरक्ति तो नाम मात्र को भी नहीं थी···संस्कारों ने उसे अभिजातवंशीय तो मन-प्राण से बनाया ही था किंतु मन के किसी कोने में कभी-कभी वे प्रवृत्तियाँ भी जग उठती थीं जिनका जन्म उसके मन में यूरोप प्रवास काल में हुआ था और जिन्हें साधारणतया उच्च वंशीय धनी मानी लोग 'सनक' कह कर पुकारते हैं। कुँवर सोच रहे थे···मैं इतना दुर्बल क्यों हूँ ? जीवन का कोई भी निश्चय कभी भी पूरा क्यों नहीं कर पाता हूँ और फिर स्वयं ही अपनी···दुर्बलताओं के अधीन क्यों हो जाता हूँ···अचानक उसे लगा कि वह उदास है···अकारण ही उसके मन में उदासी-सी छाने लगी। नौकर ने आकर खिड़कियाँ बन्द कर दीं···बाहर वर्षा भी होने लगी थी···कुँवर को अचानक ऐसा लगा कि वह नौकर हो गया है और नौकर स्वामी हो गया है। उसने अनुभव किया कि वह वर्षा में बाहर जाकर बरसाती कोट, छाता आदि एकत्रित कर रहा है जिससे कि उसका स्वामी···इस ऋतु में भी सैर का आनन्द उठा सके··· उसने देखा कि वह गैरज में जाकर मोटर निकाल रहा है···और···और···

वह काँप उठा···उसे हलकी-सी सर्दी लगी···तुरन्त ही वह खिलखिला कर हँस पड़ा। उसे अपने पागलपन पर आश्चर्य होने लगा। उसे माँ की कही हुई उक्ति स्मरण हो आई···'यह तो सब कर्मों के फल हैं···इन पर क्या सोच-विचार करना···जैसा उस जन्म में किया वह अब पा रहे हैं और जो अब करेंगे वह आगामी जन्म में भोगेंगे···' किन्तु फिर भी उसका मन उदास ही बना रहा···उसने रेडियो पर फिर स्टेशन बदला···नौकर ने सामने सुन्दर-से गिलास में मदिरा भरकर रख दी थी। कुँवर उसका एक घूँट लेकर फिर सिगार से धुँआ छोड़ने लगा···उसका जी चाहा कि इस समय कोई उनके पास होता···मन में बर्टी, अंजु, रूपा सिल्की···घूम गईं ···अचानक मृदुला···वह रुक गया···मन ठहर गया और कुँवर की स्मृति में जग उठी लजीली-सी मृदुला। वह और सोच न सका। रुक-सा गया।

१५

अरुण पिता की चिन्ता की लपलपाती ज्वालाओं की ओर एक-टक देख रहा था। उसकी दृष्टि में हृदय का समस्त रक्त सुखा देने वाली तीव्र, निर्मम, गहरी विरक्ति, चिढ़ और उदासीनता नाच रही थी। उसके आस-पास कुछ लोग खड़े थे और कुछ तनिक दूर थके हुए से बैठे थे···अरुण सोच रहा था कि क्या उसे पिता की मृत्यु का दुःख है? यदि है तो क्यों? क्या मृत्यु एक दुःखद वियोग है? यदि है, तो क्यों? उसे जान पड़ा कि उसका समस्त व्यक्तित्व एक चक्करदार घेरे में निरन्तर घूमता, पिसता जा रहा है···उसका सिर फटा जा रहा था···उसने स्वयं ही तो भगवान के निकट एक दिन प्रार्थना की थी पिता की कष्टों से मुक्ति के लिए; फिर आज यह वेदना क्यों? इतना दुःख क्यों? न जाने वह उसी प्रकार कितनी देर तक एकान्त मौन भाव से बैठा रहता यदि गिरिजा शंकर आकर उसके कन्धों पर हाथ न रखता···नितान्त दुर्बल···नितान्त करुण, नितान्त अस-

हाय भाव से अरुण ने घूमकर उसकी ओर देखा। गिरिजा की आँखों में भी पानी था। उसने धीरे से स्वर में कहा—'एक दिन हम दोनों ने निश्चय किया था कि तुम्हारे पिता को लेकर ही दोनों काम चलायेंगे। आज वह भी तो नहीं रहे भाई···' गिरिजा के कण्ठ में शब्द अटक रहे थे···अरुण को स्वयं भी इसका आभास नहीं था कि वह क्या चाहता है··· और क्या चाहता था। पिता के असहाय कष्ट···माँ की निरन्तर थकी हुई देह से उनकी अनवरत सेवा···बहिन के अत्यन्त कष्टपूर्वक अर्जित धन से भी पूरा न पड़ना इन्हीं सब के नीचे दबा-पिसा उसका मन अनेकों बार ही तो भगवान से यह कह चुका था कि वह इन्हें उठा ले; तब फिर आज यह पीड़ा क्यों···यह कसक क्यों ? और यह गिरिजा शंकर···यह उसका कौन है···यह पड़ोसी मित्र···उसका कौन है···वह शरीर ही इसका कौन था जिसे आज भस्म कर दिया गया है···अचानक उसे स्मरण हो आया वह दिन जब उसने सचमुच ही अपने पिता को गिरिजा के साथ बँटाना सहर्ष स्वीकार किया था···अरुण ने एक दीर्घ निश्वास लेकर मानो हृदय की व्यथा को बाहर फेंकने का निष्फल प्रयास किया···उसने उठ कर सूनी-सी दृष्टि से गिरिजा की ओर देख कर कहा—'चलो।' स्नानादि करके दोनों जिस समय घर लौटे उस समय साँझ के साढ़े सात बज चुके थे। प्रकाश और अन्धकार के बीच धरती पर बिछी हुई एक साधारण-सी अधमैली दरी पर उसकी माँ का जर्जर शरीर पड़ा हुआ था। पास ही मंजुला मूर्तिमती शान्ति की भाँति मौन बैठी थी। कुछ अन्य स्त्रियाँ भी इधर-उधर बैठी तनिक धीमे स्वर में बातचीत कर रहीं थीं। दिन भर की थकान और दुःख से चूर-चूर शरीर को लिए अरुण का साहस माँ की ओर ताकने का भी नहीं हुआ। वह और गिरिजा मंजुला के पास आकर धम्म से धरती पर बैठ गये। मंजुला की आँखें लाल हो रही थीं, किन्तु उसने भाई और गिरिजा की ओर भरी-भरी दृष्टि से देख कर कहा—'भीतर चल कर तनिक लेट जाओ।' पिछले तीन दिन और तीन रातें इन दोनों ने खड़े होकर

केवल मूक साक्षी रहकर पिता के दुःख के दृश्यों में ही काटी थी। तिस पर अरुण को तो दौड़ना भी कम नहीं पड़ा था···धनाभाव, साधनाभाव और विपत्ति के बीच पिस-पिसा कर उसका मन भी शरीर की ही भाँति थक गया था···इसीलिए जैसे-जैसे सम्बन्धियों और पड़ोसियों को द्वार पर से ही विदा करके वह भीतर आया था। मंजुला की बात सुनकर उठकर भीतर चला गया। गिरिजा भी साथ ही था। स्त्रियाँ कह रही थीं—'हायरे लड़के का मुँह कैसा कुम्हला गया है', 'हजार हो, पिता जीवित तो था,' 'हाय राम, बिचारों पर कैसा दुःख आन पड़ा', 'यों भाई दौड़ तो तब भी बहुत पड़ती थी किन्तु कोई सिर पर तो था। वह सहारा भी उठ गया,' 'बेचारे कुछ भी न देख पाये। लड़की, लड़के किसी का भी कुछ न कर पाये।'

'पिछले कितने ही वर्षों से तो वे बेचारे बिस्तर पर ही पड़े थे।'

'फिर भी ये लोग बड़े हिम्मती जीव हैं।'

किसी ईर्षालु महिला ने कह ही दिया।

'अरे उनकी यहाँ परवाह भी किसे थी। पड़े ही तो थे।' दूसरी ने तुरन्त बात को चलाते हुए कहा—'वाह भाई! अपने घर के लोगों की परवाह किसे नहीं होती।' और धीरे से उसका कन्धा दबा दिया। बात-चीत चलती ही रही और धीरे-धीरे पड़ोस की स्त्रियाँ खिसकती भी गईं। विधवा उसी प्रकार अर्द्ध चेतनावस्था में पड़ी थी। उसे न कुछ दिखाई दे रहा था और न सुनाई। जीवन और मृत्यु के बीच अन्तर ही कितना है, इसका वास्तविक अनुभव उसी समय होता है जब कि मृत्यु हमारे किसी प्रिय जन को हम लोगों से पृथक कर देती है। तर्क, दर्शन और तात्विक विवेचना मन को सान्त्वना भले ही दें किन्तु उससे शान्ति नहीं मिल सकती। फिर भी समय बीतता जाता है। संसार के काम-काज वैसे ही चलते रहते हैं और नवीन संसार भी बनते-बिगड़ते रहते हैं। अरुण चुपचाप सबेरे से शाम तक अपने कमरे में पड़ा रहता था। इधर अरुण से मंजुला को भी कुछ भय-सा होने लगा था। माता को दमे के रोग ने बुरी तरह

जकड़ लिया था। मंजुला सारे दिन यन्त्रवत् घूमती रहती थी। न जाने क्यों रह-रहकर उसे पितृहीना शब्द की चुभन-सी होने लगती थी। मंजुला सोचती थी कि उसे पिता के जीवित रहते हुए भी कौन-सा ऐसा सुख था जो कि अब दुष्प्राप्य है, किन्तु मन तो मानता ही न था। उसे अपनी असहायावस्था पर झुँझलाहट-सी हो उठती थी। पिता के मरने के एक दिन पहले से ही उसका मन उदास था। रात में माँ की खाँसी बढ़ गई थी। अरुण ने उसे कह-सुनकर माँ के पास से हटा दिया था किन्तु फिर भी उसे अपने कमरे में पड़े-पड़े ही माँ की खाँसी का शब्द सुनकर जाने कैसा लगने लगता था। लगभग एक सौ अस्सी कापियाँ घर का काम देखने के लिए रखी थीं। मंजुला से रहा नहीं गया। उसने उठ कर बत्ती जलाई और कापियाँ देखने लगी। माँ की खाँसी का तीव्र उखड़ा उखड़ा स्वर उसके कानों में गूँज रहा था। मंजुला को कापी पर बिखरे हुए नन्हे नन्हे शब्द उड़ते हुए से जान पड़े। उसे लगा कि उसके सामने असंख्य नन्हें-नन्हें कीड़े-मकोड़े किलबिला रहे हैं और···वह···वह उनकी किलबिलाहट में डूब उतरा रही है···घृणा से उसे रोमांच हो आया। सिर से पैर तक एक ठण्डी-सी सिहरन दौड़ गई। हाथ बढ़ाकर उसने बत्ती बुझा दी और चुपचाप लेट गई। कापियाँ उसी प्रकार पलँग से सटी मेज पर बिखरी रह गईं। अन्धकार में उसे अतीत का वह दृश्य कल्पना में उभरता हुआ-सा दिखाई पड़ा जब कि वह दसवीं की परीक्षा में अपने विद्यालय में प्रथम आई थी। उसे वार्षिकोत्सव पर पुस्तकें पुरस्कार में मिली थीं और इसी कमरे में आकर पिता ने उससे कहा था—'मुन्नी तो अवश्य किसी दिन अपनी प्रतिभा से परिवार भर को चमका देगी···' और···और···भैया ने···उस रात उसकी नींद कहीं उड़ गई थी जब आधी रात को उठ कर उसने पुरस्कार की पुस्तकों में से एक को उठा कर पढ़ना आरम्भ किया था तो वे नन्हें-नन्हें अक्षर उसे दृष्टि में तितलियों की भाँति उड़ते···कुसुमों की भाँति बिखरते हुए से जान पड़ते थे और···और आज···माँ की खाँसी का शब्द तीव्र हो

गया था···उसने धीरे से उठ कर फिर बत्ती जलाई और बरबस एक खुली कापी पर दृष्टि गड़ा कर पढ़ने का प्रयत्न करने लगी। घड़ी ने टनटन करके बारह बजाए···उसने एक-एक करके घड़ी का शब्द गिना और फिर शून्य में ताकने लगी···उसका मस्तिष्क भिन्ना रहा था···पलकें बोझिल हो उठी थीं···ओफ···एक सौ अस्सी कापियाँ···उसे जान पड़ा कि उसके शरीर में कहीं दर्द हो रहा है। किन्तु उसे लेटने की इच्छा भी तो नहीं थी। प्रातः जलपान, भोजन, माँ के लिए पथ्य और औषधि की व्यवस्था करना ही होगा·····दस बजे विद्यालय जाना होगा और फिर लौटकर जलपान, भोजन, विद्यालय में दूसरे दिन पढ़ाने के लिए विषय वस्तु की खोज और और कापियाँ·····नहीं, वह इन्हें देख ही डालेगी···वह जम कर बैठ गई···दो-तीन कापियाँ देखीं, किन्तु आँखों के सम्मुख तितलियाँ उड़ने लगीं···सिर चकराने लगा···खाँसी का स्वर तीव्र···तीव्रतर होता जा रहा था···न जाने किस समय वह उसी प्रकार जलती बत्ती छोड़ कर बिस्तर में ही लुढ़क गई···कापियाँ ज्यों की त्यों पड़ी ही रह गईं। प्रातः नित्य कर्म से निवृत्त होकर वह चूल्हे में आग सुलगा ही रही थी कि अरुण ने आकर कहा—'मंजु! तनिक बाहर आकर माँ को सम्भालो।' घबराकर मंजु रसोई से निकल आई···माँ के कमरे में जाकर देखा कि माँ निढाल-सी चारपाई पर तिरछी पड़ी है और पलँग के पास ही ढेर-सा वमन पड़ा है। रात का थका···शून्यप्राय शरीर सुन्न-सा हो गया···आँखें फाड़े चौखट पकड़े कुछ देर मंजु चुप्प ही खड़ी रही···ज्यों ही अरुण ने माँ को अमृतधारा की दो-चार बूँदें देने के पश्चात् वमन की ओर मुड़ने का प्रयत्न किया···मंजुला चौंककर सम्हल गई। उसने शीघ्रतापूर्वक मुड़ कर अरुण से कहा—'भैया! तुम माँ को सम्भालो। इसे मैं अभी जरा-सी देर में ठीक किए देती हूँ।' किन्तु उसे जान पड़ा कि पृथ्वी-आकाश सब ही कुछ हिल रहा है···काँप रहा है और उसका सर्वाङ्ग भी काँप रहा है। किन्तु ठहरने··· तनिक देर ठहर जाने की सुविधा भी कहाँ थी।

अरुण चुपचाप माँ के पास बैठ कर उसका सिर सहलाने लगा। वमन बाहर फेंक कर स्थान साफ करके मंजुला लौटकर रसोईघर में चली गई। चूल्हा सुलगाकर अग्नि की लपकती ज्वालाओं के सम्मुख बैठ कर वह उन्हें एकटक देखने लगी तो उसका मन बहुत ही भारी हो उठा। माँ की बीमारी, भाई की बेकारी, कार्य का भार और मन की शून्यता में दबी-पिसी मंजुला को संसार कठिन ही जान पड़ता था···उस समय भी उसकी पलकें भारी थीं···उसका मन डूब रहा था और रह-रहकर आँखों के सम्मुख नाच उठती थी सैकड़ों बिना देखी कॉपियाँ, मुख्याध्यापिका की कठोर आज्ञा कि लिखित काम की जाँच प्रतिदिन ठीक-ठीक होनी ही चाहिये। ऐसा न कर पाने पर उनकी निर्मम डाँट और छात्राओं की झेंपाने वाली प्रश्नावली 'आपने हमारा काम देख लिया?' और···और···जैसे-तैसे किसी तरह मंजुला ने दाल, चावल और तुरई की तरकारी बनाकर तवा रखा···अरुण को पुकार कर उसने कहा—'भैया! माँ को खाना खिला दो और तुम भी खा लो।' यही मंजुला का प्रतिदिन का कार्यक्रम था···माँ को ज्वर भी रहने लगा था···साँस तो किसी तरह ठहरती ही नहीं थी···सब को खिला-पिला कर जब मंजुला ने थाली अपने सम्मुख रखी तो घड़ी में पौने दस बजे थे। भारी मन से जल्दी-जल्दी किसी प्रकार दो रोटी पेट में डाल कर मंजुला उलटी-सीधी कंघी करके जैसे ही घर से बाहर निकली दस बजने में केवल पाँच मिनट ही शेष रह गए थे यह उसने घड़ी में देख लिया था। भाई से माँ की औषधि के विषय में बात भी नहीं कर पाई···यहाँ तक कि माँ के पास पानी का लोटा और गिलास भी नहीं रख पाई थी···कापियाँ भी देखी ही नहीं गई थीं। बिना चुकाए ही रिक्शा में बैठ कर मंजुला ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा। उसका जी चाहा कि वह उसी प्रकार रिक्शा में सदा सर्वदा बैठी रहे और उसी प्रकार सदा-सर्वदा रिक्शा मार्ग पर, पक्की सड़क पर, राजपथ पर चलता ही चला जाए। उसे अचानक स्मरण हो आया··· 'अरी पगली! आँख मूँद कर बने-बनाये मार्ग पर चलने से बढ़ कर सुख

और विश्व में है ही कहाँ ?···' और स्वयं उसका मृदुला को दिया हुआ उत्तर···'यह कायरता है, मिन्नी ! पथ बनाना ही तो पौरुष का कार्य है··· जो टेढ़े-मेढ़े, उलटे-सीधे, पथरीले-कँकरीले टीलों को तोड़-फोड़कर प्रशस्त पथ बना सकता है वही मानव है।' उसके मन में आया कि वह चिल्ला कर कह उठे 'वह कल्पना थी···एकबारगी मिथ्या था···असत्य था··· अज्ञान था···अनुभवहीनता मात्र थी···मानव का वह केवल मिथ्याभिमान मात्र ही है···कम-से-कम मुझमें तो वह शक्ति नहीं है···नहीं···नहीं···में निर्माण···पथ-निर्माण नहीं कर पाऊँगी···मुझे क्षमा कर दो। नारायण ! मुझे मुक्त कर दो···मुझे अब यह सब सह्य नहीं है···प्रभो···सवा दस बजे विद्यालय के द्वार पर पहुँचते ही मंजुला की भेंट हुई विद्यालय के प्रबन्धक महोदय से···मंजुला का मुख शुष्क था। शुष्क बाल बने हुए तो थे किन्तु कुछ-कुछ इधर-उधर मुँह पर उड़ भी रहे थे। नेत्रों में गहरी उदासी थी और मुख पर व्यथा, चिन्ता और घबराहट की छाप। फिर भी सब कुछ मिलाकर उसकी मुख छवि में कुछ ऐसा आकर्षण था कि वयप्राप्त प्रबंधक महोदय कुछ देर तक उसके मुख की ओर देखते रहे···मंजुला देर, घबराहट और असह्य चिन्ता-भार से दबी चुपचाप फाटक के भीतर बढ़ती चली गई···प्रबन्धक महोदय अपनी नवीन शेवरलेट के पास कुछ देर चुपचाप खड़े रहे और फिर अचानक उनकी दोनों आँखों में एक विचित्र चमक-सी छा गई, आहत अपमान से उत्पन्न निष्फल क्रोध की लालिमा उनके समस्त मुख पर छा गई···वह धीमी चाल से लौट कर आचार्य के कक्ष की ओर बढ़े। कुमारी मंजुला कपूर तब तक अपनी कक्षा में जा चुकी थीं।

कुछ समय पश्चात् आचार्य ने कुमारी मंजुला कपूर को बुला कर कहा—'इधर आपके काम की शिकायत आ रही है, मिस कपूर !'

'मैं तो भरसक परिश्रम से ही कार्य करती हूँ।'

'केवल यही कह देने से तो काम नहीं चलेगा। सुना जाता है कि आप अपने विषय की ठीक से व्याख्या भी नहीं करती हैं और कभी-कभी

तो बालिकाओं के काम की जाँच भी समय से कर के नहीं देतीं। यह सब क्या ठीक है ?' मंजुला के सम्मुख कल्पना में नाच उठीं कल रात्रि की बिना देखी कापियाँ। तनिक नम्र से स्वर में मंजुला ने कहा—'केवल इस बार ही कापियाँ जल्दी नहीं जाँच पाई, क्योंकि मेरी माँ बहुत बीमार हो गई है मिसिज शर्मा।'

'यही तो, देखिये काम तो ठीक से करना ही होगा। यदि काम ठीक नहीं होगा तो···' मिसिज शर्मा ने तनिक रुक कर कुछ धीमे से स्वर में अनिश्चित-से ढंग से कहा—'तिस पर आपका व्यवहार भी कुछ···ठीक··· नहीं होता।' मंजुला मानों आकाश से गिर पड़ी। दुःखिनी, संतप्ता मंजुला का व्यवहार ठीक नहीं है। उसने तनिक सहम कर कहा—'मिसिज शर्मा, मैंने तो कभी···' वह चुप ही रह गई।

'देखिये उस दिन आपने कृपा माथुर को अकारण ही दण्ड दिया था।' 'आप उसे अकारण कहती हैं मिसिज शर्मा ? उसने जो उद्दण्डता की थी वह क्या आपके निकट अनजानी ही है। मैंने तो आप के पास रिपोर्ट भी भेज दी थी। वह न तो कभी काम ही कर के लाती है और न किसी की आज्ञा मानना ही जानती है। तिस पर व्यर्थ ही कक्षा में अनुशासन भंग भी करती रहती है।' मंजुला के स्वर में दृढ़ता थी।

'किन्तु आपको उसे दण्ड तो नहीं देना चाहिए था।'

'इतने अपराधों पर भी दण्ड न देने से तो उसका अपना भविष्य भी सुधर नहीं पायेगा मिसिज शर्मा···और फिर उसे दण्ड क्यों न दिया जाय जब कि अन्य सब ही बालिकाओं···' मिसिज शर्मा कुछ क्षण चुपचाप देखती रहीं। फिर उन्होंने समझाने के ढंग से कहा—'जानती नहीं हो वह प्रेसीडेन्ट की लड़की है···'

'किन्तु वह मेरी शिष्या है, छात्रा है, मिसिज शर्मा।' मंजुला के स्वर में दीनता तनिक भी नहीं रह गई थी। वह दृढ़ निश्चय के साथ ही कह रही थी—'और यह मेरा कर्तव्य है कि मैं उसके सुधार की चेष्टा करूँ।'

'आपकी छात्रा होने पर भी···' स्वर में झिझक थी।

'मिसिज शर्मा···' दोनों कुछ देर एक-दूसरे की ओर देखती रहीं··· फिर मिसेज शर्मा ने कहा—'बाल-बच्चे किसी भी व्यक्ति की सबसे बड़ी दुर्बलता होते हैं मिस कपूर'

'किन्तु विद्यालय के भीतर तो सब ही छात्राएँ केवल छात्राएँ ही होती हैं मिसिज शर्मा। मेरे निकट तो समान भाव से राजा और रंक दोनों की ही सन्तानें प्रिय हैं···' मंजुला का सारा शरीर काँप रहा था। न जाने क्यों वयस्क अनुभवी मिसिज शर्मा को मंजुला से सहानुभूति हो आई। उन्होंने रहस्यपूर्ण ढंग से कहा—'बैठ जाइये मिस कपूर।' कुछ ठहर कर वे फिर कहने लगीं और तब तक मंजुला सामने की कुर्सी पर बैठ गई थी। 'एक दिन मैं भी ऐसा ही समझती थी मिस कपूर···आज भी सम्भवतः यही समझना चाहती हूँ किन्तु···जानती हैं···समाज में मानव सैद्धान्तिक दृष्टि से समानता का कितना ढिंढोरा पीटता है किन्तु भीतर-ही-भीतर वह स्वयं ही कितना बड़ा असमानता का पक्षपाती है यह वह स्वयं भी तो नहीं जान पाता···' और वह तनिक देर के लिए मौन हो गई। काँपते हुए स्वर में मंजुला ने कहा—'राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक समानता की बात तो मैं कर भी नहीं रही हूँ मिसिज शर्मा किन्तु···'

'किन्तु परन्तु किसी भी क्षेत्र में नहीं होती मिस कपूर! जहाँ भी जिस व्यक्ति की सत्ता होती है वहीं वह स्वयं अपने लिए असमानताजन्य सब प्रकार की सुविधाएँ कारण-अकारण, न्याय-अन्यायपूर्वक भी पा लेना अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है···वह हमारे विद्यालय के प्रेसीडेन्ट हैं, इसी कारण उनकी पुत्री को क्यों अन्य सात-पाँच बालिकाओं से अधिक सुविधाएँ, यहाँ तक कि उद्दण्ड होने, अनुशासनहीन होने तक की सुविधाएँ मिले यह किसी तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकेगा, तुम इसे आज स्वीकार भी नहीं कर पाओगी किन्तु फिर भी···।'

'तर्कसिद्ध नहीं है, न्यायसंगत भी नहीं है फिर भी इसे मानना ही

होगा और आप कहती हैं कि हम गुरु हैं। शिक्षा देना ही हमारा ध्येय है और स्वयं अपना उदाहरण देकर ही हम अपने नन्हे बच्चों को उचित मार्ग पर ले जा सकते हैं।' 'एक होता है सत्य उसका प्रचार एवं उसका प्रतिपादन और दूसरा उसपर आचरण करना···' मिसिज शर्मा सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कह रही थीं—'जीवन के उषाकाल में हम कितने ही सिद्धान्तों की पूजा करते हैं, उन्हें जीवन में पथ-प्रदर्शक मानने, मानकर चलने का निश्चय करते हैं किन्तु ऐसे कितने लोग हैं जिनके निश्चय टिक पाते हैं मिस कपूर!' और वह कहती ही गई—'एक समय मैं भी इसी प्रकार कठोर यथार्थ की धरती के स्पर्श से दूर कल्पनाओं में विचरती थी। उस समय मैंने यह कभी सोचा भी नहीं था कि यथार्थ का यह रूप भी होगा किन्तु आज...'

'क्षमा करें मिसिज शर्मा···अन्याय, असत्य, अनुचित के सम्मुख घुटने टेक देना···उसे ही न्याय, सत्य और उचित मानकर पूजा के आसन पर बिठा देना और फिर बिठाये रखना···अपराध है···कायरता है···।' वह काँप रही थी। मिसिज शर्मा के होठों पर तनिक-सी व्यंग्य में भीगी मुस्कान फैल गई···उनके नेत्रों में गहरा अविश्वासपूर्ण व्यंग्य नाच उठा। 'आज से बारह वर्ष बाद भी यही कह सकी तो जानूँ···' इस बार मंजुला सम्भल गई। उसने नम्रतापूर्वक कहा—'मिसिज शर्मा! आप बड़ी हैं, गुरुजन हैं। आप की बात न मानूँ इतनी हिम्मत मेरी नहीं है किन्तु पाठशाला के भीतर तो मुझे गुरु होने के सम्बन्ध से अपनी मर्यादा की रक्षा भी तो करनी ही होगी···और ऐसा न करना कर्तव्यच्युत होना होगा···सब ही बालिकाएँ मेरी शिष्यायें हैं···छात्राएँ हैं। इसके अतिरिक्त उनके साथ कोई और सम्बन्ध विशेषतया किसी बालिका विशेष के साथ नहीं रख पाऊँगी आप क्षमा करें···' मिसिज शर्मा कुछ कहना चाहती थीं किन्तु मंजुला की ओर देखकर चुप हो रहीं।

'मेरी सहानुभूति तुम्हारे साथ है।' कुछ ठहर कर उन्होंने कहा—

भला ?' इस बार वह स्नेह भाव से ही बोल रही थीं।

'यों मुझे प्रणाम करने में कुछ भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि वह बड़े हैं किन्तु क्या यह भी हमारे कर्त्तव्यों की सूची में सम्मिलित है ?' मंजुला के स्वर में कटुता थी। उसका रातभर का थका-हारा चिन्ताग्रस्त मन विद्रोही हो उठा था, बुरी तरह झुँझला उठा था। कर्तव्य और अकर्तव्य क्या है ? इसकी मीमांसा रहने दो। किन्तु अच्छा तो यही होता तुम प्रणाम कर लेतीं। उन्हें इससे दुःख हुआ है।' उन्होंने जानबूझ कर असत्य कहा। मंजुला का जी चाहा कि वह बड़े जोर से चीख कर कह दे कि वह इन परम्पराओं के साथ कदम-से-कदम मिलाकर नहीं चल सकेगी···वह काम करती है और अपने कर्तव्यों को समझती है···कभी किसी को प्रणाम करना होगा, कभी किसी का अकारण लिहाज करना होगा···कभी किसी को अकारण ही अन्य सब समान व्यक्तियों से अधिक सुविधाएँ देना होगा··· ओह ! यह सब उसके बस की बात नहीं है सब कुछ तो वह कर भी न सकेगी, कदापि न कर सकेगी उससे होगा भी नहीं ··किसी तरह भी नहीं, और वह करे भी क्यों···उसके समस्त शरीर का रक्त मानों मुख पर ही आकर जम गया था···आरक्तमुखी···वेदना से पीड़ित भारी सिर लिए··· मिस कपूर भयंकर रूप से उत्तेजित हो उठी थी···उसका जी चाहा कि हाथ के रजिस्टर को मिसिज शर्मा की मेज पर जोर से पटक कर वह तुरन्त ही वहाँ से चल दे किन्तु तब ही मानों उसके कानों में पीड़ित···आसन्न-मृत्यु···माँ की खाँसी का शब्द टकराने लगा···औषधि पथ्य···अन्न··· जल, घर का किराया···और···और···उसकी आत्मा का उत्पीड़न मंजुला का क्रोध से तमतमाया हुआ मुख धीरे-धीरे श्वेत-पीत पड़ता जा रहा था। मिसिज़ शर्मा उसके मुख की ओर देख रही थीं···उन्होंने यथासम्भव अपने स्वर को मधुर बना कर कहा—'आज आप कुछ अधिक उत्तेजित जान पड़ती हैं। मिस कपूर···जाने दीजिए ये सब बातें फिर करेंगे।'

मिसिज़ शर्मा ने फिर आप ही कहना आरम्भ कर दिया था···उनके नेत्रों में अब भी तनिक-सी नमी थी और थी तनिक-सी वेदनामिश्रित सहानुभूति···मंजुला आज्ञा लेकर अध्यापिकाओं के बैठने के कमरे की ओर चली आई···कमरा प्रायः सूना था···मंजुला के मस्तिष्क में विचारों का कुछ ऐसा भयंकर संघर्ष-सा हो रहा था कि वह स्वयं अपने विचारों के टकराने से उठने वाले शब्दों से त्रस्त हो उठी थी···उसके नयनों में जल नहीं था किन्तु अग्नि अवश्य थी···तीव्र विद्रोह की ज्वालाएँ उसे भस्म किए दे रही थीं किन्तु वह उनसे बचना भी नहीं चाहती थी···आराम कुर्सी की पीठ पर सिर टिका कर पुस्तकें और रजिस्टर सामने की छोटी मेज पर रख कर वह चुपचाप आँखें मूँद कर सोचने लगी···

'आज क्या कुछ सोचा जा रहा है ?' किसी ने शरारतभरे लहजे में कहा किन्तु उत्तर नहीं मिला।

'यह क्या है ? कौन-सा स्तर है ? धारणा, ध्यान अथवा समाधि ?'

इस बार मंजुला ने आँखें खोलीं। अध्यापिका वर्ग में से सब से अधिक हँसमुख चंचल और सदा प्रसन्न रहने वाली मिस माथुर सम्मुख खड़ी थीं···कुमारी सुवीरा माथुर ने चार वर्ष पूर्व बी० ए० कर चुकने के पश्चात् एल० टी० परीक्षा उत्तीर्ण की थी···विशेष धनी परिवार की तो वह नहीं थी किन्तु उनका परिवार विशेष प्रतिष्ठित अवश्य था। एक चाचा आई० ए० एस० थे और दो बहनोई एम० एल० ए०। मामा जी बड़े भारी रईस थे···नगर में उनकी टक्कर का दानी-मानी सम्भवतः ही कोई हो। सदा हँसते रहना ही उनका काम था। मंजुला उन्हें देखकर प्रसन्न नहीं हुई···उसने उनकी ओर देखा···मिस माथुर ने इस बार धीरे से कहा—'सच ही क्या यह अष्टांग योग नहीं है···तब फिर किस नागर के ध्यान में डूबी हुई शकुन व्याकुल है ?···'

बिना उत्तर दिये भी तो गति नहीं थी···उत्तर तो देना ही होगा अन्यथा मिस माथुर से पार कहाँ पा सकेगी। अतः मंजुला ने धीरे से

कहा—'योग और वियोग तो दोनों ही आपने सुरक्षित कर रखे हैं मिस माथुर, भला किसी और के लिए आपने उन्हें छोड़ा भी है ?' मुस्कान स्पष्ट ही बनावटी थी।

'छोड़ दूँगी···छोड़ दूँगी···मिस कपूर तुम इनमें से किसी एक को भी अपना लो तो मैं तुरन्त ही उसे छोड़ दूँगी···मुक्त कर दूँगी···' और वह स्वयं ही खिलखिला कर हँस पड़ी। उसकी विचित्र भावभंगिमा देख कर मंजुला भी तनिक-सा मुस्करा दी; किन्तु केवल क्षण-मात्र के ही लिए··· तत्पश्चात् उसका मुख फिर धूमिल हो उठा···अब मिस माथुर के मुख की हँसी भी लुप्त हो चुकी थी···मिस कपूर के शुष्क मुख की गहरी वेदना मिश्रित विद्रोह की रेखाएँ देखकर मिस माथुर चुप हो गईं और कुर्सी तनिक पास खिसकाकर बैठ गईं। न जाने क्यों अचानक उनका मन भी वेदना-से भर उठा। इस बार उन्होंने तनिक गम्भीर होकर पूछा—'बात क्या है मिस कपूर ? अभी तुम्हें प्रिंसिपल ने क्यों बुलाया था ? वहाँ से लौट कर तुम तुरन्त ही इतनी गम्भीर क्यों हो गईं···' प्रश्न में जिज्ञासा तो थी ही सहानुभूति भी थी। चपला की-सी चपल सुवीरा माथुर का गम्भीर हो जाना आश्चर्यजनक था किन्तु वह कुछ गम्भीर हो ही गई थी। उसने फिर कहा—'कुछ तो बताओ बात क्या है ?'

मंजुला ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। यों भी वह प्रायः विद्यालय में गम्भीर ही रहा करती थी। तिस पर मिस माथुर से तो सभी अध्यापिकाएँ तनिक भय भी खाया करती थी···वह तुरन्त ही मजाक जो उड़ाने लगती थी। मंजुला ने यथासम्भव साधारण-से स्वर से कहा—'बात तो कुछ विशेष नहीं हुई।' 'किन्तु साधारण बात तो हुई ही है न ?' 'नहीं, नहीं।' मंजुला जैसे पकड़ में आ गई थी। उसका स्वर फिर से उत्तेजित होने लगा था। इस बार अचानक, अनपेक्षित रूप से स्नेहसिक्त स्वर में मिस माथुर ने मंजुला का हाथ पकड़ कर कहा—'देखो, बहिन, सुवीरा का बाह्य तो सब ही देखते हैं और सम्भवतः इसीलिए कोई उस पर

विश्वास नहीं करता···उसे क्षणिक हास्य की प्रेरक सामग्री के ही रूप में सब जानते हैं किन्तु सुवीरा का अन्तर उसके बाह्य से भिन्न है···विश्वास करो···वह भी तुम्हारे समान इन्सान ही है···वह रो भी पाती है और सिसक भी किन्तु उसके अन्तर का दुःख उसकी बाहर की हँसी में डूब जाता है। इसी से कोई विश्वास नहीं करता कि सुवीरा भी दुःखी होती है, हो सकती है।' वह तनिक ठहर गई···मंजुला उसकी ओर देख रही थी··· उसका सिर चकरा रहा था। उसे स्वयं भी तो सहानुभूति की आवश्यकता थी। फिर भी उसने कठोरता से मन-ही-मन कहा—'नहीं···नहीं···मुझे भीतर-ही-भीतर···चुपचाप सब कुछ स्वयं ही सहना पड़ेगा···बिना सहन किए गति भी कहाँ है, तब फिर मैं अकारण ही किसी को भी अपने दुःख-सुख का साझीदार क्यों बनाऊँ ?' उसने अपेक्षाकृत साधारण स्वर में कहा—'नहीं, नहीं···यहाँ तो ऐसा कुछ नहीं हुआ है किन्तु मेरी माँ बीमार हैं इसी से कुछ मन उदास हो गया है।'

मिस माथुर ने तनिक देर चुप रह कर कहा—'मैं जानती हूँ कि तुमने आज प्रातः घर से आते हुए मैनेजर महोदय को प्रणाम नहीं किया। उसी का फल भोग रही हो।'

एक दम साधारण स्वर में उस निर्मम सत्य की अभिव्यक्ति होती देख कर मंजुला चौंक उठी···तब क्या प्रणाम न करना अपराध है, उस अपराध का दण्ड होता है, कुफल होता है जिसे भोगना पड़ता है और इस नियम को सभी अध्यापिकाएँ जानती हैं और मानती भी हैं···

किन्तु मैं मैनेजर महोदय को प्रणाम क्यों करूँ···उनसे मेरा सम्बन्ध ही क्या है ? और न करने पर विपत्ति ही क्या आयेगी ? मिस माथुर को कहाँ से यह पता लगा···तो क्या प्रिन्सिपल केवल मुझसे कह कर ही शान्त नहीं हुईं···क्या मैनेजर महोदय ने ही कहा है ?···क्या सब ही अध्यापिकाएँ यह जान जायँगी ?···मिस माथुर क्या चाहती हैं ? 'तुम सोच

रही होगी कि मुझे यह कैसे ज्ञात हुआ किन्तु यह कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। यहाँ प्रायः सब बातें सब लोगों को ज्ञात हो ही जाती हैं और फिर मेरी तो बात ही निराली है।' मंजुला ने देखा और इस विद्यालय में आने के पश्चात् पहली बार ही देखा कि मिस माथुर के चेहरे पर कहीं भी हास्य की रेखा मात्र भी नहीं है। यदि यही उसने कुछ समय पूर्व किसी से सुना होता तो वह सहज ही में विश्वास कर लेती, इसमें भी सन्देह है। फिर भी मंजुला मौन ही रही···परिस्थितियों की गहनता, बाहुल्य और मन के तज्जन्य भार ने उसे विक्षिप्तप्राय कर दिया था। यदि एक भी शब्द बोलती तो सम्भवतः वह चीख उठती अथवा आँखों के जल को बहने से न रोक पाती। अतः यह एकटक मिस माथुर की ओर देखती हुई चुपचाप बैठी ही रही। कुछ देर ठहर कर मिस माथुर स्वयं ही कहने लगी—'क्या मुझे यह सब अच्छा लगता है? किन्तु इसे सहने के अतिरिक्त और चारा भी क्या है? अनुशासन मुझे अप्रिय नहीं किन्तु अकारण ही कुछ व्यक्तियों की व्यर्थ की गुलामी तो सचमुच ही चुभने लगती है। यही नहीं यह भी समझ में नहीं आता कि किस अधिकार से वह हमारी इस अपेक्षित मानसिक दासता को अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझने लगते हैं।' मंजुला आश्चर्य से फटी-फटी आँखों से यह सब कुछ मानो पी लेना चाहती थी। उसने अन्य अध्यापिकाओं से सुना था कि मिस माथुर प्रिन्सिपल की बहुत मुँहलगी हैं। अन्य सब लोगों पर भी उनकी बड़ी धाक है···और···और वह सुखी है···किन्तु आज यह उसका कौन-सा स्वरूप है सो मंजुला की समझ में भी नहीं आ रहा था। उसने अत्यन्त उदासीन स्वर में कहा—'समरथ को नहिं दोष गुँसाई···' इस बार मिस माथुर मानो जल उठी।' 'किसने समर्थ बनाया है इन्हें···हम जैसे मूर्खों ने, कायरों ने ही तो···छल-बल···से किसी प्रकार इस व्यर्थ की सत्ता पर आरूढ़ होकर क्या वे अपने को सर्वेसर्वा समझें, यही उचित है और तुम भी यही कहोगी क्या? यों तो किसी भी प्रकार की दासता···चाहे वह कैसे ही सुन्दर आवरण में हो,

हेय है···मानव के लिए असह्य है···इसीलिए तो मानव ने सभ्यता के युग का निर्माण करते हुए एक दिन व्यक्ति की दासता के स्थान पर रखा था नियमों का प्राधान्य···आदर्शों का पालन। कोई भी एक मानव यह अधिकार कदापि नहीं रखता कि वह किसी दूसरे मानव से बरबस अपनी आज्ञा का पालन कराए···नियमों का पालन तो करना ही चाहिये···किन्तु यहाँ होता क्या है। ये तो हैं न शिक्षा के नाम पर चलाई हुई जमींदारियाँ जहाँ कि एक अथवा कुछ एक व्यक्ति जनता की उदासीनता का लाभ उठा-कर निजी साम्राज्य स्थापित कर लेते हैं और मुझे साम्राज्यवाद से···उसके किसी भी रूप से घृणा है···उत्कट घृणा है।'

वह अत्यधिक उत्तेजना से चुप हो गई।

'किन्तु सुना तो यही जाता था कि आप भी इस साम्राज्यवाद का एक स्तम्भ हैं।' व्यंगमिश्रित वाक्य था। 'अवश्य सुना होगा। इस उक्ति में भले ही उतना अधिक सत्य न हो किन्तु इतना तो निश्चित रूप से तथ्य है ही कि मैं इस साम्राज्यवाद के नीचे दबी-पिसी हुई नहीं हूँ···ऐसा कर पाने की इन लोगों की हिम्मत भी नहीं है और यों भी मैं उन्हें यथासम्भव वैसा अवसर नहीं देती···हँस कर नमस्ते कर लेने में मेरी क्या हानि होती है···चलते-फिरते दो-एक हलके-फुलके मजाक भी कर ही लेती हूँ किन्तु फिर भी यह जानती हूँ कि मेरी स्थिति इन सब के कारण नहीं है वरन् है मेरे उच्च पदस्थ सम्बन्धियों के कारण···' अचानक चौंककर मिस माथुर ने कहा—'ओह, कहाँ तो तुम्हें सान्त्वना देने आई थी और बहक गई स्वयं ही···किन्तु सत्य मानना बहिन मेरे अन्तर के इस चित्र को यहाँ अब तक कोई देख ही नहीं पाया है···जाने दो···अब तुम्हें तनिक अपने काम में सावधान रहना चाहिये अन्यथा कुछ कहा नहीं जा सकता।' 'काम तो यथासम्भव ठीक ही करने का यत्न करती हूँ मैं।'

'हाँ किन्तु यही नहीं जरा यह भी ध्यान रखना कि तुम्हारी छात्राएँ भी प्रसन्न बनी रहें विशेषतया विशेषवर्गीय अर्थात् बड़े आदमियों की बेटियाँ।'

'यही तो मैं समझ नहीं पाती। क्या बड़े आदमी की बेटी गुरु से भी अधिक महत्वपूर्ण होती हैं?' वह कुछ झुँझला भी रही थी।

'किस युग की बात कह रही हो, बहिन! यह तो धन के, अर्थ के महत्व का युग है। इस युग में बड़े आदमी का लक्षण है प्रचुर धन का स्वामी होना अथवा अपरिचित सत्ता का अधिकारी होना और जानती हो इस युग में मानसिक स्तर जितना गिर चुका है वहाँ···उस पर खड़े होकर···गुरु को देखने पर उसका तात्पर्य केवल, मात्र समझ पड़ता है··· नौकर···नौकरी' 'नौकरी···नौकरी···सच ही तो है···तब हम केवल, मात्र नौकर हैं···और कुछ भी नहीं बस नौकर?' 'और क्या गुरु हो?' कटु व्यंग्य भरे स्वर में मिस माथुर ने कहा—'मुझे याद है कि जब एक दिन मैंने किसी उदण्ड छात्रा से यह कहा था कि तुम्हें पढ़ने का अधिकार नहीं है तो उसका जो उत्तर मुझे उसकी ओर से सुनने को मिला था वह आज भी बुरी तरह चुभ रहा है मन के किसी कोने में। उसने कहा था जब फीस देते हैं तो पढ़ने का अधिकार भी है अर्थात् अधिकारी भेद केवल फीस दे सकने अथवा न दे सकने के द्वारा ही निश्चित किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में क्या हम गुरु बनने का दम्भ कर सकते हैं?'

मंजुला ने एक दीर्घ निश्वास छोड़कर कहा—'मैं यह सब कुछ नहीं जानती थी बहिन। इस युग में मानव की विवशता की चरम सीमा से भी मैं सर्वथा अपरिचित थी···तब ही तो नौकरी आत्म-सम्मान को परस्पर विरोधी न मानकर चलने की धृष्टता कर बैठी···आज सब जगह हम यही सुनते हैं कि विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता बढ़ती जा रही है···आज का अध्यापक उतना परिश्रमी नहीं है···छात्र उतने योग्य नहीं हैं···किन्तु कहाँ है इन सब का मूल कारण, क्या यह भी कभी किसी ने खोजा है? त्याग और तपस्या के बहुमूल्य उपदेशों के पीछे कितनी व्यर्थता है···कितना खोखलापन है यह पूछो जाकर उन बेचारे प्राइमरी पाठशालाओं के गरीब अध्यापकों से···जिन्हें मास के अन्त में उपेक्षा और अनादर के साथ कुल

पैंतीस रुपये मिलते हैं, जिनका जन्म ही उपेक्षा, अनादर···दरिद्रता और अभावों के बीच रहने के लिए हुआ है···'

'क्या सच ही पैंतीस, केवल पैंतीस रुपये मिलते हैं ?' उसे विश्वास नहीं हो रहा था। 'हाँ, और वह भी गृहस्थ होता है, उसके भी पत्नी, पुत्र-कलत्र होते हैं और इसे भी पेट भरने के लिए अन्न और तन ढकने के लिए वस्त्र की आवश्यकता पड़ती है···उसके भी पुत्र-पुत्रियों का विवाह होता है···कथा अनन्त है बहिन···फटी टोपी के नीचे और फटे जूतों के ऊपर अधमैले कुर्ते और अधफटी धोती के बीच सूखी अस्थियों पर मढ़े हुए चर्म से हम त्याग···बलिदान···और न जाने किस-किस बात की आशा तो करते हैं किन्तु उसका परिणाम है केवल, मात्र निरीक्षकों की झिड़कियाँ और समाज की उपेक्षाभरी उदासीनता···फिर भी हम कहते हैं कि शिक्षा का स्तर गिर रहा है···काश कि वह गिर कर उस अवस्था तक पहुँच पाता जहाँ से शाप देकर वह इन शिक्षा जमींदारियों का समूल उन्मूलन कर पाता···'

मंजुला के मन में आया कि वह कहीं एकान्त में जाकर रो पड़े किन्तु वह कुर्सी से न उठ सकी। मिस माथुर कहे जा रही थीं—'जिसे स्वयं आत्म-सम्मान को प्रतिक्षण बरबस बिदा देना होता है वही बनायेगा मनुष्य··· सिखाएगा उन्हें आत्म-सम्मान···स्वाधीनता···समानता आदि जनतन्त्र के बड़े-बड़े सुन्दर सुन्दर शब्द कैसी विडम्बना है···'

बड़ी देर तक मन को बरबस रोके बैठी हुई मंजुला एकाएक फूट पड़ी··· उसकी आँखें न जाने कब से बरसने को मचल रही थीं किन्तु अचानक उसके मुख से निकल गया·····'अब नहीं सहन कर सकूँगी·····नहीं सह सकूँगी···' और वह मुख दोनों हाथों से ढँककर रोने लगी। मिस माथुर सहानुभूति से भर उठीं···उन्होंने निकट जाकर उसकी कुर्सी के हत्थे पर बैठकर धीरे-धीरे उसके सिर पर हाथ फेरना आरम्भ कर दिया।

मिस माथुर कह रही थीं—'शान्त हो जा, बहिन ! शान्त हो जा।

आत्म-सम्मान को बनाए रखने पर सुख नहीं मिलता···विश्व में सदा सर्वदा आत्म-सम्मान की प्रशंसा होती रही है किन्तु यथार्थ में उसे दूसरों में सहन कर पाता ही कौन है ? आत्म-सम्मान के इच्छुक को उसका मूल्य आँसुओं से देना ही पड़ता है किन्तु इस मूल्य पर भी वह महँगा नहीं है। रानी !'

मंजुला के मन में गूँज रहा था 'नौकर···नौकरी···केवल नौकरी··· तो हम शिक्षक नहीं हैं···गुरु नहीं हैं···राष्ट्र निर्माता भी नहीं हैं···केवल, मात्र नौकर···तुच्छ नौकर और हमारा व्यवसाय है शिक्षा का विक्रय··· नौकरी···' क्षण मात्र में उसे ऐसा आभास होने लगा कि वह स्वयं ही अपनी ही दृष्टि में छोटी हुई जा रही है···कितना निर्गम···कितना कठोर··· कितना कटु था यह सत्य है, यह उसने आज पहली बार ही जाना था। तज्जन्य पीड़ा कितनी कठिन थी, इसे वही अनुभव कर रही थी। आत्म-सम्मान का दण्ड इतना कठिन कठोर होगा यह उसने कभी कल्पना में भी नहीं सोचा था, जाना था। उसकी तो शिक्षा-दीक्षा भी दूसरी ही तरह की हुई थी ना।

१६

'क्षमा करें मृदुला जी, यदि आपको मिस, कुमारी आदि-आदि न कह पाऊँ···सचमुच मेरी ऐसी बुरी आदत है कि कभी किसी को भी मिस-विस नहीं कह पाता···' कह कर कुँवर साहब अकारण ही मीठी हँसी हँस पड़े। मृदुला तनिक संकोच से रैकिट हाथ में पकड़े खड़ी रही। न जाने क्यों उसके मन में 'अंजना दास गुप्ता' और 'अंजु' साथ-ही-साथ उभर आए··· कैसे मधुर स्नेहसिक्त स्वर में कह पाते हैं कुँवर साहब 'अंजु' उसकी एक क्षण के लिए इच्छा हुई कि उसका नाम भी 'अंजु' होता···और उसे भी कोई इसी प्रकार 'अंजु' कह कर पुकारता किन्तु वह 'कोई' कौन होता···यह

प्रश्न उसके मन में उदय ही नहीं हुआ···वह अचानक सम्भल कर बोली—'कुँवर साहब खेलिए न।' 'खेल भी सकता हूँ किन्तु कौन-कौन से खेल खिलायेंगी आप?' कहकर कुँवर साहब ने मृदुला की ओर तनिक रहस्य-पूर्ण ढंग से मुस्करा कर देखा। मृदुला भी अनचाहे ही मुस्करा दी।

रंजना निकट आ गई थी। तनिक देर पूर्व ही तो घर के टैनिस कोर्ट में मृदुला और रंजना खेल रही थीं···अचानक कुँवर वीरेश्वर प्रताप सिंह को अपनी ओर आता देख कर मृदुला खेल रोक कर तनिक आगे बढ़ आई थी, रंजना अपने स्थान पर ही पुनः खेल आरम्भ होने की प्रतीक्षा में खड़ी थी। किन्तु शीघ्र ही पुनः खेल आरम्भ होने की आशा न पाकर वह भी तनिक निकट आ गई थी। कुँवर साहब की बात से मृदुला तनिक लजा कर चुप ही रही, उत्तर दिया रंजना ने 'किन-किन खेलों के आदी हैं आप?' और वह मुस्करा दी एक रहस्यभरी मुद्रा के साथ·· कुँवर साहब का रंजना से परिचय तो था किन्तु कभी अधिक बातचीत नहीं हुई थी···अब उस मुखरा की ओर देख कर उन्होंने भी कहा—'हम लोग हैं पुरुष। खेल खेलते हैं खिलाते नहीं···हमें तो प्रकृति जिस प्रकार नचाती है उसी प्रकार नाचना भर जानते हैं···आप जो भी खेल खिलायेंगी उसी का हमें आदी मान लीजिए···' 'तो यों कहिए कि आप सारे ही खेल खेल चुके हैं···क्यों?' तीनों इस बार रंजना की भावभंगी पर हँस पड़े। मृदुला की इच्छा हुई कि वह भी वैसी ही मुखरा हो पाती जैसी कि उसकी भाभी है···उसने साधारण-से स्वर में कहा—'तो आइए, अभी तो टैनिस ही खेला जाय···' 'और खेलों की बात फिर सोच-समझ कर की जायगी।' रंजना ने जोड़ दिया तनिक शरारत से—'किन्तु बहुत से खेल तो सोच-समझ कर खेले ही नहीं जा सकेंगे···' कुँवर ने मजाक के लहजे में कहा।

शेष बात हँसी के वेग में डूब गई। रंजना टैनिस लॉन के पास रखी कुर्सियों में से एक पर बैठ गई। मृदुला और कुँवर खेलने लगे। इधर कुछ दिनों से कुँवर ने गुप्त जी के घर आना-जाना अधिक कर दिया था।

उन्होंने मणीन्द्र की मिल में कुछ हिस्से भी खरीद लिए थे और उन्हें प्रायः ही माननीय मन्त्री महोदय के पास काम-काज से आना पड़ता था।···घर के भीतर भी उनका प्रवेश निषिद्ध नहीं था···मृदुला की माता से तो प्रायः उनकी बातें देर तक हुआ ही करती थीं किन्तु मृदुला को भी उस बातचीत में अधिकतर सम्मिलित होना पड़ता था···कभी-कभी तो केवल शिष्टाचार के नाते ही उसे वहाँ बैठी रहना तथा बातचीत में योग देना पड़ता था, किन्तु कभी-कभी उसे स्वयं भी उस प्रकार की बातचीत में रस आने लगता था। मृदुला टेनिस की अच्छी खिलाड़ी तो कभी भी नहीं थी किन्तु इधर कुछ अच्छा ही खेलने लगी थी। कुँवर साहब टेनिस के बहुत अच्छे खिलाड़ी थे। तनिक देर में ही मृदुला हारने लगी, किन्तु कुँवर समझ गए···अब उन्होंने मृदुला को खिलाना आरम्भ कर दिया···रंजना बैठे-ही-बैठे मुस्करा कर कभी इस ओर और कभी उस ओर देख भर लेती थी। कुँवर और मृदुला उत्साहित होकर खेल रहे थे। दो छोटे-छोटे बालक दौड़-दौड़ कर गेंद उठा कर उन्हें दे रहे थे। तनिक दूर हरी दूब से भरी लॉन पर रंजना का नन्हा-सा बच्चा सुन्दर वस्त्रों से विभूषित आया के साथ दौड़-भाग कर रहा था। हल्की-सी सर्दी पड़ने लगी थी। अतः लॉन की हरी घास कुछ शीतल हो गई थी। रंजना तथा मृदुला टेनिस के जूते पहने हुए थीं। कुँवर के लिए भी मणीन्द्र के टेनिस शूज मँगा दिए गए थे किन्तु अचानक रंजना की दृष्टि पास खड़े हुए गेंद उठाने वाले नन्हें से बालक पर पड़ गई। विचित्र-सा दृश्य था। चारों ओर प्रकृति की हरियाली सुशोभित थी। टेनिस-लॉन हरी घास सहित अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। दो युवक स्वस्थ सुन्दर शरीर खेल रहे थे और वह गेंद उठा-उठा कर दे रहा था। बालक की आयु अधिक से अधिक सात-आठ वर्ष होगी···दुबला-पतला हलका-फुलका-सा शरीर और उस पर तनिक ऊँचा-सा अधमैला पतला कुर्त्ता··· नंगे···बिवाइयों से भरे पैर···और चंचल से मुख पर दो प्यारे से उज्ज्वल नयन···बालक के चंचल नेत्र गेंद के साथ इस ओर से उस ओर और

उस ओर से इस ओर घूम रहे थे···सहसा रंजना की दृष्टि बेबी की ओर चली गई···दूध श्वेत बनियान पर बढ़िया पशमीने का नन्हा-सा कुर्त्ता और उस पर बहुत चाव से सिलवाई गई पशमीने की नन्ही-सी शेरवानी···नन्हा-सा चूड़ीदार पाजामा और जूते-मोजे···पुष्ट ३½ वर्ष का शरीर और कभी-कभी यों ही केवल परिवर्तन के लिए पहनी जाने वाली यह पोशाक। तिस पर भी दादी-दादा का उसे सर्दी से बचाए रखने का आदेश। न जाने क्यों प्रसन्नमुखी रंजना के नेत्र तनिक नम-से हो गए···कितना प्यारा था वह सात-आठ वर्ष का बालक···जिसे इस खेलने-खाने की ही आयु में जीविकोपार्जन का भार उठाना पड़ा था···शिक्षा जिसके लिए आकाश कुसुम थी और···अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा-व्यवस्था होते हुए भी जिसे अक्षर-ज्ञान से वंचित आठ रुपए मासिक पर अपने व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास को गिरवी रखना पड़ा था···और···और नन्हे के लिए·· उसकी देखभाल, उचित शिक्षा-दीक्षा के लिए आया के अतिरिक्त एक फ्रेंच गवर्नेस भी तो थी···रंजना का मन कड़वाहट का अनुभव कर रहा था···उसे लगा कि कहीं कुछ ऐसा बड़ा अपराध हो रहा है जिसे वह समझ नहीं पाती है···एक दिन जब मृदुला ने मास्टर साहब से पढ़ कर आते ही उससे कहा था—'भाभी ! सचमुच ही यह मानव का मानव के प्रति अन्याय है कि एक का विलास दूसरे के अभाव की सृष्टि करता हो।' तो उसने स्वयं ही तो हँस कर कहा था—'मिन्नी बहन ! यह तो अपना-अपना भाग्य है। अपने-अपने कर्मफल हैं···' और मृदुला ने बीच ही में बात काट कर कटु व्यंग्य-भरे स्वर में कहा था—'निजी अपराध को दैव, भाग्य अथवा ऐसी ही किसी अनजान वस्तु के सिर मढ़ देना सब से सरल है, क्यों भाभी ?'

रंजना ने तब हँस कर कहा था—'क्या आजकल गुरु से यही विद्या पढ़ी जा रही है ?'

और मृदुला ने बड़ी ही गम्भीरतापूर्वक एक दीर्घ निश्वास लेकर कहा था—'काश कि पढ़ पाती।' किन्तु आज स्वयं रंजना को जान पड़ा कि···

मानव का मानव से भेद कितना विचित्र है···कितना भयंकर है, और है कितना कटु···उसकी दृष्टि बार बार उस बालक के बिवाइयों से भरे पैरों से हट कर अपने बच्चे के मूल्यवान बूटों की ओर जाने लगी। उसका जी चाहा कि वह उधर देखे भी नहीं; किन्तु कहाँ दृष्टि तो उधर ही जा रही थी···उसका जी चाहा कि उस बालक को अपने पास बुला कर उसे प्यार करे; किन्तु वह ऐसा नहीं कर पाई। वह न जाने किस विचारधारा में बही जा रही थी···खेल समाप्त हो गया था। दोनों रैकिट लिए हुए माथे पर पसीने की बूँदें और लालिमा लेकर जब रंजना के निकट आ पहुँचे तो वह अपनी कल्पना की व्योम-लहरियों से वास्तविकता की कठोर धरती पर आ खड़ी हुई। मृदुला ने पूछा—भाभी! तुम खेलोगी?' रंजना का मन खेलने को नहीं हुआ। वहाँ बैठना भी उसे कठिन जान पड़ा। उसने कहा—'अब इच्छा नहीं होती। तुम लोग चाय तो पियोगे? यहीं भेजूँ अथवा भीतर चलोगे?' कुँवर ने उत्तर दिया—'अभी तो यहीं बहुत अच्छा लग रहा है।' और वह साथ ही एक कुर्सी पर बैठ गया।

'अच्छा! चाय यहीं दे जाने को कह दूँ। अभी आई।' उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही रंजना कोठी की ओर चली गई। मृदुला भी पास ही की कुर्सी पर बैठ गई। उसका मन कुछ बेचैन था किन्तु वह स्वयं जान ही नहीं पा रही थी कि वह क्या चाहती है। कुँवर ने तनिक हँस कर कहा—'आज तो आप को खूब थका डाला।'

'नहीं, नहीं बड़ा अच्छा खेल रहा। भाभी तो उतना अच्छा खेलती नहीं हैं। अच्छे खिलाड़ी के साथ खेल कर ही तो आनन्द आता है।' उसके स्वर में तनिक घबराहट-सी भी थी।

'ओह! ऐसी बात है तो मैं तो प्रति दिन ही उपस्थित हो जाया करूँगा···' तनिक आगे की ओर झुक कर उसने मधुर स्वर में कहा—'एक तो खेल और फिर आपके साथ···' वह मीठी-सी मुस्कान के साथ कह

गये। 'लीजिए! मैं क्या खेलती हूँ···आप का खेल तो तनिक भी नहीं हो पायेगा···' मृदुला के मन में कुछ मधुर-सा···कुछ मृदुल-सा, कुछ भला-भला-सा सुनने की इच्छा थी। शायद वह यही सुनना चाहती हो कि वह बहुत अच्छा खेलती है अथवा कुछ और ही।

'इससे अधिक आनन्द मुझे जीवन में कदाचित ही कहीं आया हो आप सम्भवतः इस पर विश्वास भी नहीं कर पायेंगी···' कुँवर ने अत्यधिक भावुक स्वर में कहा। सुनकर मृदुला को बहुत ही अच्छा लगा। उसकी इच्छा हुई कि कुँवर कुछ और कहे और कहे ही जाये, कुछ और बोले और बोलता ही जाये। वह केवल सुनती ही रहे। कुँवर मुस्करा रहा था तथा साथ ही साथ उसकी ओर देख भी रहा था।

मृदुला की भावभरी आँखें दूर लॉन के अन्तिम छोर पर थीं···उसकी बड़े-से हीरे से जगमगाती दाहिने हाथ की बिचली अँगुली कुँवर की ओर के कुर्सी के हत्थे पर यों ही असावधानी से रखी हुई थी···कुँवर की इच्छा हुई कि उसके दाहिने हाथ को हीरे की अँगूठी समेत उठा कर अपने दाहिने हाथ में बन्द कर ले। उसका प्रियदर्शी मुख खेल की श्रमजनित लालिमा से और भी उज्ज्वल हो उठा था···नारी कुँवर के लिए न तो एकबारगी अपरिचित ही थी और न विचित्र ही। फिर भी उसका जी चाहा कि क्षणेक को कि मान ही ले कि यह नारी सुन्दर है अत्यधिक सुन्दर और उन सबसे भिन्न जिनसे आज तक उसका परिचय हुआ है। अपनी माँ, सौतेली माँ और परिवार की अन्य आश्रित महिलाओं के अतिरिक्त भी उसने देश और विदेश की सैकड़ों नारियों को जाना था किन्तु समझा नहीं था, समझने की चेष्टा भी नहीं की थी। समझ कर उसे करना भी क्या था? बचपन से ही अनेकों संघर्षों के बीच पल कर वह बड़ा हुआ था। राजकुँवर की माँ चाहती थी एक कुँवरानी प्राप्त करना जो कि किसी उच्च कुल की सन्तान हो, जिसके साथ दहेज में सैकड़ों दास-दासी आयें, जिसके कुल की मर्यादा एक विशेष स्तर से कुछ अधिक ऊँची ही हो और जिसे इस कुल की लाज-

मर्यादा सौंपकर वह सहज ही निश्चित हो सकें। उन्हें परिवार के, घर के, रियासत के लिए कुल-वधु की आवश्यकता थी। विश्व के सभी प्रमुख देशों में घूमा-फिरा कुँवर का स्वतन्त्र मन एक साथिन चाहता था। ऐसी साथिन चाहता था जो उसकी सहेली होती, मित्र होती, मन्त्री होती, सलाहकार होती और होती स्थायी प्रेमिका। जहाँ एक ओर कुँवर का जन साधारण के स्तर पर बरबस लाया गया मन साथिन चाहता था समानता के अधिकार लेने वाली वहीं उसके पीढ़ीगत रक्त में घुले-मिले संस्कार माँग करते थे एक अनुगता की, आश्रिता की, आज्ञाकारिणी पत्नी की। इन्हीं सब विभिन्न विरोधाभासों के बीच दबा-ढका कुँवर का मन अभी तक निर्द्वन्द्व निश्चिन्त और मुक्त ही था। वह उसे बाँधना भी नहीं चाहता था और कहीं किसी ओर से वैसा प्रबल आग्रह भी तो नहीं ही था। नारी के प्रति उसकी धारणा भी कभी किसी अवस्था में भी खिलौने से अधिक नहीं रही थी। जब जो खिलौना अच्छा लगा वह सहज ही उसके हाथ में आ गया। खेला और फिर जी भर गया उसे छोड़ दिया। ऐसे अवसरों की भी उसे कमी नहीं थी जब कि उसके हाथों ने सहज ही किसी के हाथों को अपने आप में भर लिया था और ऐसा करके मानों उसने उन दूसरे हाथों को कृतज्ञ ही किया था; किन्तु चाह कर भी आज वह वैसा कर नहीं पाया। मृदुला सोच रही थी कि कितना भव्य, कितना सभ्य और कितना सुसंस्कृत है यह युवक। उसकी इच्छा हुई कि इसी प्रकार सदा-सर्वदा वह और कुँवर बैठे रहें साथ-साथ किन्तु मन ही मन वह स्वयं अपनी इच्छा पर झेंप गई। नौकर चाय लेकर आ गया था। मृदुला की तो मानो रक्षा ही हो गई। उसने तुरन्त चायदानी पर से टी कोसी उतार कर प्यालों में चाय डालना आरम्भ कर दिया। कुँवर अब भी उसकी ओर देख रहा था। उसे यह ज्ञात था फिर भी वह ध्यानपूर्वक चाय उँडेलती ही रही।

१७

आधी रात के गहरे सन्नाटे में अचानक मंजुला की आँख खुल गई। उसे जान पड़ा कि उसके सिर में भयानक दर्द हो रहा है। उसने करवट बदलना चाहा किन्तु जान पड़ा कि रीढ़ की हड्डी ही टूट जायेगी। वह धीरे-धीरे कराहने लगी। कल से ही तो उसका जी कुछ ठीक नहीं लग रहा था। कल स्टाफ रूम में विमला प्रभाकर ने कहा था कि छुट्टी ले लो तुम्हारी तबीयत कुछ ठीक नहीं लगती है। आँखें भी लाल हो रही हैं। सुनकर उसे भी ध्यान आ गया कि रात से ही उसके सिर और सारे शरीर में दर्द हो रहा था फिर भी आराम करने की सुविधा ही कहाँ थी। भइया दिन भर नौकरी के चक्कर में और रात भर माँ के सिरहाने बैठकर काट देता था। माँ की हालत दिन-दिन बिगड़ती ही जाती है और भाई को नौकरी मिल नहीं रही है। वह अकेली कहाँ तक घर और बाहर दोनों को ही सम्भाले। वेतन भी कितना मिलता है फिर बीमारी का घर। एक महरी भी तो वह रख नहीं पाती। करे भी तो क्या करे। पिछले महीने पिता की बर्षी थी उसी में न करते-करते भी दो सौ रुपये उठ गये और फिर भी सब कहीं थुड़ी-थुड़ी ही हुई। भइया तड़फ-तड़फ कर रह जाते थे किन्तु माँ जब तक है तब तक तो सभी करना पड़ेगा। रुपये थे भी कहाँ ? गिरिजा भाई से उधार लेकर काम चलाया। अब उन्हें देना भी है। कैसे होगा। खर्चा किधर से कम किया जाये। आधा जाड़ा बीत गया कोट तो कोट नई शाल भी नहीं बन पाई। सुवीरा कह रही थी कि 'एक कोट बनवा लो नहीं तो जानती हो इन लड़कियों को। आफत की पर-काला हैं। और भई ! इस युग में मनुष्य से उसके गुणों से अधिक कद्र है उसकी वेश-भूषा की, उसके धनी होने की, चलती-फिरती घोषणा की।' भइया ने भी कहा था—'मंजु ! इस बार एक नया कोट बनवा लो। पुराना कोट तो छोटा भी हो गया है और अब देखने में भद्दा भी लगता

है।" किन्तु कहाँ से बनवा लूँ। कट-कटाकर एक सौ कुछ ही रुपये तो हाथ में आते हैं। घर का काम कैसे चलाती हूँ यह मेरा ही जी जानता है। मैं जानती हूँ कि छात्राएँ मजाक करती हैं—"मिस कपूर कोट फण्ड" जमा करने की बातें करती हैं। साथिनें भी जो अपेक्षाकृत कुछ अधिक सौभाग्यशालिनी हैं। व्यंग से मुस्करा देती हैं···कोई कोई तो कभी-कभी कह भी देती हैं—'अरे इतना कमाती हो। कुछ अपने पर भी तो खर्च किया करो। तुम तो भला लेख-वेख भी लिखती रहती हो। उससे भी तो आमदनी होती ही है···" और लेख···हाँ लेखों की माँग तो रहती है किन्तु पारिश्रमिक कभी-कभी ही दस या पन्द्रह रुपये मिल पाता है। गिरिजा भाई ने रेडियो पर भी रसाई तो करा दी थी किन्तु अधिक पैसे तो ड्रामे आदि में मिलते हैं उसके लिए अवकाश कहाँ है···उसके लिए तो घंटों रिहर्सल और रिहर्सल क्या हँसी-मजाक ही चलता रहता है जिसके लिए कहाँ से समय और मन लाऊँ···टाँक में क्या मिलता है दस रुपये··· बहुत हुए तो पन्द्रह···वह भी कभी-कभी तीन चार महीने बाद मिल पाते हैं···मंजुला ने चाहा कि वह सो जाये किन्तु दर्द बढ़ता ही जा रहा था। उसने सोचा कि उठकर बाम उठा लाये···किन्तु बाम तो पिछले महीने चाह कर भी नहीं ला सकी थी। इधर महीनों से वह बाम और ऐस्पो, एस्प्रीन, ऐनासीन आदि के सहारे ही जी रही थी किन्तु वह भी तो सहज ही खरीद नहीं पाती है। विवशता से उसकी आँखों में आँसू आ गये। उसका जी चाहा कि चीख-चीख कर रो पड़े किन्तु उसकी सुविधा भी तो नहीं थी। पास ही के कमरे में माँ थी और उनींदा था भाई···कितनी विवश है वह रो भी नहीं सकती···कल फिर उठना होगा···कैसे उठेगी वह···नहीं, नहीं···वह छुट्टी ले लेगी किन्तु कैसे लेगी छुट्टी···आकस्मिक छुट्टी नहीं मिलेगी···मिसिज शर्मा परसों ही तो कह रही थीं कि वर्ष का अन्त है अतः सभी अध्यापिकाएँ यूँ ही अपनी आकस्मिक छुट्टियाँ लिए जा रही हैं यह ठीक नहीं है। आकस्मिक छुट्टी कोई अधिकार थोड़े ही है।

वह तो जरूरत पड़ने पर ही लेना चाहिए···और आकस्मिक छुट्टी बची भी कितनी होंगी तब फिर मेडिकल छुट्टी···हाँ तीन साल तो हो गये हैं···एक महीने की तो मिल ही सकती है फिर मुझे तो दो-चार दिन की ही बीमारी की छुट्टी लेना होगा ··किन्तु मेडिकल लीव के लिए तो डाक्टर के सार्टीफिकेट की जरूरत होगी···डाक्टर की फीस, दवा के दाम यह सब कहाँ से आयेगा ? कम से कम दो रुपये फीस के न होने पर तो··· माँ का भी तो इलाज इसीलिए नहीं हो पा रहा है फिर···फिर···मंजुला छटपटा रही थी···उसे याद आया कि एक दिन सोलह रुपये की इत्र की एक शीशी उसके हाथ से छूटकर गिरकर टूट गई थी वह घबरा गई थी···उसकी आँखें डबडबा गई थीं। किन्तु पिता ने उसकी पीठ पर हाथ रख कर कहा—"तो क्या हो गया बेटा जो तू इतनी उदास हो गई। जाने दे और ले आयेंगे···" कहाँ हैं आज वह पिताजी··· उनकी बेटी आज दो रुपये···केवल दो रुपये के लिए···और···और··· पास के कमरे में कुछ शब्द था···बत्ती जली और फिर तीव्र, विकट खाँसी के साथ-साथ वमन करने की आवाज आई···मंजुला का मन हुआ कि उठकर माँ के कमरे तक चली जाये···शायद माँ ने फिर उलटी की है··· शायद भइया उनकी पीठ सहला रहे हैं···शायद···शायद···किन्तु उठा नहीं गया···वह पिछले तीन दिन से सो नहीं पा रही है। दिन भर भी मुक्ति नहीं है। कालेज में परीक्षाएँ हो रही हैं···उसे परीक्षा भवन में तीन घंटे निरन्तर घूमना पड़ता है···बैठ भी तो नहीं सकती···वह नहीं उठेगी···उससे नहीं उठा जाता···न जाने कब इसी ऊहापोह में मंजुला लस्त-सी पड़ी-पड़ी सो गई···प्रातः ६ बजे जब अरुण ने आकर उसे पुकारा तो वह लगभग जाग ही-सी गई थी ? मंजुला प्रतिदिन पाँच बजे सोकर उठती थी ? अच्छे दिनों में मंजुला किसी दिन भी सात से पहले उठना ही नहीं चाहती थी किन्तु वे तो अच्छे दिन थे न···अब तो वर्षों से उसे पाँच बजे ही उठने का अभ्यास हो गया है। आज जब वह छः बजे

तक अपने कमरे से नहीं निकली तो अरुण चिन्तित हो गया। माँ ने भी कहा—"जाकर देख तो आज मंजु उठी क्यों नहीं? क्या बात है? जी तो ठीक है न?"

अर्द्धचेतन मंजुला के कान में भाई की अकुलाहटभरी पुकार पहुँची—'मंजु! मंजुरी!! क्या बात है? तेरा जी तो ठीक है न?' मंजु का जी चाहा कि कह दे कि उसका जी ठीक नहीं है। वह उठ कहीं सकेगी। उसके पोर-पोर में दर्द हो रहा है किन्तु तुरन्त ही उसकी कल्पना में घूम उठी भाई की असहाय, विवश एवं चिन्तित दृष्टि···माँ की बुरी तरह तड़फा देने वाली लाचारी, बेबसी और फिर···फिर डाक्टर की फीस के दो रुपये···पूरे दो रुपये जिनसे माँ के लिए चार दिन का दूध आ सकेगा··· अथवा आठ दिन के लिए जैसे-तैसे घर में तरकारी आ सकेगी···अथवा बीमार माँ की चार खुराक दवाई आ सकेगी। फिर प्रिन्सिपल की कठोर दृष्टि भी तो दिखाई दे रही थी···मन की समस्त शक्ति जर्जर शरीर में किसी प्रकार एकत्रित करके मंजुला ने उत्तर दिया—'ठीक तो हूँ भइया। अरे आज उठने में बड़ी देर हो गई। कोई बात नहीं अभी उठी जाती हूँ।' और वह बिस्तर पर उठकर बैठ गई। अरुण ने कहा—'अरे मैं और माँ तो घबरा गये थे कि बात क्या है?'

'नहीं, नहीं ये तो जरा मैं रात को ज्यादा थक गई थी सो उठने में देर हो गई।' वह लड़खड़ाती हुई उठकर कमरे से बाहर चली गई। अरुण ने बहुत दिनों बाद आज पहली बार देखा कि मंजु दुबली हो गई है। उसके चेहरे पर लालिमा का स्थान पीलेपन ने ले लिया है। आँखें भी कुछ मुरझा-सी गई हैं और फिर उसे जान पड़ा कि वह अपनी फूल-सी बहिन को पीसे डाल रहा है। कितना काम करती है यह नन्हीं-सी लड़की··· घर का, बाहर का और सभी कहीं का तो···वह भी थोड़ा-कुछ काम-काज करता तो है किन्तु कितना-सा एक हिन्दी के साधारण से पत्र में रिपोर्टर के स्थान के लिए नियुक्ति पत्र पा लेने के लिए वह आजकल जमीन-आसमान

एक किये डाल रहा है किन्तु नियुक्ति होती कहाँ है···बेचारे सम्पादक और प्रबन्धक की जान भी आफत में है···कहीं कोई मन्त्री महोदय का भाई है तो कहीं किसी सचिव का कोई साला, तो कहीं किसी डाइरेक्टर का कोई भतीजा···साधारण-सी पचहत्तर रुपये की नौकरी के लिए हजारों ही तो उम्मीदवार हैं किया भी क्या जाये। अजब परेशानी है। ट्यूशन भी तो कोई ढंग की नहीं मिलती···थोड़े से वेतन पर दिन भर दौड़-धूप करके एड़ी से चोटी तक का पसीना एक करके छात्र को पढ़ाओ, पास कराओ और महीना पूरा हो जाने पर भी सुनो 'मास्टर साहब! कल आइयेगा। अरे ऐसी भी क्या जल्दी है, आपकी फीस मिल ही जायेगी। हम कहीं भागे थोड़े ही जाते हैं।' एम० ए०, एल० एल० बी० करके भी यदि वह जानता कि यह हालत होगी तो शायद वह अनपढ़ ही रहता···गिरिजा··· न जाने क्यों उसे रत्ना के सर्वाधिक अयोग्य छात्र गिरिजा की याद आ गई जो कि उन दिनों पार्लियामेन्टरी सेक्रेटरी बन चुका था···अभागा अरुण···हतभागे इस देश के अधिकांश शिक्षित युवक···अभागे निम्न-मध्यवर्ग के दबे-पिसे नागरिक और उसने एक दीर्घ निश्वास छोड़ दिया।

दो घंटे पश्चात् कक्षा से प्रिन्सिपल की आज्ञा पर मंजुला को काँपता शरीर, थका मन और अवसन्न प्राण लेकर उनके दफ्तर की ओर जाना पड़ा। मंजुला सदा ही कम बोलने वाली और शान्त प्रकृति है। सुख के दिनों में तो सभी उसे अत्यन्त सुशील और प्रसन्नचित्त कहा करते थे। क्रोध तो उसे आता ही नहीं था और वाणी पर संयम, सुसंस्कृत बातचीत तो मानो उसे जन्म से ही सिद्ध थे। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि होने के साथ ही साथ अपने विषय पर उसका अच्छा अधिकार भी था। अतः कालेज में सभी उसे एक कुशल अध्यापिका मानते थे? स्वयं प्रिन्सिपल भी उसे मानती थीं। फिर भी मंजुला को न जाने क्यों प्रिन्सिपल से सदा ही कुछ भय-सा लगता रहता था। उस दिन भी प्रिन्सिपल की बुलाहट से

वह कुछ घबरा-सी गई फिर भी जाना तो था ही ? आज्ञा लेकर भीतर जाते ही मंजुला को दिखाई दिये विद्यालय के प्रबन्धक और उनके पास ही बैठे थे एक और शुभ्र खादी के वस्त्रों से सुशोभित प्रियदर्शी धनी दिखाई देने वाले व्यक्ति। मिसिज शर्मा ने उसे इंगित से कुर्सी पर बैठने की आज्ञा दी। मंजुला कुछ डरते, कुछ झिझकते तथा कुछ सहमते हुए बैठ गई। वह प्रिन्सिपल की ओर ही देख रही थी। कुछ मुस्कराकर मिसिज शर्मा ने मंजुला का परिचय प्रबन्धक महोदय से कराया—'मिस कपूर! आप हमारे नगर के गण्य मान्य व्यवसायी श्री लालचन्द्र हैं। मूलचन्द आयरन वर्क्स तथा बालचन्द्र साइकिल वर्क्स आप ही के हैं। आप प्रसिद्ध समाज-सेवी और शिक्षाविद् हैं। हमारे विद्यालय के प्रबन्धक भी हैं।' मंजुला इस लम्बी-चौड़ी भूमिका का अर्थ नहीं लगा पा रही थी। अतः कुछ मन ही मन सहम-सी गई थी। मिसिज शर्मा कहे जा रही थीं—'हमारे विद्यालय के तो आप प्राण ही हैं। और हाँ यह सज्जन आपके परम मित्र और साथी श्री गणपतराम जी हैं। इनकी पुत्री आपकी छात्रा भी हैं। वह सेकेण्ड ईयर में पढ़ती है न। कृष्णा।' लम्बी-चौड़ी भूमिका एवं परिचय सुनकर मंजुला ने सिर झुकाकर दोनों सज्जनों को प्रणाम किया। प्रबन्धक महोदय को तो वह पहले भी कई बार देख चुकी थी किन्तु ढंग से परिचय कराये जाने का यह प्रथम ही अवसर था। उसने उनकी ओर देखा। वह मंजुला की ओर ही देख रहे थे। उसे अपनी ओर देखते पाकर तनिक मुस्करा दिये।

मंजुला को उनकी मुस्कान कुछ विशेष भायी तो नहीं किन्तु वह चुप ही रही। और कर भी क्या सकती थी तिस पर थके हुए शरीर और अवसन्न मन के कारण उसे शीघ्र ही वहाँ से भाग जाने की इच्छा हो रही थी किन्तु रंग-ढंग देखते हुए आशा कुछ कम ही जान पड़ती थी जल्दी छुटकारा पाने की। उसने ऊब कर प्रश्नसूचक ढंग से श्रीमती शर्मा की ओर देखा। उन्होंने धीरे-धीरे शब्दों को खूब सजा-बनाकर रहना आरम्भ

किया—'मिस कपूर ! आपके पढ़ाने का ढंग इतना अच्छा है कि लड़कियाँ आप ही से पढ़ना चाहती हैं। आप तो जानती ही हैं कि कृष्णा कितनी अच्छी लड़की है। पिछले साल न जाने कैसे वह फेल हो गई और फेल हुई थी आपके ही विषय में। कई ट्यूटर श्री गणपतरामजी रख चुके हैं पर वह किसी और से पढ़ना ही नहीं चाहती है। एक घंटे आप ही पढ़ा दिया करें न···' मंजुला कुछ सोचने लगी। उसने कल्पना में देखे साठ चमचमाते हुए रुपये अथवा खरखराते हुए नोट। स्वयं उसके पिता ने ही एक बार उसे एक विषय पढ़ाने के लिए ट्यूटर को साठ रुपये मासिक पर रखा था। वह तो साधारण स्थिति के व्यक्ति थे किन्तु यह तो लखपती हैं। तिस पर लड़की मुझ ही से पढ़ना चाहती है। साठ रुपये···साठ रुपये मंजुला को जैसे मुक्ति का···अनेकों चिन्ताओं के मुक्ति का सन्देश देने लगे किन्तु समय ? कहाँ से लायेगी वह समय ? न होगा रात को कुछ देर और अधिक जग लेगी···उसे चुप देखकर मिसिज शर्मा ने एक बार श्री लालचन्द्र जी की ओर देखा। उन्होंने अपनी भद्दी-सी, मुस्कराहट ओठों पर फैला कर हीरे की अंगूठीसज्जित दाहिना हाथ तनिक-सा मेज पर मार कर कहा—'मैंने तो इनसे कह ही दिया था कि क्या चिंता है मिस कपूर को हमीं ने तो नौकरी दिलाई थी, पढ़ा देंगी। लड़की को पढ़ाने में क्या है अपने घर की ही तो लड़की है और फिर यहाँ से वेतन तो मिलता ही है···'

ग्लानि से मंजुला का मन प्राण जल उठा। बेबसी से उसकी आँखें भरभर आने को हुईं किन्तु वह कहे जा रहे थे और मंजुला सुने जा रही थी 'पर यह माने ही नहीं। कहने लगे चलो उनसे पूँछ तो लिया जाये ही और फिर बीस रुपया महीना भी देंगे। इतवार की छुट्टी रहेगी। कभी कदास रात-बिरात हो जाय या इनकी गाड़ी इधर आती हुई तो मोटर पर घर भी पहुँचवा देंगे ? यूँ कभी-कभी चाय-वाय भी वहीं पी लीजियेगा।'

मिसिज शर्मा कुछ झेंप-सी गईं। श्री गणपतराम जी अपने प्रियदर्शी मुख पर मीठी-सी मुस्कान लाकर मंजुला की ओर चुपचाप देखते ही रहे और श्री लालचन्द जी अपनी इतनी बात का प्रभाव देखने को कुछ रुक गये। मंजुला को जान पड़ा कि उसका घोर अपमान किया जा रहा है। वह गरीब है, अनाथ है यह सत्य है। उसने नौकरी की है यह भी ठीक है किन्तु परिश्रम करके वेतन लेना भी क्या किसी का अहसान लेना है अथवा काम करवा कर धन देना भी क्या किसी पर अहसान करना है···और फिर···बीस रुपये···एक घंटा प्रतिदिन इन्टर को पढ़ाने के बदले···उस अमूल्य साठ मिनटों के एक घंटे के बदले जो उसे अपने रक्त की असंख्य बूँदें जला कर निकालने पड़ेंगे। कभी-कभी चाय मिल जायेगी···कार की सवारी मिल जायेगी···आरक्त मुख और भी अधिक लाल हो गया···उसने अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'मेरी माँ बीमार है। यह ट्यूशन मैं नहीं कर सकूँगी?' मिसिज शर्मा का मुख सूख गया? श्री लालचन्द जी का मुख तमतमा गया—'मिस कपूर! यह ट्यूशन तो आपको करना ही होगा? रुपये कम हों तो दो-चार और बढ़ा देंगे पर लड़की को पढ़ाना तो होगा ही।'

'कृष्णा मेरी छात्रा है। मैं उसे यहीं पर यूँ ही पढ़ा दिया करूँगी?'

'क्यों हमारे घर आने में आपको क्या इतराज है?' शब्दों में व्यंग्य निहित था।

'मुझे समय नहीं मिलता। मेरी माँ बहुत बीमार हैं। उनकी सेवा भी करनी होती है और घर का काम भी।'

'कोई नौकरानी रख लें किन्तु यह काम करना ही है?' इस बार आज्ञा की ध्वनि स्पष्ट थी।

'बालिका को मैं पढ़ा दिया करूँगी जब भी कभी वह और मैं खाली रहेंगे पर ट्यूशन नहीं कर सकूँगी।'

'तब जाने दीजिये लालचन्द जी। आपने बहुत कहा था तो मैं चला आया।' पहली ही बार श्री गणपत राम जी बोले। स्वर में रूठने का-सा आभास था।

'मिस कपूर! आप जानती हैं सेठ गणपतराम जी ने अपने कालिज को कितना दान दिया है?'

मंजुला प्रश्न का तात्पर्य नहीं समझी किन्तु उसे यह सब अच्छा नहीं लग रहा था।

मिसिज शर्मा मन ही मन घबरा रही थीं किन्तु विवश थीं। उन्होंने समझौता कराने के-से भाव से कहा—'मिस कपूर! ट्यूशन ले लीजिये। आपकी माँ की तबीयत तो दो-चार रोज में ठीक हो ही जायेगी।'

मंजुला परिस्थिति स्पष्ट करना चाह कर भी नहीं कर पाई। उसने इतना ही कहा—'मेरे पास समय नहीं है। अतः मैं इनकी पुत्री को शाम को घर जाकर नहीं पढ़ा पाऊँगी। यूँ वह मेरी छात्रा है। आप मुझ पर विश्वास कीजिये मैं भरसक उसकी सहायता करने की चेष्टा करूँगी।' मंजुला ने इस बार उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। वह उठकर मिसिज शर्मा से आज्ञा लेकर एवं इन दोनों को प्रणाम करके कमरे से बाहर चली गई। श्री गणपतराम जी ने श्री लालचन्द से कहा—'चलो भाई! अब चलें।' श्री लालचन्द को जान पड़ा कि उनका इससे अधिक अपमान और जीवन में कभी हो ही नहीं पाया था। उन्होंने मन-ही-मन जल-भुन कर कहा—'देख लूँगा।' ऊपर से तनिक शान्त मुद्रा बना कर मिसिज शर्मा से कहा—'आपकी अध्यापिकाएँ कुछ अनुशासनहीन होती जा रही हैं और यह मिस कपूर तो बड़ी अभिमानी जान पड़ती हैं। इनके काम की पहले भी शिकायतें आती रहीं हैं। जरा इनका काम ठीक से देख कर रिपोर्ट तो भेजियेगा?' साथी की मन्द-मन्द मुस्कान उनकी क्रोधाग्नि में घी का काम कर रही थी। मिसिज शर्मा का मन आशंका एवं चिन्ता से भर गया था। उन्हें जान नहीं पड़ता था कि क्या कहें और क्या न कहें किन्तु कुछ कहना

तो था ही ? जैसे-तैसे उन्हें शान्त करके विदा कर चुकने पर मिसिज शर्मा ने एक बार और मंजुला को समझाना चाहा किन्तु मंजुला यूँ ही आत्म-ग्लानि से भरी जा रही थी। उसका तिक्त मन उदासी, विवशता और ग्लानि से भर कर ऐंठ-सा रहा था। वाणी की कोमलता, नम्रता सब चुक गई थी। उसने मिसिज शर्मा से कहा—'कह तो चुकी हूँ कि यह ट्यूशन नहीं कर सकूँगी। आप बार-बार कहकर मुझे दुःखी क्यों कर रही हैं ?'

'जिद न करो मिस कपूर। परिणाम अच्छा नहीं होगा, इसीलिए कह रही हूँ।'

'मैं आपको कैसे समझाऊँ कि यह मेरी जिद नहीं है, विवशता है ? मेरे पास सचमुच ही समय नहीं है, मिसिज शर्मा।'

'तब फिर···तब फिर···' मिसिज शर्मा वाक्य चाह कर भी पूरा नहीं कर पाईं। मानसिक उलझन से मंजुला भी थक गई थी। उसने तनिक चिढ़ कर कहा—'क्षमा करें मिसिज शर्मा। मैं आपकी अत्यन्त आभारी हूँ किन्तु लाचार हूँ।' और वह चली गई। उसका जी चाहा कि वह रो पड़े, बड़ी जोर से सिसक-सिसक कर रो पड़े, चीख उठे···चिल्ला उठे किन्तु यह सब कर पाने की सुविधा भी कहाँ थी ? चारों ओर से अध्यापिकाओं की उत्सुक, जिज्ञासु दृष्टि मानो उसे पी जाना चाहती थीं। वे जानना चाहती थीं कि हुआ क्या है ? अनुमानतः, अटकल से भुक्तभोगी बहुत कुछ समझ भी रही थीं किन्तु मंजुला का पीला, उदास, सूखा-सा मुख देख कर कुछ की तो हिम्मत ही नहीं पड़ी और कुछ ने छेड़ना उचित भी नहीं समझा। मंजुला को दिन भर निरन्तर काम तो करना पड़ा किन्तु उसे यह भी नहीं जान पड़ा कि उसने क्या काम किया और कैसे किया। इतनी हलचल में सिर का दर्द और ज्वर की तेजी भी याद नहीं रही। चकराते हुए सिर और जलती हुई आँखों सहित जब मंजुला घर पहुँची तो सन्ध्या के साढ़े चार बज चुके थे। दोपहर की धूप ढल चुकी थी। मंजुला को इतना भी अवकाश नहीं मिला कि वह दिन भर की बातचीत पर एक बार विचार ही

कर पाती। पुस्तकें कमरे में पटक कर किसी तरह उलटी-सीधी धोती बदल कर मंजुला पानी भी पिये बिना रसोईघर में जा घुसी।

१८

'जिन्दगी यूँ भी गुजर ही जाती,
क्यों तेरा राहगुजर याद आया···'

धीमी-सी स्वर-लहरी गूँज रही थी। कुँवर ने कुछ अर्थपूर्ण दृष्टि से मृदुला की ओर देखा···मृदुला न चाह कर भी तनिक-सा मुस्करा दी। कुँवर ने भावपूर्ण ढंग से दोहराया—'जिन्दगी यूँ भी गुज़र ही जाती, क्यों तेरा राहगुज़र याद आया ?'

मृदुला चुप ही रही। कुँवर ने फिर उसकी ओर देख कर कहा—'मृदुला जी ! ख़ूब कहा है ग़ालिब ने भी ।' अब मृदुला को बोलना ही पड़ा। उसे सुन कर भला भी लग रहा था। मन में कुछ हलकी-हलकी गुदगुदी-सी भी हो रही थी और कुछ और अधिक सुनने की इच्छा भी। उसने उसी ढंग से उत्तर दिया—'गालिब का है अन्दाज़े बयां और।'

'ओह तो आप शायरी से भी शौक रखती हैं ? भई ! तब तो हमारी ख़ूब पट जायेगी।'

'क्यों क्या आप भी यह शौक़ रखते हैं ?'

'कहने का नहीं सिर्फ सुनने भर का और शायद समझने का भी··· काश कि आप भी समझ सकतीं···'

'मैं क्या समझती हूँ और क्या नहीं, इसका पता आपको कैसे लग गया ?' मृदुला ने कुछ शरारतभरे ढंग से बनाने की दृष्टि से कहा।

'उन्हें अपने दिल की खबरें मेरे दिल से मिल रही हैं। जो मैं उनसे रूठ जाऊँ तो पयाम तक न पहुँचे।'

'जाने दीजिये।'

'और जो कहीं यही सच हो तो···'

मृदुला चुप रही। उसके गालों पर लाली दौड़ गई थी। कुँवर ने छेड़ने के-से अन्दाज में कहा—'अब बोलिये न···तो···'

'तो क्या ?'

'वही तो पूछ रहा हूँ।'

'आप बहुत शरीर हैं।' रोकते-रोकते भी मृदुला के मुँह से निकल गया किन्तु यह कह कर स्वयं ही बेतरह झेंप गई। कुँवर खिलखिला कर हँस पड़ा। तनिक हँसी थमने पर उसने मुस्कराते हुए कहा—'मृदुला जी ! सच-मुच आज आपने एक बड़े भारी सत्य का उद्घाटन···अरे नहीं···नहीं उसे क्या कहते हैं इन्वेन्शन···हाँ···अनुसन्धान···कर डाला···' मृदुला के कानों में अब भी गूँज रहा था—'आप बहुत शरीर हैं···' और फिर मीठी-खिलखिलाहट। कुँवर ने हलकी-फुलकी हँसी के बीच ही कहा—'मृदुला ! मैं जो कुछ हूँ बहुत ही हूँ···याद रखियेगा···शरीर हूँ तो भी बहुत और दुष्ट हूँ तो भी बहुत···कम रहना मुझे आता ही नहीं···अरे इन्सान कुछ हो तो बहुत तो हो जी भर कर तो हो···'

'सच ? क्या यही आपका सिद्धान्त है ?'

'सिद्धान्त की बात नहीं जानता किन्तु किसी भी बात में कम नहीं हूँ यही क्या कम है ?'

मृदुला को उसकी उलझी-पुलझी-सी बात पर हँसी आ गई। उसने इस विचित्र व्यक्ति की ओर आँख उठा कर देखा। स्वस्थ, युवक मुख तनिक-सी सूर्य की लालिमा में चमक रहा था। मृदुला को जान पड़ा कि उस दमकते हुए चेहरे के पीछे कुछ बुरा हो सकता ही नहीं है···है सब अच्छा ही अच्छा···उसको एक अपूर्व तृप्ति का-सा अनुभव हुआ···उसका जी चाहा कि कह दे 'आप बहुत अच्छे हैं।' किन्तु उसने कुछ भी नहीं कहा। कुँवर ने पूछा—'आप क्या सोचने लगीं ?'

'कुछ भी तो नहीं ।'

'देखिये ! यह बीच-बीच में आप जो समाधि लगा जाती हैं इससे मुझे घबराहट होने लगती है ।'

'कैसी घबराहट ?'

'यही कि कहीं आप रूठ न गई हों ।'

'आप से भी कभी कोई रूठ सकता है इस बात पर आपको यकीन आता है ?'

'यकीन करना चाहता तो नहीं क्योंकि यकीन न करना ही मेरे हक़ में है ।'

मृदुला का जी चाहा कि वह कह दे कि बातें बनाना तो कोई आपसे सीखे किन्तु वह फिर भी कुछ कह न सकी केवल यही सोचती रही कि कुँवर इसी प्रकार बैठे बातचीत किये जायँ और वह सुने जाय···और तभी अनजाने···अनचाहे ही उसके मस्तिष्क में कहीं उभर उठा मास्टर साहब का एक वाक्य 'मीठी-मीठी बातें करने का अवसर और सुविधा जिन्हें हैं वह क्या यह भी कभी सोचते हैं कि ऐसी सुविधा, ऐसा अवसर उन्होंने कितने मानवों को असुविधाओं के ठीक बीचोबीच जिन्दा ही गाड़ कर अपने लिए सुलभ किया है···'

इन्हें मीठी-मीठी बातें करनी आती हैं । ऐसी इन्हें सुविधा भी है और अवसर भी किन्तु क्या यह भी···नहीं···नहीं···ऐसा नहीं हो सकता··· कुँवर हृदय से ही कोमल है···अभी उसी दिन तो गुलाब का फूल तोड़ते हुए उसकी अँगुली में तनिक-सा काँटा चुभ गया तो कुँवर कितने परेशान हो गये थे···जरा-सी ही तो बात थी किन्तु इन्हें कितनी चिन्ता हो गई थी···तब क्या···और तभी कल्पना भी जग उठी,- देखीं दो जलती-सी आँखें···और···और दो करुण सजल···नयन···जिन्हें वह बहुत दिनों से देख नहीं पाई थी और अन्तिम बार उन्हें देखा था तो वे सजल थे··· करुण थे···

'देखिये आप फिर कुछ सोचने लगीं···भई। यह फिलोसॉफिकल मूड तो हमें जरा भी अच्छा नहीं लगता है।'

'आप बोल रहे हैं तो कोई सुनने वाला भी तो चाहिए···'

'और बोलने वाले को भी तो कुछ सुनने के लिये चाहिये···'

'आप तो इतनी अच्छी बातें करते हैं···'

'तब भी तो आप कुछ और सोचने लगती हैं।'

'हो सकता है मैं उसी के विषय में सोचती होऊँ···'

'उहुँ···शायद आप जानती नहीं मैं ज्योतिषी भी हूँ···'

'यही कह कर यूरुप में लोगों को ठगते होंगे···'

'सब को नहीं केवल स्त्रियों को···और सो भी कभी-कभी···'

'अच्छा तो आप ठगना भी जानते हैं?'

'और ठगा जाना भी···'

'जाने दीजिये···'

'सचमुच जो मजा ठगे जाने में है वह ठगने में कहाँ···न हो ट्राई करके देख लीजिये।'

दोनों हँसने लगे।

'कोई ठग बताइये तो फिर सोचूँ···'

'बता कर थोड़े ही ठगा जा सकता है···'

'फिर बिना बताये ट्राई कैसे करूँ?'

'कोशिश जारी रखिये अवसर भी आ ही जायेगा।' और वह फिर मृदुला की ओर अर्थभरी दृष्टि से देख कर मुस्करा दिये। मृदुला झेंप गई। इधर कुँवर लगभग एक मास से बाहर ही थे। आज अचानक जब कि मृदुला कहीं बाहर जाने की तैयारी कर रही थी कि नीचे से कुँवर की कार के हार्न की आवाज़ सुनाई दी। उत्सुकता से मृदुला ने अपने कमरे की खिड़की से नीचे झाँका। पोर्टिको मृदुला के कमरे की खिड़की से

साफ़ दिखाई देता था। मृदुला अनजाने ही खिल उठी। नीले सूट में कुँवर का ही व्यक्तित्व उसे दिखाई दिया और लगा अत्यन्त प्रभावशाली। मृदुला निरन्तर इन पिछले तीस दिनों में अपने आप से पूछती रही थी कि वह क्या प्रतिदिन सन्ध्या समय कुँवर की प्रतीक्षा करती है ? कुँवर इसका कौन है ? मित्र ? सखा ? मित्रता···नहीं···नहीं···जान-पहचान है ही कितने दिन की···क्या वह खेल के प्रलोभन से ही उसकी प्रतीक्षा करती है किन्तु वह मार्कर के साथ भी खेल तो सकती है और भाभी के साथ भी···तब फिर···तब फिर क्यों ? क्यों ? कोई विशेष कारण तो जान नहीं पड़ता है। फिर भी उसकी प्रतीक्षा की बेचैनी बढ़ती ही जा रही थी। कुँवर उससे कुछ बता कर नहीं गया था···कब आयेगा इसका भी कोई ठीक नहीं था···तब वह क्या उसके घर पर टेलीफोन करे···लेकिन क्यों···उसे क्या गर्ज पड़ी है···लेकिन हानि भी क्या है ? सम्भवतः वह बीमार हो गया है···तब भी उसे क्या ? नहीं···नहीं···वह टेलीफोन नहीं करेगी···क्या वह किसी बात पर नाराज हो गया है लेकिन ऐसी तो कोई बात नहीं हुई···तब फिर··· तब फिर···और फिर अचानक इकतीसवें दिन कुँवर का आ जाना मृदुला को बहुत ही अच्छा लगा। वह स्वयं ही लगभग कूदती हुई सीढ़ियाँ उतर कर नीचे आ गई। कुँवर तब तक नौकर से बात ही कर रहा था। मृदुला ने उलहने के-से स्वर में कहा—'कहिये। आप कहाँ थे इतने दिनों से ?' कुँवर का चेहरा खिल उठा। उसने लगभग क्षमा-याचना के-से स्वर में कहा—'बड़ी आफत से फँस गया था मृदुला जी ! अन्यथा इतने दिन की गैरहाजिरी कभी हो सकती थी ?' मृदुला ने तनिक सन्तुष्ट होकर कहा— 'अच्छा, अच्छा, चल कर अन्दर तो बैठिये, फिर आपकी आफत की बात सुनी जाय।'

दोनों ड्राइंग रूम में आकर बैठ गये। इसी बीच मृदुला ने नौकर से चाय लाने के लिये भी कह दिया।

'जी हाँ, अब सुनाइये कौन-सी आफत आ गई थी ?'

'घरेलू झगड़े-झंझट की बातें थी। उन्हें जाने दीजिये। ऐसी अच्छी सन्ध्या उन रूखी-सूखी बातों में क्यों नष्ट की जाये।'

'सब ठीक-ठाक तो हो गया न ?'

'जी हाँ। ठीक हो ही गया है।' कह कर कुँवर ने उठ कर रेडियो खोल दिया धीमी-सी ट्यून पर। मृदुला का जी उचट रहा था कि वह बहुत-सी बातें करें किन्तु क्या बात करे यही ठीक से समझ में नहीं आ रहा था।

'कहिये आपके टेनिस का क्या हाल है ?'

'जब गुरु का ही यह हाल है तो टेनिस का क्या पूछना ?'

'शायद आप मेरे पीछे खेली ही नहीं हैं।'

'कुछ समय भी नहीं मिला।'

'अब तो रोज समय मिला करेगा न ?'

'आशा तो है।'

चाय हुई। बातचीत हुई और कब तीन घंटे बीत गये दोनों में से किसी को भी जान नहीं पड़ा।

कुँवर दूसरे दिन टेनिस खेलने के लिये आने की बात करके जब चले गये तो मृदुला को जान पड़ा कि उसकी संध्या बहुत ही अच्छी बीती। वह सोचने लगी कितने अच्छे हैं यह कुँवर और कितने सुसंस्कृति हैं। बातचीत कितनी कायदे की करते हैं और उनके पास बैठकर जी तो ऊबता ही नहीं। मेरी तो बहुत ख्याल रखते हैं शायद···शायद···मुझे और मन-ही-मन स्वयं अपने से भी शर्मा-सी गई···वैसे अर्थपूर्ण ढंग से मेरी ओर देखकर कह रहे थे, 'जिन्दगी यूँ भी गुजर ही जाती क्यों तेरा राहगुजर याद आया···' कितने अच्छे हैं कुँवर···पापा भी उस दिन कह रहे थे कि कुँवर बहुत ही अच्छे और खुशमिजाज व्यक्ति हैं···उदार भी तो बहुत हैं। ईश्वर ने सभी कुछ तो उन्हें दिया है···रूप, धन, मान सब कुछ तो उनके पास

है, फिर भी गर्व जरा भी नहीं है ··कितने अच्छे हैं ये···और मुझे मानते भी कितना हैं और···और···मिस अंजना दास गुप्ता···अंजु···क्या खबर कभी उसे भी इतना ही मानते हों···अरे···नहीं ··मैं भी कैसी पागल हूँ··· उनका तो स्वभाव ही ऐसा उदार है कि राह चलता भी अपना बन जाये··· भाभी बड़ी ख़राब हैं···कैसे-कैसे मज़ाक कर देती हैं और वह भी कितने मजाकिया हैं···सूरत भी तो···छीः···छीः···मैं भी क्या सोचने लगी···मृदुला ने आँख बन्द कर लीं···उसने चाहा कि वह झटपट सो जाये किन्तु बन्द आँखों में उभर आया कुँवर का प्रियदर्शी मुख···पर न जाने क्यों उसके साथ-ही-साथ उसे मास्टर साहब की जलती-जलती सी आँखें घूरती हुई सी जान पड़ीं। उसने घबरा कर आँखें खोल दीं···क्या करते होंगे मास्टर साहब आजकल···कहाँ होंगे···मंजु न जाने कैसी होगी···क्या खबर उसकी शादी भी हो गई हो···उसने मुझे बुलाया तक भी नहीं···बुलाती क्यों? मैंने भी तो उसकी खोज-खबर नहीं ली। कितनी आत्माभिमानी है मंजु···वह मुझे कभी भी अपने आप पत्र नहीं लिखेगी···इधर मुझे भी तो फुरसत ही नहीं मिलती···उसका जी चाहा कि दौड़ कर चली जाये और मंजु से लिपट कर उसे सारी मन की बातें बता आये···किन्तु उसने फिर आँखें बन्द करके सोने का प्रयत्न करना आरम्भ किया। नींद आ ही कहाँ रही थी। उसका जी चाहा कि कुँवर इस समय होते तो वह उनसे बातें ही करती · कैसी मनोरंजक बातें करते हैं···समय का तो पता हीं नहीं लगता ··किन्तु मुझे क्या···उसने स्वयं अपने से ही ऊबकर कहा···मेरे कौन लगते हैं वे···क्यों क्या वे मेरे मित्र नहीं हैं···क्या हमारी मित्रता नहीं हो सकती है···अवश्य हो सकती है। इसमें बुराई ही क्या है? भैया के मित्र हैं··· बस यही तो···तो मेरे भी हुए···किन्तु शराब पीते हैं···तो क्या हुआ भैया भी तो शराब पीते हैं···और···और···क्लब में तो अच्छा ही लगता है···माँ की क्लब लेडीज क्लब तो जरा 'डल' सी है···इन लोगों की क्लब में खूब रौनक होती है और कभी-कभी जब अंजना जी आ जाती हैं, तब तो

बहुत ही अच्छा लगता है। अच्छा ! अब मैं भी जाया करूँगी···टैनिस वहीं खेल आया करूँगी · कभी-कभी तो भैया भी जाते ही हैं और न होगा भाभी को लेकर चली जाया करूँगी···क्यों क्या हर्ज है। आखिर वहाँ जाने में··· अकेले भी जाने में क्या है ?

१९

'ये लो रखो अपना काम ऐसे कमीने हम नाहीं हैं कि दो लड्डू पर दम दे दें।'

झटकती-पटकती यह रोती चली जा रही थी। उसके चौड़े चकले गेहुँए चेहरे पर माथे की बिन्दी तक थिरक उठी थी। महरी तेज तो थी ही साथ ही-साथ जबान की भी कड़वी थी। मंजुला ने यह सब जानते हुए भी पिछले तीन महीने से उसे रख लिया था और रख क्या लिया था उसे रखना पड़ा था। इधर उसका शरीर हर समय थका-थका सा रहता था। कभी-कभी खाँसी भी आ जाती थी। सिर में दर्द तो रहता ही था। तिस पर कालेज का काम भी पूरा नहीं कर पाती थी, अतः उसने बर्तन मलने को महरी रख ली थी। इधर कालेज के काम में भी कुछ और अधिक सतर्क रहना पड़ता था। सुवीरा कई बार समझा चुकी थी कि जो झगड़ा उसने खड़ा कर लिया है उसे दीखते हुए उसको कुछ और अधिक सतर्क रहना चाहिये। थकित शरीर और उलझे मन से उसे घर और बाहर घसीटना ही पड़ता था। अभी कल ही तो उसे प्रिन्सिपल ने अकारण ही झाड़ दिया। उसका तो कोई कसूर भी नहीं था। वह चुपचाप स्टाफ रूम में बैठी अपना काम कर रही थी कि उन्होंने आकर कहा—'आप यहाँ बैठी हैं और बाहर लड़कियाँ शोर कर रही हैं। आप से इतना भी नहीं होता कि उन्हें जाकर चुप करायें।' वह हक्की-बक्की रह गई थी। उसने कुछ उत्तर नहीं दिया किन्तु उसे जब-तब अकारण ही डाँट पड़ती ही रहती है। कल तो उसका जी

चाहा कि तुरन्त त्यागपत्र लिख कर दे आये···लगभग लिखने भी बैठ गई फिर याद आई माँ की बीमारी···अपनी लाचारी···भैया की बेकारी···और··· और उसकी आँखें भर आईं···झुँझलाहट के क्षणों में उसने एक बार सोचा कि क्यों न इस जीवन का अन्त ही कर डाला जाये किन्तु···उसे मरने की भी सुविधा कहाँ थी···बीमार माँ···देवता-सा भाई···और वह···वह··· तड़प गई···

आज थकी-थकाई आ रही थी कि घर पहुँचते ही बरतन मले रखे होंगे···चूल्हे में आग जल गई होगी···जाते ही चाय बना कर पियेगी कि दरवाजे पर ही महरी बड़बड़ाती हुई दिखाई दी···मंजुला झुँझला उठी किन्तु कुछ सोचकर महरी से कहने लगी···

'क्या बात है महरी। चली क्यों जा रही है?'

'अरे बिटिया! बात का होती···हम तुम्हार घर काम नाहीं करब हमका काम करे का भुतेरे घर हैं···'

'तो हुआ क्या? कुछ कहेगी भी या यूँ ही कपास ओटे जायेगी···'

'कहत तो हैं हम हिंया काम नाही करब···अरे···मुला···नौ रुपइये पर कौन दो बखत काम करिहै और तुम्हार महितारी के बोल सुनिहै।'

'माँ ने क्या कह दिया? कुछ बताओ सही।'

'अरे···आप उठ तो सकित नाहीं हैं···हुईहैं से झींकत रहत हैं··· मुला···हम पंचते अब बरदास्त नाहीं हो सकित है···हमार हिसाब कर देयो और अपन कोई और इन्तजाम कर लेयो···मंजुला के पैरों तले की धरती ही खिसक गई। महँगाई के इन दिनों में नौ रुपये मासिक पर कौन महरी मिलेगी और न मिलने पर मंजुला कैसे सम्हाल पायेगी···उसे कहीं भी तो चैन नहीं है···कालेज में तो आशा से अधिक काम और हर समय अशान्ति···कुछ और भी तो अध्यापिकाएँ हैं जो काम कम करती हैं वेतन पूरा मिलता है···मौज करती हैं मौज···प्रिन्सिपल तक उन्हें कुछ कह नहीं

पाती और एक मैं हूँ कि दिन-रात पिसती हूँ ··सबसे अधिक कक्षाएँ पढ़ाती भी हूँ और भी कालेज का जो इधर-उधर का काम है सब करती हूँ फिर भी सदा किसी-न-किसी बहाने खुरचे पेंच होती ही रहती है···और हारे-थके घर आओ तो एक गिलास पानी का भी सहारा नहीं···कुछ दिनों से एक महरी थी जिससे कुछ सहारा हो जाता था सो वह भी नहीं टिक पाई···न जाने माँ को हो क्या गया है ? अरे नाश्ते के लड्डूओं में से दो ले जा रही होगी तो ले जाने देतीं···क्यों पड़ी-पड़ी आफत करती रहती हैं···लेकिन···मैंने ही तो कल कहा था कि आज-कल घर का खर्च बढ़ गया है पूरा नहीं पड़ता···ठीक ही तो है महरी रोज ही कुछ-न-कुछ चुराकर ले जाती होगी···पर किया भी क्या जाये देखनेवाला भी कौन बैठा है···पर मैं भी क्या करूँ···मेरी ही जान को सब आफतें हैं ··हे भगवान् ! मैं मर भी तो नहीं जाती कि एक बार ही झंझट छूटे ··

महरी बड़बड़ाये जा रही थी···'वे तीसरे तिमंजिले की पण्डिताइन रहीं सदा कुछ-न-कुछ देत रहीं ··कबहुँ खाली हाथ जाये ही न देत रहीं बिचारी···रहीं···नहीं···नहीं काहे हम···इस घर आते···यहाँ दो लेडुआ के मारे जानो हम मरे जात हैं···'

पंडितायन के दो लड़के सरकारी आफिसर हैं···घर में चीजों का कोई शुमार ही नहीं है···कभी कोई घी का टीन ला रहा है तो कोई चीनी का पीपा तो कोई फलों की टोकरी तो कोई सब्जी का टोकरा···न जाने कहाँ से दिनभर कुछ-न कुछ आता ही रहता था···घर में इफरात की···चीजें सड़ती थीं और तिस पर पंडितायन इस महरी से तो अत्यधिक प्रसन्न भी थीं···यह उनकी अन्तरङ्ग मित्र भी थी और सी० आई० डी० भी । मुहल्ले भर की खबरें इसी से उन्हें मिला करती थी । अभी पारसाल ही तो हार्ट फेल हो जाने से उनका देहान्त हुआ है । मंजु को भइया के शब्द याद आ गये··· उदारता यों तो मन का गुण है किन्तु जब कभी उसका प्रेरक कारण स्वार्थ हो तो उसका देवत्व, गुणत्व भी नष्ट हो जाता है किन्तु मंजु की इच्छा

महरी से बहस करने की नहीं थी। वह थक भी बहुत गई थी। उसने इतना ही कहा—'महरी! तुम माँ की बात पर मत जाया करो। चलो अपना काम करो। मैं माँ को समझा दूँगी।'

बड़बड़ाती हुई महरी भीतर लौट गई···मंजु झुँझलाई हुई सीधी माँ की चारपाई के पास पहुँची···माँ ने मंजु को देखते ही कहा—'तू कमा-कमा कर मरी जाती है और इस महरी को तो देख···'

'माँ।' मंजु के स्वर में आग थी।

'अरी बात तो सुन कि आँखें दिखाने लगी?'

'जानती हूँ माँ···वह कुछ चुराकर ले जा रही होगी किन्तु तुम्हें क्या···तुम क्यों परेशान होती हो?'

'मुझे क्या? मैं क्यों परेशान होती हूँ? ठीक ही तो है मैं क्यों परेशान होती हूँ?···तुम्हीं लोगों के पीछे तो परेशान होती हूँ···जिसके कारण सिर मुँड़ाया वही कहे सिरमुंडी···यही संसार है···' स्वर टूट-सा रहा था।

'माँ! मैं तो तुम्हारे लिए ही कहती हूँ। इतनी कमजोर हो गई हो। तुम क्यों इन झंझटों में पड़ती हो।' मंजु ने समझौते के-से स्वर में कहा—किसी भी मूल्य पर वह झगड़ा समाप्त करना चाहती थी। उसमें न खड़े रहने की ही शक्ति थी और न यह सब सुन पाने की ही।

'अरे तुम क्या जानो मैंने यह गृहस्थी कैसे बनाई है। तिल-तिल करके तो मैं इतना जोड़ पाई थी···इस महँगाई के जमाने में···हाय राम···मैं क्या करूँ···आज सबेरे से मुन्ना···बिना कुछ खाये-पिये ··गया हुआ है···'

भूख से, थकान से और परेशानी से मंजुला की देह की पोर-पोर टूटी जा रही थी···उसका धैर्य चुका जा रहा था···अपने ऊपर संयम रखना उसके लिए उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा था···किसी तरह वह कठिनाई

से चुप रह पा रही थी और माँ कहे जा रही थी···'वह बिचारा तो दिन भर मारा-मारा फिरता है···उसी के लिए दो लड्डू छिपाकर रखे थे कि न जाने किस समय आ जाये तो पानी तो पी लेगा और तू तो न जाने कब आयेगी···कब चाय बनेगी···वह बिचारा तो···'

अचानक मंजुला को पृथ्वी आकाश घूमते हुए-से दिखाई देने लगे···वह बिचारा···मैं तो जैसे जान-बूझ कर देर से आती हूँ···वहाँ बड़ा आनन्द करती रहती हूँ न···मुझे ही तो बड़ा वहाँ मोहनभोग मिल जाता है न···न चाहते हुए भी न जाने कैसे उसके मुँह से निकल गया—'और मैं तो जैसे पूड़ी-कचौड़ी खाकर आ रही हूँ न...' बात अप्रासंगिक थी और बेतुकी भी···माँ का बड़बड़ाना बन्द हो गया। वह क्षण के लिए चौंककर मंजुला की ओर देखने लगी···सदा की शान्त, सहनशील, संयमी मंजुला चीख उठी—'एक मैं ही इस घर में फालतू हूँ मेरी ही चिन्ता किसी को नहीं है···निकाल दो महरी को भी निकाल दो··· वह चोर है···जो जी चाहे करो···मैं सबकी नौकरानी तो मौजूद हूँ ना···' और मंजुला पैर पटकती हुई ऊपर जाकर वैसे ही अपने बिस्तर पर गिरकर फफक-फफक कर रोने लगी। उसे अपने ऊपर असह्य क्रोध आने लगा। उसने कैसी बुरी बात माँ से कह दी···उस माँ से जो बीमार है···जिसने इन्हीं के लिए अपना तन-मन घुला डाला···जो लाचार है···जो परेशान है और···और···जो एक तरह से अपाहिज है···यह ठीक है कि माँ को जमाने को देखते हुए महरी को कुछ नहीं कहना चाहिए···यह भी ठीक है कि मुश्किल से एक सस्ती सी महरी मिल गई है···उसे जैसे-तैसे रखना ही होगा किन्तु माँ की ममता···बच्चों के स्वार्थ के लिए···उनके सुख के लिए तड़पती ममता अपने बच्चे के मुख का ग्रास किसी कारण से भी किसी को ले जाते कैसे देख पाती···किन्तु···मैं···मैं···कितनी पापिन हूँ···ऐसी माँ को ऐसी कठोर बातें···मुझे हो क्या गया था···कैसे निकली मेरे मुँह से वह बातें···मंजुला फूट-फूट कर रोती रही और न जाने कब

तक रोता रहता कि उसे जान पड़ा कि उसके पास ही पलङ्ग पर कोई बैठ गया···मंजुला ने धीर बहूटी-सी लाल आँखें उठाकर देखा···अरुण···उसके पास ही पलङ्ग पर बैठ गया था। मंजुला अरुण की गोद में सिर रखकर फूट-फूट कर रोने लगी। अरुण का मुख सूखा हुआ था ··उसने धीरे-धीरे मंजुला के सिर पर हाथ फेरना आरम्भ कर दिया। कुछ देर बाद तनिक शान्त होने पर मंजु ने पूछा—

'माँ···कैसी हैं ?'

'क्यों ठीक तो हैं···'

'तुम यहाँ क्यों आये ?' वह हिचकियाँ ले रही थी।

'जैसे ही लौटा माँ ने कहा कि तेरा जी कुछ ठीक नहीं है सो तुझे देखने यहाँ आया। आकर देखा कि तू रो रही थी···क्या बात है मंजु ?'

मंजुला समझ गई कि माँ ने भइया को कुछ भी नहीं बताया। पश्चात्ताप की अग्नि उसके भीतर ही भीतर सुलग रही थी। उसने चाहा कि भाई से कुछ कह दे पर कुछ भी कह न सकी। केवल 'भइया' कहकर फिर रोने लगी···

'मंजु मेरी-रानी बहिन !! बता तो सही क्या बात है। यूँ धैर्य खोने से तो काम नहीं चलता रानी ?' अरुण धीरे-धीरे सान्त्वनाभरे शब्दों में कह गया—मंजुला को अचानक ध्यान आ गया कि अरुण ने सुबह से ही कुछ खाया-पिया नहीं है और रात होने लगी है। तनिक स्वस्थ होकर उसने भाई से कहा—

'अच्छा भइया ! तुम तनिक माँ के पास चलो। मैं कपड़े बदल कर अभी आती हूँ।'

'नहीं, नहीं, मंजु तू इतनी जल्दी न उठ । तनिक स्वस्थ होकर मुझे बात तो बता।'

'बात कुछ भी नहीं है भाई। मैं न जाने क्यों माँ से झगड़ पड़ी।'

'अरी पगली ! बस इतनी-सी बात पर रो रही थी ? माँ ने तेरी बात का बुरा थोड़े ही माना होगा ?' पीठ थपकते हुए अरुण ने कहा।

'नहीं, नहीं सो बात नहीं है भइया ! मुझे वैसा नहीं कहना चाहिये। मैंने कहा ही क्यों ? मैं ऐसी क्यों हो गई हूँ भइया ?' स्वर में तड़प थी।

'मंजु ! दोष तेरा नहीं है रानी। तू तो अत्यन्त कोमल स्वभाव की प्यारी-सी बिटिया है किन्तु परिस्थितियाँ कब, कैसे और क्यों हमारे स्वभाव में कहाँ से लाकर कड़ुवाहट घोल देती हैं यह कौन कह सकता है···पर माँ ने तो मुझसे कुछ भी नहीं कहा···'

'माँ ने जीवन में बहुत कुछ सहा है, भइया ! किन्तु···'

'किन्तु परन्तु जाने दे। उठ कर मुँह धो। ले देख मैं भूल ही गया। मैं तो तेरे लिये चाय बना कर लाया था ?' और अरुण ने उठ कर मेज पर रखी ट्रे में से दो प्याले निकाल कर चाय बनाना आरम्भ किया ? मंजुला लज्जा से गड़-सी गई। उसे जान पड़ा कि उससे कोई बहुत बड़ा अपराध बन पड़ा है और उसी का दण्ड उसे दिया जा रहा है किन्तु भाई के सामने कुछ बोल न सकी। चुपचाप भाई के हाथ से प्याला लेकर चाय पीने लगी। मन ही मन उसे ग्लानि हो रही थी किन्तु क्या करना चाहिए यह भी तो वह समझ नहीं पा रही थी···अरुण सोच रहा था कि यह फूल-सी कोमल बालिका बाहर और भीतर दोनों ही ओर से अभाव, दीनता, श्रम और परेशानियों से पिसी जा रही है···इसके भीतर का समस्त रस सूखा जा रहा है और वह मूक-सा ही होकर केवल देखता ही जा रहा है···यही भाग्य है सब महान देश के अधिकांश मध्यवर्गीय परिवार के सदस्यों का··· निरुपाय···केवल परिस्थितियों की चक्की में निशब्द पिसते जाना···पिसते ही चले जाना···उफ न कर पाना और भीतर-बाहर से शुष्क···शून्य रस-विहीन होते चले जाना···होते ही चले जाना···बेचारी मंजु···अभागी मंजु···तेरा जन्म क्यों हुआ इस परिवार में···इस घर में···इस···इस···

'भइया ! माँ को कष्ट देने के लिए ही क्या मेरा जन्म हुआ है ?' दबाई हुई-सी सिसकियों के बीच कठिनाई से मंजुला ने कहा।

'मंजु ! क्या माँ को कभी तुमसे कष्ट हुआ है ?' अरुण ने भीगी पलकों से मंजु से प्रश्न किया।

'भइया ! सदा ही तो तुम लोगों को कष्ट देती रही हूँ।' अरुण का जी चाहा कि कह दे कि आजकल तो रोटी दे रही हो किन्तु कह नहीं सका। वह जानता था कि इससे मंजु को अत्यधिक कष्ट होगा ? करुण-से स्वर में उसने कहा—'मंजु ! तुझे ही कब हम लोग सुख दे पाये हैं। तिस पर तू सब की सेवा ही कर रही है।'

मंजुल' संतुष्ट नहीं हुई किन्तु यही तो कभी-कभी वह स्वयं भी सोचने लगती है कि मेरे ही लिए कभी कौन कुछ करता है। क्या मेरे ही भाग्य में संसार भर की चिन्ता लिखी है ? किन्तु नहीं···यह तो घनघोर स्वार्थ की बात है। अम्मा, भइया सभी तो मुझे प्यार करते हैं और माँ···माँ···क्या मुझे कष्ट देना चाहती हैं ? तिस पर यही माँ तो तीज-त्योहार को नौकर-चाकरों को थाली भर-भर कर पकवान दे दिया करती थीं। महरी, कहार, धोबी, मेहतर सभी तो कहा करते थे कि अरुण की माँ जैसा खुला हाथ तो किसी का देखा ही नहीं। मंजु को याद आया कि जब वह छोटी थी तो एक दिन एक नौकर ने उसकी नन्हीं-सी अँगूठी अँगुली से उतार ली थी··· माँ को पता चला···नौकर की कोठरी की तलाशी ली गई···अँगूठी मिल गई···बहुत पूछने पर जब नौकर ने बताया कि अँगूठी उसने अपनी बिटिया के लिए चुरा ली थी और गृहिणी के चरणों पर माथा रख कर क्षमा याचना भी की और पश्चाताप भी तो इन्हीं माँ ने उस नौकर को न केवल वह अँगूठी ही दे दी थी वरन् मंजु के कई रेशमी फ्राक और एक जोड़ी अधपुराने जूते भी अपनी ओर से दे दिये थे। फिर समझा कर कहा था कि जो कुछ चाहिये माँग लिया करो। चोरी फिर न करना। नौकर इनके चरणों पर गिर कर सिसक पड़ा था। सुदिन भी इन्होंने समय-

कुसमय आने वाले भइया के अनेकों मित्रों को बिना गिला-शिकवा किये भोजन सहर्ष कराया था और यही उनका स्वभाव था। मैके-ससुराल सभी कहीं यह अत्यन्त उदार प्रकृति की प्रसिद्ध थीं ···आज वही नारी दुर्दिन में दो लड्डुओं के लिए महरी से दस बातें कहती और सुनती हैं···कितनी बड़ी बेबसी···कैसी लाचारी छिपी होगी उसकी इस अनुदारता के पीछे और हाय री अभागी सन्तान···सन्तान होकर तू माँ की विवशता को भी न पहचान पाई। किसी प्रकार भी मंजु का समाधान हो ही नहीं रहा था। अरुण कह रहा था—'मंजु! अकारण अपने को अपराधी मान कर दण्ड देने से बढ़ कर और अन्याय कुछ भी नहीं है? तू व्यर्थ ही अपने प्रति कठोर न बन···रानी बहिन! कठिनाइयों में हँसना सीख और उन्हें हँसकर झेलना सीख। यह तभी हो सकेगा जब तू सबसे पहले अपने ही प्रति उदार हो सकेगी···' मंजु का ध्यान उपदेशों की ओर नहीं था। थोड़ी देर में नीचे जाकर वह माँ की चारपाई के पास खड़ी हो गई। माँ ने हाथ बढ़ा कर उसे अपने निकट खींच लिया। कुछ देर तक माँ और बेटी दोनों ही चुपचाप रोती रहीं···अरुण पास ही बैठा था। झगड़े की जड़ महरी काम करके जा चुकी थी···रात कुछ हो ही चुकी थी। इसी समय बाहर से सुनाई दिया। 'अरे अरुण कहाँ है यार···यह क्या अन्धकार कर रखा है। बिजली भी नहीं जलाई जाती क्या?'

गिरिजा की चिरपरिचित ध्वनि ने सब को चौंका दिया। मंजु झटपट आँसू पोंछ कर खड़ी हो गई···अरुण ने उठकर बिजली का बटन दबा दिया। मंजु रसोई की ओर चली गई और गिरिजा माँ के ही कमरे में प्रकाश देख कर आ गया।

थोड़ी ही देर बाद घर गिरिजा की हँसी से गूँज रहा था। मंजु भोजन बनाने लगी थी···गिरिजा को भी तो भोजन कराना होगा? भोजन का समय जो है···वह गृहिणी के पद पर जो है···उसका कर्तव्य···और गिरिजा अरुण से किसी विषय में जोर-जोर से बहस करने लगा था···माँ

चुपचाप सुन रही थी और गिरिजा मन-ही-मन सोच रहा था कि कितना स्नेह है इस परिवार में और उसे कैसी शान्ति मिलती है इस परिवार में आकर···कैसे स्नेही जीव हैं ये लोग, कितना सुखी है इनका जीवन···गिरिजा ने जीवन में बहुत कुछ देखा था, सुना था, पाया था···धन की वैभव की मात्रा उसके भाग्य में कुछ अधिक ही थी किन्तु फिर भी कैसा एक शून्य-सा था उसके जीवन में·· दिन भर के बीस-पचीस पचास लोगों से वह मिलता था···कुछ उसकी स्तुति करते थे···कुछ प्रशंसा और कुछ केवल व्यवहार, कुछ की वह स्तुति करता था कुछ की प्रशंसा और कुछ से केवल व्यवहार किन्तु···यहाँ आकर तो उसे जान पड़ता है कि वह इन सबसे परे चला गया हो···ऊपर उठ गया हो···कैसा है यह सम्बन्ध···मंजु सोच रही थी कि उसे क्या हो गया है···वह क्यों अपना मानसिक सन्तुलन खो रही है···कहाँ चला गया उसका असीम धैर्य···कहाँ चली गई उसकी मन की उदारता···कहाँ चला गया उसके भैया का अदम्य उत्साह और···और··· उसका हाथ जलती पतीली के कोर से छू गया···उसके मुँह से अनजाने ही हलकी-सी चीख निकल गई···हलकी-सी···बिलकुल हलकी-सी··· उसने फौरन अँगुलियाँ खींच लीं। पल्ले से पतीली को पकड़ कर उतार लिया। उसे जान पड़ा कि वह कुछ अधिक सोचने लगी है···कुछ अधिक अशान्त रहने लगी है···किन्तु ऐसा क्यों··· वह शान्त क्यों नहीं रह पाती···उसका सन्तुलन···मानसिक सन्तुलन··· क्यों गड़बड़ा जाता है इतनी जल्दी···इतनी जरा-सी बात से···किन्तु··· किन्तु··· नहीं···नहीं···इसमें किन्तु परन्तु है ही कहाँ···वह नौकरी से थक गई है···पर नौकरी तो उसे करना ही होगा···वह जीवन से थक गई है पर इस जीवन का भार तो उसे जैसे-तैसे ढोना ही होगा···और उपाय ही क्या है···अचानक उसे लगा कि क्या वह मर नहीं सकती···किन्तु तुरन्त ही सम्भल कर उसने अपने आप से पूछा कि वह क्यों मरे···ऐसा उसे कौन-सा दुःख है···गिरजा के कहकहों की आवाज आ रही थी···उसने

सोचा कि वह भी गिरिजा की भाँति हँस क्यों नहीं पाती···खिलखिला
हँस नहीं सकती···क्यों···किसलिए···माना कि उसके जीवन में अभ
है···बेबसी है···घुटन है···जलन है लेकिन क्यों···ऐसा गिरिजा के जी
में ही कौन-सा सुख है···कौन-सी शान्ति है···कौन-सा उल्लास है
उसकी सहकर्मिणी कई ऐसी भी तो हैं जिनका सुख-शान्ति से बहुत ही
वास्ता है किन्तु फिर भी···वह जी तो रही हैं···हँसती भी हैं और वह
वह···वह स्वयं अपने आप से ऊब उठी···वह इतना अधिक क्यों सोच
है शायद उसका इतना अधिक सोचना ही उसकी समस्त व्यथाओं
कारण है···आटा पर्याप्त गुँथ चुका था किन्तु वह गूँथे ही जा रही थी
उसके हाथों की मुट्ठियाँ दुख चुकी थीं किन्तु उसे ध्यान ही कहाँ था
इसी समय गिरिजा ने रसोई के द्वार पर आकर कहा—'अरी मंजु क्या
भर आटा ही माढ़ती रहेगी क्या रोटी भी खिलायेगी ?' स्नेहसिक्त अत्य
अपनत्व के रस में सने इन शब्दों ने मंजु को चौंका दिया। उसने तु
उत्तर दिया—'लो तुम आकर बैठो तो अभी रोटी चकले से तवे पर आ
तवे से थाली में पहुँचती है !' भंगिमा पर दोनों ही हँस दिये। द
उदासी के बादल छँटने लगे थे। अरुण का मन भी कुछ हलका ह
लगा था। अचानक उसे लगा कि मंजु बड़ी हो गई है···वह युवती
गई है···दबाते-दबाते भी उसके मुँह से एक ठंडी साँस निकल गई
गिरिजा किसी और ही ध्यान में था किन्तु मंजु से अरुण की यह ठंडी स
छुपी न रह सकी फिर भी उसने कुछ कहा नहीं···केवल मुँह उठा कर भै
के मुख की ओर एक बार ध्यानपूर्वक देखा और फिर नीची दृष्टि क
अत्यन्त मनोयोगपूर्वक आटे की लोई बनाने लगी। उसे लगा कि उ
कहीं कोई औचक भूल हो गई है···अथवा दुःख उसे ही नहीं···सभी
है शायद उससे भी अधिक, बहुत अधिक···बहुत ही अधिक ···अथवा
अथवा···गिरिजा रसोई में ही दो आसन डाल कर एक पर स्वयं
गया था। अरुण बाहर जाकर हाथ-पैर धो रहा था मंजु ने दो थालि

निकट खिसका कर परोसना शुरू कर दिया । गिरिजा मंजु के अग्नि से लाल हुए मुख की ओर एकटक देख रहा था। मंजु ने ज्यों ही दृष्टि उठाई कि उसकी आँखें उसकी ओर एकटक देखती हुई दो आँखों से मिल कर लज्जा से झुक गईं । गिरिजा के होंठ मुस्करा दिये···उसे भला-सा जान पड़ा । मंजुला को भी मन के भीतर कुछ हलचल-सी होती जान पड़ी··· हाथ की अँगुलियों ने असावधानी से जलते तवे को छू लिया उसके मुख से एक हलकी-सी आह निकल गई । गिरिजा ने घबरा कर कहा—'क्या हुआ मंजु ? क्या हो गया ।'

'कुछ भी तो नहीं' कहकर मंजु ने अँगुलियों के पोरों को मुट्ठी में दबा लिया ।

'बताती क्यों नहीं मंजु । कुछ तो हुआ ही है जो तूने आह की···' अत्यधिक अपनत्व से भरे स्वर में गिरिजा ने कहा—'ला देखूँ क्या हाथ जला लिया है ।'

'नहीं, गिरिजा भैया !' मंजुला ने अत्यन्त दयनीय दृष्टि से गिरिजा की ओर देखा । अकारण ही उसकी आँखें भर आई थीं···मानो भिक्षा माँग रही हो कि उसे स्वस्थ ही रहने दो···उनके केवल व्यक्तित्व को छेड़-छाड़कर उससे खिलवाड़ न करो ··उसकी एकरस चलती जिन्दगी में दर्द, टीस, मधुर वेदना, पीड़ा का स्थान ही कहाँ है···उसके लिये समय भी कहाँ है और सुविधा भी तो नहीं है । करुणासिक्त उन दो सुन्दर आँखों की तीखी दृष्टि के सामने गिरिजा की आँखें टिक न सकीं । उसे लगा कि वह घबरा गया है । उसने कुछ उचटे हुए-से स्वर में कहा— 'अरुण ! अरे भई कितनी देर तक हाथ-पैर धोते रहोगे ।'

मंजुला ने तनिक-सा मुँह फेरकर पल्ले से आँखें पोंछ लीं···उसे जान पड़ा कि गिरिजा उसके कुछ निकट आ रहा है···उसे लगा कि गिरिजा अपनी सभी बुराइयों सहित अच्छा है, बहुत अच्छा है···वही एक उसका

आत्मीय है, हितचिन्तक है, शुभाकांक्षी है···सभी कुछ है···और कुछ स्वयं अपने से भी शर्मा गई···उसने परोसी हुई थाली गिरिजा के सामने सरकाकर अपनत्वभरे, अधिकारभरे स्वर में कहा—

'आप तो शुरू करें। अरुण भैया आ जायेंगे।'

स्वर की स्निग्धता किन्तु आप सम्बोधन गिरिजा कुछ भी समझ न सका। केवल देखता ही रहा।

२०

'मृदुला तुम डान्स करो तो सच कहता हूँ पार्टनर चुनने के लिये ही तुम्हें एक सब-कमेटी बनानी पड़ी।'

'क्यों ? मैं भला क्यों पार्टनर चुनने के लिए सरदर्दी करने लगी। जो डान्स सिखायेगा वह पार्टनर भी तय कर देगा।' मृदुला न जाने कैसे कह गई। कुँवर मिस अंजना दास गुप्त के साथ तीसरा नृत्य करके अभी मेज पर लौटा ही था। अंजना ने चौथा नृत्य एक पुराने मित्र के साथ करना स्वीकार किया था, अतः वह वहीं रह गई थी। रात बारह बजे से नव वर्ष आरम्भ होगा। आज क्लब में विशेष नृत्य का आयोजन था। कुँवर अच्छा नृत्य करते थे, नृत्य के शौकीन भी थे। अंजना ने यूरुप में ही नाचना सीखा था और खूब अच्छा नाच लेती थी। कुँवर के साथ नृत्य करने का सौभाग्य प्राप्त करने को प्रायः क्लब की सभी नृत्य करने वाली महिलायें लालायित रहा करती थीं। कुँवर भी यथासम्भव सभी को अवसर दे दिया करते थे किन्तु एक से अधिक नृत्य अंजना के साथ ही करते थे।

मृदुला के भाई ने आज क्लब के इस विशेष आयोजन में एक टेबिल बुक करवा ली थी। कुँवर को उन्होंने निमन्त्रित किया था किंतु कल ही एक आवश्यक व्यापार सम्बन्धी कार्य आ जाने से वह नगर से

बाहर चले गये। भाभी के सिर में दर्द होने लगा, अतः कुँवर और मृदुला को ही आना पड़ा। अंजना यहीं मिल गई। वह भी अपने एक मित्र के साथ आई थी। नाच की थकान से चेहरा गुलाबी हो उठा था। आँखें मदिरा से गुलाबी हो रही थीं। नीले सूट में वह भव्य शरीर और प्रियदर्शी मुखड़ा चमक रहा था। कुँवर को मृदुला का उत्तर अच्छा लगा। उसने चहक कर कहा—'सच', मृदुला मुस्करा दी। उसे कुँवर का आपसे तुम पर उतर आना अच्छा लगा। कुँवर ने कहा—'मृदुला! सचमुच तुम डान्स करना सीख लो। दो चार ही दिन में आ जाता है। तुम्हारे भाई और भाभी तो करते ही हैं।'

मृदुला का जी चाहा कि कह दे—'यदि केवल तुम्हारे साथ ही नाचना हो तो अवश्य सीख लूँगी।' किन्तु उसने कहा यही—'पापा पसन्द नहीं करते।'

'किन्तु मुझे तो बहुत पसन्द है।' कुँवर ने साहस किया।

मृदुला का जी चाहा कि कह दे किन्तु आप मेरे हैं कौन? वह चुप ही रही।

'अच्छा देखिये आपने मुझे टेनिस का गुरु तो मान ही लिया है नृत्य का भी सही···' और वह मृदुला की पतली कमर की ओर प्रलोभनीय दृष्टि से देखने लगा।

'आप सिखायेंगे?'

'आपका दिल क्या कहता है?'

'आपके समय और सुविधा की बात मेरा दिल क्या जाने?'

'बनिये मत आपका दिल मेरे सर्वस्व की बात जानता है।' मृदुला ने लक्ष्य किया कि 'तुम' फिर 'आप' हो गया है। उसे अच्छा नहीं लगा। उसे जान पड़ा कि संसार भर की सारी मिठास 'तुम' शब्द में ही है। उसने तनिक संकोच से कहा—'देखिये! मैं तो आपसे छोटी हूँ। मुझे तुम ही कहा करिये।'

कुँवर ने सन्तुष्ट होकर मुस्कराते हुए कहा—'तब फिर आपको भी मुझे तुम ही कहना होगा। आयु के दो-चार वर्ष कुछ इतने महत्वपूर्ण नहीं होते कि आपसी अन्तर को बनाये रखें।'

मृदुला ने पाइनऐपल जूस के गिलास से एक घूँट भरा। कुँवर की आँखों के डोरे गहरे गुलाबी हो गये। उसने भी अपना गिलास उठाया।

'चलो पहला लेसन आज ही शुरू किया जाये।'

'क्या यहीं?' मृदुला ने आश्चर्य से कहा।

'नहीं···यहाँ कई साइडरूम हैं किसी एक में···'

उत्तर की प्रतीक्षा में व्याकुल दृष्टि कुँवर ने मृदुला के मुख पर जमा दी। मृदुला की इच्छा हुई कि इस भीड़-भाड़ से निकल कर कुँवर के साथ एकान्त में चली जाये किन्तु उसे साहस नहीं हुआ। उसने मुस्कराते हुए कहा—'आज नहीं···नव वर्ष में नई शिक्षा शुरू होगी···'

'तो बाकायदा गुरु बनाओगी···जानती हो गुरु बनाते समय···'

बात काट कर मृदुला ने कहा—'मिठाई भी खिलाना होता है··· मंजूर ···'

'देखो फिर बदल न जाना···जो मिठाई मैं माँगू देना होगा।'

'यह तो उसी समय तय किया जायेगा।'

'नहीं···भई···शर्तें पहले तय हो जानी चाहिये···पीछे क्या इतबार···'

'अच्छा तो ऐसे बेइतबारे हैं हम···'

इसी समय अंजना और उनका मित्र भी उसी मेज पर चले आये··· अंजना ने कुँवर की ओर एक बार मुस्करा कर देखा फिर मृदुला की ओर देखकर कहा—'भई बहुत थक गई हूँ···अब तो मैं बैठती हूँ···अब मृदुला तुम उठो···'

मृदुला ने सरलता से कहा—'मुझे तो नाचना नहीं आता अंजना जी···'

'ओह ! आई सी···तभी यह तुम्हें गुरु मन्त्र देने के लिये तैयार बैठे हैं···' उसने शरारतभरी निगाहों से कुँवर की ओर देखा। कुँवर ने भी शरारतभरे लहजे में कहा—'ज्यादा शरारत की तो याद रखना फिर वही ऐम्सटर्डम के क्लब वाली रात···'

'सिवाय दुष्टता के तुम्हें और भी कुछ आता है। कहीं इसी तरह मृदुला को भी न धमकाने लगना।' मृदुला को फिर एक बार लगा कि कुँवर अंजना के कुछ अधिक निकट है और उसे यह अच्छा नहीं लगा··· इसी बीच अंजना ने बेअरा को अपने लिये पीने के लिये लाने का आर्डर भी दे दिया था। कुँवर ने मृदुला की ओर देखकर कहा—'मृदुला ! इसकी बातों न पर जाना। यह बड़ी शरीर हैं।'

'तुमसे भी अधिक ? देखो भई बसु मेरे पुराने मित्र हैं इनके सामने तो मेरी इन्सल्ट न करो।'

'और मृदुला के सामने जो कि मेरी प्रिय मित्र हैं तुम मुझे दुष्ट की पदवी सहर्ष दे लो।'

'अच्छा भई वापस लिया। लीजिये मृदुला जी यह बड़े ही श्रेष्ट व्यक्ति हैं।'

अंजना के लहजे पर सभी खिलखिलाकर हँस दिये। डान्स चलता ही रहा।

रात को दो बजे के लगभग कुँवर मृदुला को लेकर उसके घर पहुँचाने चला। जगमगाती रात और उनींदी मृदुला···कार कुँवर स्वयं चला रहे थे। मृदुला पास में ही कुछ डर कर बैठी थी। कुँवर ने कई बार मृदुला को और अधिक निकट आने को कहा—किन्तु मृदुला और कुँवर के बीच कुछ अन्तर बना ही रहा। कुँवर का जी चाहा कि मृदुला को अपने शरीर से सटा कर बिठा लो किन्तु हिम्मत नहीं पड़ रही थी।

'कितनी सुहावनी रात है। कहें तो कुछ दूर तक ड्राइव करके अपने घर चलें।'

मृदुला को बहुत ही अच्छा लग रहा था किन्तु संस्कारवश उसने कहा--'नहीं रात अधिक हो गई है अब सीधे घर ही चलो।'

'किसके घर ?' शरारत से कुँवर ने पूछा।

'क्यों ? मेरे घर।' तनिक आश्चर्य से मृदुला ने उनींदे स्वर से पूछा।

'क्या मेरा घर तुम्हारा घर नहीं है स्वीटी।'

कहते हुए कुँवर ने बायें हाथ से मृदुला को बाँया कन्धा पकड़ कर तनिक निकट लाने का प्रयत्न करते हुए कहा। मृदुला कुछ चौंक-सी गई। उसे दिखाई देने लगी, दो जलती हुई आँखें और सुनाई पड़े जलते हुए शब्द 'नारी का संयम ही उसका बल है, प्रभाव है···' किन्तु मधुर स्पर्श बड़ा ही भला लग रहा था। बाहर से आती हुई दिसम्बर की अन्तिम रात की ठंडी हवा का शीतल झोंका और कीमती कोट के भीतर काँपता हुआ मृदुला का शरीर कोट के ऊपर से रखे हुए कुँवर के केवल हाथ के स्पर्श को साक्षात अनुभव कर रहा था। वह अपने स्थान पर ही बनी रही। उसने कन्धे पर से हाथ के दबाव को तनिक-सा अपने हाथ से हटाते हुए कहा—'नहीं, अब मुझे घर ही पहुँचा दो'···दाहिने हाथ से स्टेयरिंग सम्भालते हुए कुँवर ने बायें हाथ में मृदुला का रोकने वाला हाथ पकड़ लिया। मृदुला चाहती हुई भी अपना हाथ खींच न सकी किन्तु तुरन्त ही कुँवर ने उसका हाथ छोड़ दिया···उसने हल्के से स्वर में कहा—'तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नहीं होगा मृदुला···तुम क्या मुझसे डर गईं रानी···'

'नहीं तो···' स्वर साधारण था। मृदुला का जी चाहा कि कुँवर बरबस उसका हाथ पकड़ ले और पकड़े ही रहे। वह कुछ भी क्यों न कहती

रहे कुँवर उसका हाथ···नहीं···नहीं दोनों हाथ जोर से पकड़ कर कह दे कि 'नहीं छोड़ूँगा···नहीं छोड़ूँगा' किन्तु ऐसा कुछ नहीं हुआ। कुँवर ने कार ठीक से चलाना आरम्भ कर दिया। जीवन में उसने अनेकों बार नारी के साथ समय व्यतीत किया था किन्तु मृदुला···मृदुला तो जैसे उन सबसे भिन्न है, पृथक है···वह केवल खेल की ही नहीं मानो पूजा की, आदर की वस्तु है···कुँवर का अचानक ही मन बँध-सा गया···उसे जान पड़ा कि उसके उच्छृङ्खला मन को मृदुला ही बाँध सकती है···वही···केवल··· वही···किन्तु उसे मृदुला पर झुँझलाहट-सी हो आई···कैसी है यह नारी··· युवती···आज तक तो कभी कुँवर को···नहीं···सचमुच में···ऐसे घने एकान्त में···किसी युवती नारी से नहीं···मन से नहीं, सुनने को नहीं मिला था किन्तु इसके स्वर में तो सचमुच दृढ़ता है, और है गाम्भीर्य··· किन्तु है तो नारी ही···इसे तो जीतना ही पड़ेगा···किसी न किसी प्रकार··· मिनिस्टर की पुत्री, सुन्दरी, सुशिक्षिता···युवती···कार तेजी से उड़ी जा रही थी···कुँवर को इच्छा निरोध सहन करने की आदत नहीं थी किन्तु वह विवश था और किया भी क्या जा सकता था···उपाय ही क्या था·····

मृदुला सोच रही थी कितने अच्छे हैं यह, कितना मेरी इच्छा का ध्यान रखते हैं···सुना करती थी कि पुरुष उद्दण्ड होते हैं···और तिस पर राजाओं के विषय में तो और भी विचित्र कहानियाँ सुनने को मिली थीं किन्तु कितने संयमी, कितने नेक और कितने भले हैं यह···काश कि यह मेरे मन की बात समझ पाते···काश कि मैं···मैं···अरे यह मैं क्या सोच रही हूँ···यह मेरे हैं ··मेरे ही रहेंगे···उनींदी मन कल्पना में उड़ा जा रहा था···वह कल्पना में कह रही थी चिर पुरातन भारतीय नारी की भाँति एकबारगी दकियानूसी स्वरों में 'कुँवर मैं तुम्हारी हूँ और जन्म-जन्मातर तक तुम्हारी ही रहूँगी···तुम्हारे चरणों से अधिक प्रलोभनीय स्थान मेरे लिए विश्व भर में और कहीं नहीं है···मेरे देवता···मेरे प्राण'···किन्तु वह चुप ही रही।

२१

'अरुण ! तुमने कभी मंजु के भविष्य की बात भी सोची है ?'

'सोची है और निरन्तर सोचता ही रहता हूँ किन्तु करूँ क्या गिरिजा कुछ समझ में ही नहीं आता है।'

'कहीं कोई अच्छा लड़का देखकर विवाह कर न दो।' अनजाने ही गिरिजा का स्वर काँप-सा गया। अरुण का उधर ध्यान नहीं था। उसने बहके-से स्वर में कहा—'यही मैं भी चाहता हूँ। माँ भी चाहती हैं किन्तु लड़का लाऊँ कहाँ से ?'

'इतनी सुन्दर, सुशील लड़की से विवाह करना तो किसी भी लड़के का सौभाग्य होगा अरुण !' गिरिजा ने धीरे से एक ठण्डी साँस छाती में ही दबा-सी ली। अरुण की आँखें भर आईं। उसने धीमे से स्वर में कहा—'यह तो हमारी-तुम्हारी राय है न गिरिजा। सुनता हूँ कि समाज में सुधार हो रहे हैं। हिन्दू कोडबिल पास हो गया है। लड़की को पिता की जायदाद में लड़के के ही समान अधिकार मिल गया है किन्तु जायदाद यहाँ है कहाँ ··और कितने परिवारों में पुत्र और पुत्री के बीच बाँटने के लिए जायदाद है ? किन्तु जायदाद हो या न हो दहेज तो देना ही होगा। विलायत जाने का खर्च, मोटर आदि न देने पर कहीं अच्छा लड़का थोड़े ही मिल सकता है।'

'जाति से बाहर विवाह तुम करोगे नहीं।' निराशाभरे स्वर में गिरिजा ने कहा—और यह भी जोड़ दिया कि 'अब तो यह सब कोई मानता नहीं है।'

'और न मानना ही चाहिये किन्तु जब तक माँ बैठी है मानना ही पड़ेगा भाई। और फिर बिरादरी से बाहर ही कौन बैठा है ?'

दोनों ही कुछ देर चुप रहे फिर अरुण उत्तेजनाभरे स्वर में कहने लगा—'लड़की का विवाह होना ही चाहिये···विवाह के लिए लड़के वालों

की चिरौरी मिन्नत करना ही होगा और तिस पर भी लड़की का सुन्दर, सुशील, योग्य, सर्वगुण सम्पन्न होना भी आवश्यक है और साथ-ही-साथ दस-बीस हजार का प्रबन्ध भी करना पड़ेगा। भले ही लड़का महा अयोग्य हो·· यही है यह प्राचीन देश···इसकी सभ्यता···संस्कृति··जिसके गुण आज देश-विदेश में भी गाये जा रहे हैं·· नारी पूज्या है···उसका सम्मान होना चाहिये···यही हमारे शास्त्रों की उक्ति है किन्तु···कहाँ रखे रह जाते हैं वह शास्त्र···कहाँ चली जाती है हमारी महान् संस्कृति···अरुण का स्वर उत्तेजना से काँपने लगा था। गिरिजा ने रोक कर कहा—'इस प्रकार उत्तेजित होने से क्या होगा अरुण ? इस विशाल देश के सदियों से गुलामी की चक्की में पिसते हुए समाज की कुरीतियाँ एक ही दिन में तो उखाड़-पुखाड़ कर फेंकी नहीं जा सकती हैं। ऐसा कोई चिरागे अलादीन थोड़े ही किसी के पास है। धीरे-धीरे ही तो सब कुछ होगा···'

'और तब तक सम्भवतः उससे लाभ उठाने वाले ही नहीं रह जायँगे। मानता हूँ योजनाएँ बनी हैं और बन रही हैं···यह भी ठीक है कि देश की आर्थिक उन्नति होना आवश्यक है और वह हमारे योगदान से ही होना चाहिए किन्तु जानते हो चीनी का भाव एक रुपये से ऊपर हो गया है एक सेर का···समस्या मेरी ही नहीं है देश भर की है। बेकारी, महँगाई, कुरीतियाँ, वर्गभेद, और न जाने क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं जिन्होंने हम जैसे निम्न मध्यवर्गीय लोगों का गला बुरी तरह दबा रखा है। गिरिजा बहिन की कमाई का अन्न मुख में डालने पर जिस कठिन आत्मग्लानि का सामना करना पड़ता है तुम्हें उसका अनुभव नहीं है भाई···तुम क्या जानोगे उस पीड़ा को, उस वेदना को···'

'तुम कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेते अरुण ?' 'कहाँ है नौकरी मेरे लिए गिरिजा···शायद तुम कहोगे कि कहाँ तो कहीं किसी मन्त्री से सिफारिश कराकर सेक्रेटेरियट में कोई क्लर्क-वर्ल्क की नौकरी दिलवा दूँ·····छिः अरुण करेगा नौकरी···भिक्षा में·····माँगी हुई दीनता के

चरण छूकर प्राप्त की हुई···' उसकी दोनों आँखें क्रोध, दीनता और बेबसी से जल उठीं थी···शायद स्वर भी आवश्यकता से अधिक तीव्र हो गया था···अरुण उतने शान्त स्वभाव का तो कमी भी नहीं था किन्तु गिरिजा ने उसे पहले कभी इतना अधिक उत्तेजित होते हुए भी नहीं देखा था···इसी समय मंजु सामने से आती दिखाई दी···अरुण एकबारगी चुप हो गया। गिरिजा ने गर्दन झुका ली···मंजुला की आँखें चमक-सी उठीं, उसने गिरिजा की ओर देखते हुए अरुण से कहा—'भइया! तुम लोग कितनी देर से यहाँ बैठे हो? मैं तो आज इतवार की छुट्टी मनाते-मुनाते सो गई थी। उठी तो देखा सन्ध्या हो गई। तुमने जगा क्यों नहीं लिया?'

'कल सारी रात को तेरी लगभग जागते ही बीती है, फिर दिन भर कठिन परिश्रम।'

'नींद न आती तो ही आश्चर्य होता।' अरुण के स्वर में ममता तो थी ही व्यंग्य भी था और कड़ुवाहट भी···गिरिजा ने अब मंजु की ओर मुख उठाकर देखा। उनींदी दो आँखें अत्यन्त सुन्दर लग रही थीं। मुख पर पीलापन था किन्तु एक अनजानी-सी चमक भी थी। गिरिजा ने कहा—'बैठ मुन्नी। खड़ी क्यों है?'

'नहीं, जाऊँ तुम्हारे लिए चाय बना लाऊँ।'

कहते-कहते मंजु चली गई। अरुण ने कहा—'कल माँ की तबीयत अधिक खराब हो गई थी। इधर मंजु भी कुछ अस्वस्थ ही रहती है। शायद चिन्ता भी करती रहती हो। शायद नौकरी भी अधिक दिन तक नहीं टिक पायेगी।' कुछ चिन्ता से अरुण ने कहा—'गिरिजा कहीं कुछ ट्यूशन का डौल हो सकता है क्या?'

'प्रयत्न करूँगा किन्तु मंजु से कालेज के प्रबन्धक क्यों नाराज रहते हैं? कुछ मालूम है क्या?'

'ठीक तो नहीं जानता किन्तु वह शायद यह चाहते हैं कि मंजु उनके घर जाकर उनकी महामूर्ख पुत्रियों को, उनके मित्रों की कूढ़मगज़ बेटियों

को परीक्षाओं में पास होने योग्य बना दिया करे और मंजु है कि उनके तथा उनके मित्रों के घर जाने को तैयार नहीं है। मेरी भी अनुमति नहीं है···क्या कहते हो गिरिजा ?'

'रेपुटशन तो उनकी कुछ ऐसी ही है कि उनके घर जाना ठीक भी नहीं है।'

'तब उन्हें नाराज होने दो।'

मंजु चाय के दो प्याले लेकर आ गई। उसने अरुण से पूछा—'कुछ खाने को लाऊँ भइया ?'

'और गिरिजा से नहीं पूछेगी ?'

'यह तो बड़े आदमी हैं। गवर्नर के घर दावतें खाते हैं। इन्हें कैसे पूछूँ भइया' और उसने बड़ी ही मीठी नजर से गिरिजा की ओर देखा। गिरिजा अब तक की सुनी-सोची सभी बातें भूल गया। उसे जान पड़ा कि अचानक सृष्टि अत्यधिक मधुर हो उठी है।

'कुछ देगी भी या बड़ा आदमी ही बनाती रहेगी।' गिरिजा ने बचपन की-सी शरारतभरे लहजे में ही कहा। चिन्ता के बादल छँट गया। अरुण ने कहा—'मंजु ! यह गिरिजा बड़ा ही लोभी है। उधर गर्वमेंट हाउस की दावतें भी नहीं छोड़ता और इधर तेरी रसोई पर भी पूरी नजर रखता है। इसे तू नहीं टाल सकेगी।'

'उहुँक ! यहाँ क्या धरा है।' मंजु ने भी वर्षों पूर्व की दुनियाँ में लौट कर कहा।

'फिर जाकर तेरी रसोई खखोलूँ ? फिर तुझे समेटना कठिन हो जायेगा।'

'ना, बाबा, इस लंका काण्ड के लिए मेरी रसोई नहीं है ? तुम यूँ ही दया-दृष्टि रखो। मैं साग सत्तू जो कुछ है यहीं ला देती हूँ।' और गेलहरी की तरह कूदती-फाँदती मंजु चली गई। अरुण ने आज बहुत

दिनों बाद मंजु को हल्के फुल्के ढङ्ग से बातचीत करते देखा था। उसका भी मन खिल उठा। 'मंजु! मेरी रानी बहिन मंजु यह किसी भी मूल्य पर खुश रहे, सुखी रहे यही मेरी इच्छा है।' अरुण ने मन ही मन कहा। गिरिजा जाती हुई मंजु की ओर देख रहा था···उसे जान पड़ा कि मंजु उसकी अत्यधिक अपनी है, एकबारगी अपनी, नितान्त अपनी किन्तु··· किन्तु···उसका मन आगे सोच ही नहीं पा रहा था। मंजु ने लौट कर एक तश्तरी दोनों के सम्मुख रख दी। उसमें चार बेसन के लड्डू थे और चार पाँच मठरियाँ। तश्तरी रख कर मंजु ने गिरिजा के हाथ से खाली प्याला लेकर कहा—'अभी दूसरा प्याला लाती हूँ। तब तक भइया तुम भी अपना प्याला खाली कर लो न।'

'तू भी तो अपने लिये चाय ले आ मंजु।'

'नहीं, तुम लोग पी लो फिर माँ को दूध देकर मैं भी चाय पी लूँगी।'

'नहीं, नहीं फिर तू कहाँ पियेगी? चल यहीं ले आ।' अरुण आज अत्यधिक प्रसन्न हो उठा था। उसे यह भी तो पता था कि चीनी मँहगी हो जाने से मंजु ने इधर चाय पीना छोड़ ही दिया है। वह कोई-न-कोई बहाना बना कर चाय टाल ही जाती है। आज भइया के आग्रह पर वह भी वहीं अपने लिये एक प्याला चाय लेकर आ बैठी। वातावरण बदल गया था। तीनों बड़ी देर तक गप्पें करते रहे। इसी बीच मंजु माँ को पथ्य देकर फिर वहीं आकर बैठ गई।

२२

'छुट्टी तो शायद आपको और नहीं मिल सकेगी मिस कपूर', मिसिज शर्मा ने तनिक उदासीनता से कहा।

'मैंने तो आज तक कभी छुट्टी नहीं ली मिसिज शर्मा।'

'यह तो ठीक है किन्तु कैज़ुएल लीव तो चौदह दिन की होती है, वही मेरे अधिकार में है। यह तो विशेषावकाश है। यह केवल प्रबन्धक महोदय ही देते हैं और वह तुम पर प्रसन्न नहीं हैं ?'

'मेरा दोष क्या है मिसिज शर्मा ?'

'वह सब लम्बी-चौड़ी बातें हैं आप समझेंगी भी नहीं।'

'समझना ही क्या उचित होगा ?'

'देखिये मैं सीधे-सादे शब्दों में बात करना पसन्द करती हूँ। इतने दिनों से देख रही हूँ कि आप भावुकता और आदर्श के पीछे अपना कैरियर ही बिगाड़ रही हैं।'

'शायद', मंजुला कुछ देर चुप ही रही फिर उसने तनिक विनयभरे स्वर में कहा—'मिसिज शर्मा मेरी माँ बहुत बीमार है। भाई यहाँ है नहीं और मैं अकेली ही घर पर हूँ। आप ही बताइये मैं क्या करूँ ?' मिसिज शर्मा स्वर की आर्द्रता से पसीज उठीं। उनका जी चाहा कि इस अत्यन्त कर्मठ, नेक और भली लड़की को तुरन्त छुट्टी दे दें···उन्हें याद हो आया कि जब उनका पहला पुत्र मृत्यु-शय्या पर पड़ा था तो उन्होंने किस प्रकार उचित-अनुचित कर करा कर छुट्टी ली थी···फिर भी···फिर भी··· वह काँप उठी···किन्तु वह कर ही क्या सकती हैं···उनके हाथ में है ही क्या···यह सत्य है कि वह विद्यालय की आचार्या हैं···यह समझा जाता है कि इन हजार-डेढ़-हजार नन्हीं बच्चियों की वही भविष्य निर्मात्री हैं··· इनकी गुरु हैं···इन्हें योग्य कुशल नागरिकाएँ बनाने का उत्तरदायित्व उन्हीं का है···इनका सर्वोदय···इनकी सर्वाङ्गीण उन्नति उन्हीं का काम है किन्तु कितनी साधन-सुविधाहीन हैं···वह···वह जानती हैं कि मंजुला से अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण ढंग से, परिश्रम से और मन से और कोई भी अध्यापिका कार्य नहीं करती है किन्तु यह सब जानते हुए भी वह उसे पन्द्रह-बीस दिन की छुट्टी नहीं दे सकती, न ही दिला सकती क्योंकि यह अधिकार उन्हें है जिन्हें विद्यालय, विद्या और शिक्षा के विषय में

नहीं के बराबर ज्ञान है किन्तु वह धनी हैं, मानी हैं, बिरादरी विशेष के अग्रणी है···निर्वाचित होकर···जनतान्त्रिक ढंग से विद्यालय के प्रबन्धक हुए हैं···अभी उसी दिन नियुक्ति के समय एक अत्यन्त योग्य प्रथम श्रेणी में एम० ए० पास महिला के स्थान पर नियुक्ति हुई एक तृतीय श्रेणी पाई हुई साधारण-सी एम० ए० किन्तु अत्यन्त अभिमानी धनी महिला की अध्यापिका का कार्य करने के लिये और वह क्या कर पाई···दो-चार बार बोली अवश्य किन्तु हुआ क्या···वही तो जो होना था···फिर भी उनका कर्तव्य है बालिकाओं का चरित्र-निर्माण···सभी ओर से उन्हें सुनना पड़ता है 'आजकल शिक्षा का स्तर गिर गया है···डिसिप्लिन तो रह ही नहीं गई···अरे अब तो बी० ए० पास दो-चार ठीक लाइनें भी नहीं लिख सकते' किन्तु ऐसा क्यों है कभी सचमुच गम्भीरता से सोचा है किसी ने··· बड़ी-बड़ी सभाएँ, समितियाँ, बैठकें होती हैं किन्तु हल हो पाया है समस्या का···होगा कभी क्या ? कैसे होगा···सत्ता, धन, सामर्थ्य···बिरादरी, रक्त-सम्बन्ध, खुशामद···उन्हें जान पड़ा कि उनके मस्तिष्क में एक साथ लाखों हजारों कीड़े रेंग रहे हैं···एक दिन···सचमुच एक दिन उन्होंने जीवन के प्रारम्भ में सोचा था त्याग, आदर्श, बलिदान आदि का जीवन व्यतीत करना···किन्तु कहाँ गया वह यौवनावस्था का आदर्श, आदर्श की कल्पना··· कहाँ चला जाता है अधिकांश आदर्शवादियों का उत्साह···उनकी लगन··· उन्हें जान पड़ा कि वह मर गई हैं···कभी की मर गई हैं···उनकी लाश··· आज चल-फिर रही है···उनके पास बढ़िया साड़ियाँ हैं, जीवन की सुख-सुविधाएँ हैं किन्तु कितने महँगे मोल उन्होंने लिया है इस सुख-सुविधा को···अपने आदर्श, आत्मसम्मान, न्यायप्रियता, कर्तव्यनिष्ठा, सत्य को देकर बदले में लिया है सरल, सुखी···किन्तु क्या यह सुखी है···यूँ वह लो आसान मार्ग··· बिना छेड़े-छिड़े चलता जाने वाला जीवन···छिः उन्हें जान पड़ा कि उन्होंने हीरा देकर काँच का टुकड़ा मोल ले लिया···कान में स्वर पड़ा। तो मैं क्या करूँ मिसिज़ शर्मा···क्या त्यागपत्र दे दूँ···माँ की हालत बहुत खराब

है···' मंजुला की आँखों के कोने गीले थे···मिसिज शर्मा ने आज तक उस मंजुला को देखा था जो दृढ़ थी, अटल थी, अचल थी···जिसका आत्म-सम्मान झुकना नहीं जानता था···आज···आज कितनी घनी वेदना ने उसकी आँखें गीली कर दी हैं यह समझना मिसिज शर्मा के लिये शेष नहीं रहा। उन्होंने अत्यधिक सहानुभूति से कहा—'एक बार कोशिश करके देखती हूँ। तुम तो जानती ही हो यहाँ जो हालत है किन्तु तुम चिन्ता न करो। घर जाकर माँ की सेवा करो किन्तु एक बार तुम स्वयं भी जरा मैनेजर साहब के पास हो आओ न। ऊपर से चाहे कठोर दिखाई देते हैं किन्तु मन के बहुत कोमल हैं। जब तुम अपनी अवस्था उन्हें सुनाओगी तो वह जरूर छुट्टी दे देंगे।' स्वर अत्यन्त कोमल था। मंजुला को झटका-सा लगा किन्तु मन पर संयम करने की उसमें अद्भुत क्षमता थी। उसने स्वर अपेक्षाकृत शांत करके कहा—'मिसिज शर्मा मैं एक साधारण अध्यापिका हूँ। मेरा सम्बन्ध केवल आपसे ही है। मैं किसी के घर नहीं जाऊँगी।' स्वर की दृढ़ता मिसिज शर्मा के निकट स्पष्ट थी। फिर भी उन्होंने कोशिश की—'मंजुला इस जरा-सी बात पर तुम इतना क्यों अड़ जाती हो। आखिर वह बड़े हैं और हैं भी बहुत भले आदमी।'

'ठीक है किन्तु मैं विद्यालय के अतिरिक्त किसी के घर नहीं जाऊँगी। आप प्रार्थनापत्र भेज दें। जो होना होगा हो।'

'अच्छा तो तुम किसी और ही से कहलवा दो। जरा कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति उनसे कह ही दे।'

'छिः सिफारिश कराने जाऊँ। छुट्टी लेने के लिये···सो भी शायद वेतन रहित या आधे वेतन पर मिलेगी···' कुछ क्षण चुप रहकर मंजुला ने कहा—'मिसिज शर्मा! आपकी अपने प्रति कोमल भावनाएँ मैं समझती हूँ किन्तु आप चिन्ता न करें। मुझे मेरी किस्मत पर छोड़ दीजिये। मैं न तो कहीं जाऊँगी और न किसी से कहूँगी किन्तु आपकी यह हार्दिक सहानुभूति कभी नहीं भूलूँगी। नमस्कार।'

मंजुला उटकर चली गई। श्रीमती शर्मा को जान पड़ा कि यह साहसी लड़की उनके व्यक्तित्व को ही झकझोर गई है। वर्षों पूर्व उन्होंने जीवन से समझौता कर लिया था और वह सुखी थीं···जब ऐसा समझौता नहीं कर पाई थीं तो रात-दिन संघर्ष···कठिन संघर्ष में ही बीतते थे···और फिर जब संघर्ष से थक कर···तंग आकर···उन्होंने अन्याय की ओर से सकष्ट आँखें बन्द करने की आदत ही डालना शुरू कर दिया था तो धीरे-धीरे संघर्ष का स्थान उदासीनता लेती गई···और उनका जीवन अपेक्षाकृत शांत होता गया···वह आदर्शों को भूलती गई···जैसा है वह ठीक ही है उन्होंने उन्हें एक प्रकार की अकर्मण्यता दे दी किन्तु आज तो फिर से एक बार उन्हें जान पड़ा कि वह केवल वेतनभोगी कर्मचारी ही नहीं हैं इस संस्था की आचार्या हैं···इस कुल की कुलपति हैं···उन्हें कुछ करना ही होगा··· किन्तु क्या करेंगी वह···वह स्वयं अपनी मूर्खता पर हँस पड़ी। मन ही मन·· कैसी साहसी है यह लड़की···जो साहस वह जीवन भर नहीं कर सकी वह यह छोटी-सी लड़की क्षणभर में कर गई···क्या है यह अपने न्यायतः परखने के दावे की माँग अथवा उद्दण्डता अथवा आत्म-सम्मान अथवा कुछ और···कुछ और···क्या यही आदर्श है···लक्ष्य है···अथवा केवल···केवल···किन्तु उन्हें क्या करना चाहिये···जाने दो···उन्हें नौकरी करना है और जब करना ही है तो रोज-रोज के लड़ाई-झगड़े से लाभ ही क्या है···और···और···उनमें साहस ही कहाँ है उतने संघर्ष के जीवन व्यतीत करने का···वह मर गई···सचमुच···मर गई···अच्छा जाने दो··· उनका मर जाना ही ठीक है अन्यथा संस्था शांतिपूर्वक चलेगी कैसी ? दुनिया क्या बदलेगी ?

घने दुःख के बीच भी मंजुला को आत्म-संयम कर पाने की शिक्षा मिली थी उसमें वैसा कर पाने की क्षमता भी थी, फिर भी उसे लगा कि वह विचलित हो रही है ··उसका जी चाहा कि प्रबन्धक महोदय से प्रार्थना करे कि उसकी माँ मृत्यु-शय्या पर पड़ी है, उसे औषधि पथ्य उस समय तक

तो देना ही होगा जब तक कि वह श्वास ले रही है···उसका योग्य सुशिक्षित भाई बेकार है···स्वयं उसे भी जीवन धारण करने के लिये पेट तो भरना ही होगा; अतः चला ही जाये किन्तु उसका आत्माभिमानी मन चीख उठा, रो उठा···वह जायेगी उस व्यक्ति के घर जीवन की भिक्षा माँगने जो निरन्तर उसके आत्म-सम्मान को ठुकराने की चेष्ठा करता रहा है और वैसा कर नहीं पाया···वह जायेगी उसके घर जिसे भइया उस दिन निर्दयी, दुष्ट और न जाने क्या-क्या कह कर पुकार रहे थे···वह जायेगी उसके घर जिसे गिरिजा भइया भी ··वेबसी से उसकी आँखें फिर भर आईं···फिर क्या करूँ···गिरिजा से कहूँ···नहीं···नही···कहूँगी उनसे··· हाथ पसारने किसी के आगे मेरे लिये···किन्तु उसमें बुरा क्या है...वह तो ऐसे काम करते ही रहते हैं···सभी के लिये करते हैं, गैरों के लिये भी करते हैं···करते होंगे किन्तु मेरे लिये···नहीं···नहीं···अरे मैं क्या पढ़-लिखकर इतनी अपाहिज हो गई हूँ···क्या मैं मजदूरी नहीं कर सकती··· क्या पागलपने की बातें हैं मजदूरी से कहीं तीन प्राणियों का पेट भरेगा और फिर माँ, भइया मानेंगे भी···किन्तु और उपाय भी क्या है···मुझसे नहीं बनेगा···पढ़ा सकती हूँ···परिश्रम कर सकती हूँ किन्तु किसी के घर जाकर इधर-उधर की निन्दा, चुगली, उनका दिलबहलाव, पार्टी पालिटिक्स में भाग लेना···यह सब मुझसे नहीं बनेगा···जाने दो···यह सब नहीं करूँगी···नहीं···करूँगी जीवन के जिस चौराहे पर जाने या अनजाने आकर खड़ी हो ही गई हूँ उससे अब लौटने का उपाय नहीं है किन्तु पथ परिवर्तन तो कर ही सकती हूँ···माँ की चारपाई के पास बैठे-ही-बैठे मंजुला न जाने कब सो गई।

२३

'देखो अरुण! जीवन से मुझे प्यार है और मैं जीना चाहता हूँ, इस-

लिये नहीं कि मुझे जीवन से प्यार है वरन् केवल इसलिये कि अभी मेरे निकट जीवन सुन्दर है, सरल है, सहज है।'

'इसीलिये तो कुँवर साहब आपको औरों के जीवन को भी सुन्दर, सरल और सहज बनाने को सुविधा जुटा देनी चाहिये।'

'उसके लिये मैं क्या कर सकता हूँ। तुम्हारी सरकार तो बहुत कुछ कह रही है। लेबर मिनिस्ट्री कर रही है।'

'उसने तो जो कुछ किया है सामने ही है।'

'तब फिर मुझसे और अधिक की आशा न करो।'

'क्या यही आपका अन्तिम उत्तर है?'

'क्या इस प्रश्न का उत्तर सुनकर ही मुझे अन्तिम चेतावनी दी जायेगी?' सुनकर अरुण का मन तिक्त हो उठा। उसने कड़वे-से स्वर में कहा—'कुछ तो करना ही होगा।'

'तब फिर ऐसा करो। सौ-दो-सौ रुपये अपनी यूनियन के लिये चन्दा ले लो और रामेसुर की पत्नी को समझा-बुझाकर कम्पेन्सेशन दिलवा दो और फिर चलो मेरे साथ दार्जिलिंग। कुछ दिन घूम-फिर ही आयें। इधर गर्मी भी बढ़ रही है।'

विवश आहत अपमान से अरुण के मस्तिष्क के भीतर अग्नि-सी भभक उठी। वाणी पर, स्वर पर यथाशक्ति संयम करते हुए अरुण ने कहा—'कुँवर साहब! यह क्या आप कह रहे हैं? रामेसुर आपकी मिल में आपका कार्य करते हुए दुर्घटना का शिकार हुआ है···उसके पाँच नन्हें बच्चे हैं, पत्नी है और विधवा माँ है···आप···आपके लेबर आफिसर उसके जीवन का मूल्य आँक रहे हैं दो सौ रुपये और आप मुझे जीतना चाहते हैं, मेरा मुँह बन्द करना चाहते हैं सौ, दो सौ रुपये देकर, पहाड़ की सैर करवा कर···आपने मुझे समझ क्या रखा है?' स्वर की तीव्रता की ओर ध्यान न देते हुए कुँवर ने कहा—'तुम्हें अपना दोस्त समझता हूँ अरुण और

समझता हूँ महामूर्ख···माफ करना यार···तुम हो तो महामूर्ख ही···खैर जाने दो···अब कुछ और बातचीत करें'···उत्तेजना से अरुण जल उठा। उसने फिर भी संयमित स्वर में कहा—'मैंने पहले ही कहा था कि पूँजीपति और मजदूर की मित्रता कैसी ? और मूर्ख तो में हूँ ही तभी आपके पास आया। खैर···आपकी इच्छा···मैं तो आपको मानव समझकर ही आया था किन्तु जान पड़ता है कि उस दिन की आपकी सारी फिलासफी कोरी फिलासफी ही थी। मैं महामूर्ख ही था, तभी तो उस फिलासफी के पीछे किसी एक मानव हृदय की छाया खोजने की व्यर्थ चेष्टा करता रहा।' कुँवर वीरेश्वर प्रताप सिंह बड़ी जोर से ठठाकर हँस पड़े मानों अरुण ने कोई बहुत बड़ी मजाक की बात कही हो।

'अरुण ! तुम सचमुच बड़े भोले हो। फिलासफी तो मार्डन फैशन है। चारों आदमियों के बीच में बैठकर मेरे विचार में कहकर बड़ी-बड़ी आदर्शों की बातें कर जाना सोशल होने के लिये अच्छा है···और बात··· जो मुझे सहज प्राण है, मेरा है···उसमें से मैं कुछ किसी को दूँ या न दूँ यह मेरी इच्छा है।'

'आपकी इच्छा नहीं यह उसका सहज पावना है। यह तो आपको देना ही पड़ेगा।'

'देना पड़ेगा तो दे दूँगा···तुम दिलवाने की कोशिश कर देखो न।'

'जानता हूँ आज भी आप ही लोगों का बोलबाला है। आपकी सत्ता, आपके प्रभाव, आपकी मिनिस्टरों तक पहुँच ने आपको बहुत ही स्वच्छन्द बना दिया है किन्तु···'

'किन्तु परन्तु जाने दो···मैं तो दो सौ से दो-चार रुपये ऊपर भी दे देता किन्तु भाई मैं अकेला तो हूँ नहीं और भी तो डाइरेक्टर हैं···'

'और गत मास जब आप चार दिन के लिये पैरिस गये थे और वहाँ हजारों रुपये सरकार की नजरों की ओट फूँक आये थे तब और डाई-रेक्टर कहाँ थे।'

'वह तो मेरा निज का धन है अरुण।'

'ठीक आप ही ने तो जैसे परिश्रम करके वह धन कमाया है न?' व्यंग्य समझ कर भी कुँवर हँस पड़े।

'नहीं, नहीं कमाया है किन्तु कर्मफल तो तुम मानते हो न। पिछले जन्म में मैंने बहुत दान, पुण्य, तपस्या की थी न···'

कुछ चिढ़ाते हुए कुँवर कह रहे थे···

कुछ झुँझलाते हुए अरुण ने कहा—'मानव के प्राणों की ममता··· उनका मूल्य आपके निकट आज भले ही कुछ न हो किन्तु जिस दिन आपको बरबस वह मूल्यांकन कराया जायेगा तब तक बहुत देर हो चुकेगी और आपको लौटने का रास्ता तक न मिलेगा।'

'लौटना चाहेगा ही कौन? तुम लोग कुछ करो तो सही···मानव समता, मानव एकता, ह्यूमेन इक्वेल्टी, सोशल जस्टिस, ह्यूमैन फ्रीडम की बातें यहाँ भी सुनीं और यूरुप अमरीका में भी सुनता रहा किन्तु यह बातें बड़ी ही रसीली हैं, बड़ी ही मीठी-मीठी और बस···उसके बाद जो है वही था और वही रहेगा···बदलते रहते हैं केवल उसके रूप···'

'इसी भरोसे न रहियेगा कुँवर साहब···आज का दलित मानव कल का यथार्थ मानव न हो जायेगा यह कौन कह सकता है।'

'ठीक ही तो है होने दो···मैं तो उस दृश्य की कल्पना करके ही हँस पड़ता हूँ जब मेरा स्टुअर्ट दयाल ब्यूक कार पर चढ़कर मेरे साथ-ही-साथ चेम्सफोर्ड क्लब जाया करेगा।'

और वह सचमुच बड़े जोर से हँस पड़ा। सामने गिलास में झलकती हुई बीयर हिल उठी। 'लो पियोगे यह तो बीयर ही है···इससे गर्मी ही कुछ कम होगी···'

'ब्यूक कार पर चढ़ कर सब लोग आपके साथ चेम्सफोर्ड क्लब जायें यह हमारा ध्येय नहीं है किन्तु रामेश्वर की विधवा माँ और बीमार पत्नी

अपने छोटे-छोटे बच्चों को लेकर भूखों मरे और आप शुगर मिल की आय पर सिगार और शराब उँडेले यह अधिक देर तक सहन नहीं किया जा सकता है।' वह काँप रहा था।

'नहीं होगा मित्र नहीं होगा···टैक्स बढ़ते जा रहे हैं किन्तु जब तक हो सकता है तब तक भी तुम्हारी सलाह मानकर मैं संन्यास ले लूँ या विनोवा भावे की राय मानकर सर्वस्व दान कर दूँ इससे बड़ी मूर्खता और क्या होगी ? और मैं ऐसा करूँ ही क्यों ?'

'कर सकेंगे भी नहीं। आप उस मिट्टी से बने ही नहीं हैं जो कि विनोवा भावे के उपदेश को सुन और समझ सकें किन्तु प्रश्न सर्वस्व दान करने का तो नहीं है। एक आपके मिल की दुर्घटना में नष्ट प्राणों के ऐवज में उसके परिवार के भरण-पोषण का समुचित प्रबन्ध करने भर का ही है जो कि आप सहज ही कर सकते हैं और आपको मालूम भी न होगा।'

'किन्तु एक रामेसुर ही तो नहीं था। यहाँ तो भाई रोज ही यह सब चलता है और इन बातों के लिये तो तुम मैनेजर से ही मिला करो। मैं तो इन सबसे परे ही रहता हूँ।'

'यह कह कर ही तो छुटकारा नहीं हो जाता। मैनेजर कहता है कि मालिक जाने और मालिक कहते हैं कि मैनेजर जाने।'

'तब फिर तुम ही क्यों सारी दुनियाँ के लिये परेशान हो। जो होता है होने दो। तुम्हें क्यों सिर दर्द है ?'

'इसलिये कि मैं इन्सान हूँ। इन्सान का दिल रखता हूँ।'

'तब फिर हैवानों को उनके हाल पर छोड़ो।'

'खैर मुझे तो अभी नगर जाना है। क्लब में आज डिनर है, डान्स भी है। आज तो माफ करो। अरुण ! फिर कभी आना तो और बात-चीत होगी।'

अरुण उठ कर खड़ा हो गया, उसका जी चाहा कि इस मिष्टभाषी, प्रियदर्शी, विचित्र व्यक्तिवान व्यक्ति के मुँह पर उसका बीयर का गिलास

उठाकर जोर से दे मारे किन्तु ऐसा कुछ भी न करके वह चुपचाप उठ कर बाहर आ गया। उसे याद आया कि उसने कितने बड़े विश्वास के आधार पर मृत रामेसुर की बीमार पत्नी और अपाहिज माँ से कहा था कि तुम लोग चिन्ता न करो, कुँवर अत्यन्त भले व्यक्ति हैं, मेरे परिचित भी हैं, तुम्हारी विपत्ति की कथा सुनते ही वह तुम्हारे गुजारे का कुछ-न-कुछ प्रबन्ध कर देंगे···कितना भारी धोखा हुआ है उसे कुँवर को समझने में, कितना बड़ा मूर्ख है सचमुच यह···क्यों नहीं समझ पाया वह इन पूँजीपतियों, धनी व्यक्तियों को···उसने क्यों समझ लिया था कि वह कुँवर ही इन सबसे भिन्न होगा···भला होगा, हृदयवान होगा···नहीं···नहीं यह सब एक-से हैं···एक-से···हैं और उसका हृदय उत्कट घृणा, विवश पीड़ा और असहाय, निरुपाय क्रोध से भर गया। द्वार के बाहर बैठी हुई रामेश्वर की वृद्धा माँ को कैसे क्या कहा जाये यह वह निश्चय ही नहीं कर पा रहा था··· वह बिचारी कितनी आशा से घसिटती हुई यहाँ तक चली आई थी··· उसके पैर आगे बढ़ ही नहीं रहे थे···'

२४

'तू क्यों इन सूखी हड्डियों के पीछे पड़ी है मंजु! मुझे अब जाने ही दे।'

मंजु चुप ही रही। अरुण मुँह लटकाये बैठा था। पिछले तीन-चार दिनों से माँ की हालत बहुत ही अधिक खराब हो गई थी। इलाज का कुछ ठिकाना नहीं था···मंजु और अरुण प्रायः घर की अधिकांश मूल्यवान वस्तुएँ बेच ही चुके थे। पिछले सप्ताह ही जब माँ की अवस्था कुछ और बिगड़ने लगी थी और मंजु नौकरी से भी त्यागपत्र दे चुकी थी तो गिरिजा ने सहमे-से स्वर में अरुण से कहा था—'अरुण! माँ क्या मेरी नहीं है? तुम इस विपत्ति में भी मुझे क्या उनकी सेवा करने का अवसर नहीं दोगे?'

अरुण ने सूखे से कण्ठ से कहा था—'गिरिजा ! तुम्हारा ऋण इस जन्म में चुका सकूँ इतनी सामर्थ्य मेरी नहीं है किन्तु उसे और अधिक बढ़ाऊँ ऐसा साहस भी मुझमें नहीं है।'

'यह ऋण नहीं है अरुण ! तुम इसे ऋण क्यों समझते हो भाई।'

'सत्य को अस्वीकार करने से ही वह झुठलाया नहीं जा सकता और असत्य पर अत्यधिक विश्वासपूर्वक, दृढ़तापूर्वक खड़े रहने पर भी वह सत्य का स्थान ले ही पायेगा ऐसा मेरा विश्वास नहीं है।'

'क्या सत्य है और क्या असत्य यह मीमांसा इस समय परे रखकर माँ के प्राण बचाने की ही चेष्टा करो तो अच्छा हो भाई।' 'ठीक ही तो है। जो पुत्र माँ की कठिन रोगावस्था में भी उसकी चिकित्सा, पथ्य आदि की समुचित व्यवस्था भी नहीं कर पाता है उसे सत्य-असत्य की मीमांसा करने, व्यर्थ का आत्माभिमान करने का भी क्या अधिकार है। तुम ठीक ही कहते हो गिरिजा किन्तु मैं क्या करूँ कुछ समझ में नहीं आता।' 'तुम कुछ भी न करो। यह सब कुछ मुझ पर ही छोड़ो।' निरिजा ने विनयपूर्वक कहा—'मंजु बड़ी अभिमानिनी है। वह तुम्हारा स्नेह वरदान भी स्वीकार करे मुझे इसमें सन्देह है।'

'किन्तु यह दान है ही कहाँ ?' गिरिजा ने व्याकुल दृष्टि से देखा अरुण की ओर।

अरुण अत्यधिक उदास था। वह अपनी अन्तिम सम्पत्ति जन्मदिन पर पिता द्वारा दी गई हाथ की घड़ी भी कल बेच चुका था। उसे जान पड़ा कि भीतर-ही-भीतर उसका मन बुरी तरह थक चुका है। समर्थ का अभिमान कहलाता है आत्म-सम्मान और देता है गौरव किन्तु असमर्थ का अभिमान कहलाता है घमण्ड और देता है व्यर्थ की पीड़ा, बेबसी और असीम वेदना। अरुण का जी चाहा कि चीख उठे—'ओ सृष्टि-नियन्ता ! यदि तुम कोई हो, कहीं हो तो बताओ कि तुम्हें जब मुझे इतना विवश,

इतना निरुपाय और इतना असहाय बनाकर ही इस विश्व में भेजना था तो इतना अधिक आत्मसम्मान क्यों कर दिया, मन में···इसीलिए न कि मेरी पीड़ा बढ़कर इतनी कठिन हो जाये कि वह असह्य की सीमा तक ही पहुँच जाये।' उसका जी चाहा कि वह बिलख कर रो उठे···निरुपाय, असहाय, विविध प्रकार की विवशताओं में जकड़े मानव की पीड़ा का अनुभव कोई भुक्तभोगी ही कर सकता है। गिरिजा अरुण को पहचानता था। यह भी जानता था कि अरुण उस मिट्टी से बना है जो भले ही धीरे-धीरे गल-गलकर समाप्त हो जाये, चुक जाये किन्तु बदलेगी नहीं···वह यह भी जानता था कि विविध उपायों से अर्जित गिरिजा के धन को अरुण घृणा की दृष्टि से देखता है। अभी उसी दिन जब उसने एक महाजन के भतीजे को कोयले का परमिट दिलवा कर एक मोटी रकम का चेक प्राप्त किया था तो अरुण ने उसकी भर्त्सना की थी·····कुछ ही दिन हुए जब कि स्थानीय गवर्नमेंट कालेज में उसी ने मिनिस्टर से कह-सुनकर एक योग्य व्यक्ति को पीछे छोड़कर एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के साले की नियुक्ति करवा दी थी तो अरुण ने ही तो उसे 'नीच' कहा था फिर भी अरुण का उस पर स्नेह है···अत्यधिक स्नेह है···उसी स्नेह के दावे को लेकर गिरिजा ने कहा—'अरुण! मानता हूँ कि मैं उस मार्ग पर नहीं चल सकता जो कि तुम्हारा आदर्श है किन्तु इस समय तुम यह भूल जाओ कि गिरिजा बुरा है केवल इतना ही याद रखो कि एक दिन तुमने मुझे आश्वासन दिया था कि तुम अपने माता-पिता को मेरे साथ बैठा लोगे···आज पिता नहीं रहे···अपनी माँ कैसी होती है। मैं नहीं जानता···जो कुछ स्नेह का दान मैंने पाया है सो इसी माँ के निकट पाया है। इसे केवल अपनी माँ ही बनाये रखने का लोभ इस समय तो छोड़ दो अरुण भाई।' गिरिजा के स्वर में गिड़गिड़ाहट थी। कितने ही मानवों का भाग्य-विधाता, कितने ही न्याय-अन्यायों का प्रेरक, कितनी ही दुष्टताओं का विधाता, कितनी ही कठोरताओं का मूक प्रसन्न साक्षी गिरिजा आज कातर हो उठा था। उसके

भीतर का स्नेहसिक्त मनुष्य जाग उठा था किन्तु अरुण कुछ सम्भल रहा था। इस बार उसने तनिक उत्तेजित होकर कहा—'देश भर में एक यही तो माँ नहीं है गिरिजा। तुम पवित्र खादी पहनते हो·····उस महात्मा के अनुयायी हो जिसने जीवन भर सत्य की सत्ता के लिए कष्ट सहे और अन्त में उसी के लिए प्राण दे दिये···तुम उन सिद्धान्तों के नाम पर वोट माँगते हो जिनके आधार पर विश्व भर में राम-राज्य स्थापित किया जाता है। तुम्हारे लिए सेवा-कार्य की कमी नहीं है···दवा, पथ्य और डाक्टर के अभाव से कष्ट पाने वाली एक यही माँ नहीं है। इस देश में खोजने से तुम्हें अनेकों ऐसे व्यक्ति मिल जायेंगे, उनकी सेवा करो गिरिजा मुझे उसमें कोई आपत्ति न होगी।' कह चुकने पर अरुण को स्वयं जान पड़ा कि उसने कोई अत्यन्त असंगत उलटी-पुलटी-सी बात कह दी है। गिरिजा ने सोचा—'ठीक ही तो है मैं बुरा हूँ। ढोंगी हूँ, पाखण्डी हूँ···अरुण के शब्दों में देश, जाति और स्वयं को धोखा दे रहा हूँ किन्तु ऐसा क्यों हुआ? मुझे भी तो जीवन में धोखा दिया गया···आज मैं सफल हूँ··· लोग मेरे निकट मेरी दया की भिक्षा माँगने क्यों आते हैं, इसीलिए तो कि मैं आज समर्थ हूँ···जिस दिन भाई द्वारा तिरस्कृत, अपमानित होकर, धक्के खाकर अकारण ही दण्डित होकर मैं घर से निकाला गया था तब कौन आया था न्याय की दुहाई देने···कहाँ गये मेरे तीस हजार रुपये··· मेरा पैतृक मकान···सभी ओर से निराश्रित, निरुपाय तीन बार दसवीं की परीक्षा में फेल भाई द्वारा छला जाकर जब मैं छोटी-सी अवस्था में केवल रोटी-कपड़े पर कांग्रेस के दफ्तर में पड़ा रहता था, झाड़ू-बुहारू कुछ कर दिया करता था तब कहाँ गया था, न्याय, सत्य आदि आदि·····अपने कौशल से, अपनी बुद्धि से···अपने ढंग से जब आज मैंने समाज में अपनी प्रतिष्ठा बना ली है जब बड़े से बड़े लोग मुझसे मिलकर प्रसन्न होते हैं जब बैंक में चालीस हजार रुपये हैं तब बड़े भइया भी मेरे निकट आकर गिड़-गिड़ाते हैं, रक्त सम्बन्ध की दुहाई देकर अपना तबादला कराने के लिए,

अपनी तरक्की कराने के लिए···अपने लड़के को सरकारी नौकरी दिलाने के लिए···और यह अरुण···कक्षा में सदा प्रथम आने वाला मूर्ख तरस रहा है दाने-दाने के लिए···न···न·····मुझे सत्य नहीं चाहिये, न्याय नहीं चाहिये···भूख, अभाव और अपमान की पीड़ा क्या होती है यह मैं आज भी भूल नहीं पाया हूँ···मुझे मेरा यह जीवन मुबारक रहे···भले ही अरुण कुछ भी कहे···पुराने स्नेह सम्बन्धों के कारण इसकी सहायता करना चाहता हूँ किन्तु यह सनकी है। व्यावहारिक बुद्धि के नाते शून्य है, फिर मैं क्या कर सकता हूँ···और···और मंजु·····मुनियाँ।' एक बार फिर गिरिजा का मन हुलास से भर उठा किन्तु तुरन्त ही बुझ-सा गया। दोनों भाई बहिन एक ही साँचे के ढले हुए हैं···काश···काश कि···एकाएक बिजली की तरह गिरिजा के मन में कौंध उठा काश कि मंजु मेरी हो सकती···उसे उसी समय मंजु की स्नेहसिक्त दृष्टि मन में उभरती जान पड़ी···वह···वह भी तो क्या वह भी·····मुझसे···चित्रपट पर देखे हुए कितने ही दृश्य गिरिजा को बाद हो आये·····किन्तु मंजु तो कभी···विचारधारा टूट गई। अरुण कह रहा था—'भाई गिरिजा क्षमा करना। इस समय तो नहीं किन्तु यदि कभी भी किसी की सहायता लेना ही हुआ तो तुम्हारे ही निकट हाथ फैलाऊँगा।'

'तुम मूर्ख हो अरुण।'

'शायद', अरुण ने स्वीकारोक्तिभरे स्वर से कहा।

कई दिन से मंजु की इच्छा हो रही थी कि गिरिजा कहे कि वह अरुण को कहीं कोई काम दिला दे अथवा उसी को कोई काम दिलवा दे। कई बार सामना भी हुआ किन्तु चाहकर भी, इच्छा करके भी मंजु के मुख से शब्द निकलते ही नहीं थे। बर्तन तक बेचने की नौबत आ गई थी। दोनों भाई-बहिन एक-दूसरे की ओर चुपचाप ताक भर लिया करते थे। बात करने का साहस भी तो नहीं होता था और बात करने को थी भी क्या? मंजु बार-बार

सोचती थी 'गिरिजा फिर भी अपना है···किन्तु उसके निकट भी हाथ किस प्रकार पसारा जा सकता है किन्तु हाथ पसारना ही क्यों पड़ेगा वह तो यूँ ही सब कुछ करने को तैयार है···पर भइया···भइया···उसका एक पैसा तक लेने को तैयार होंगे क्या···ठीक ही तो है···वह नीच है, सफेदपोश कमीना है···ढोंगी है···पाखण्डी है···सोचते-सोचते मंजु का मन न जाने क्यों मचल उठता है। वह यह नहीं सोचना चाहती कि गिरिजा बुरा है किन्तु बुरा तो है ही···न···न···मंजु उससे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखेगी···और वह मंजु का है ही कौन···मंजु ने सोचा ऐसे समय यदि मृदुला कहीं यहाँ आ जाती···किन्तु मृदुला का तो कोई समाचार ही नहीं है···शायद उसकी शादी हो गई है···शायद वह अपनी ससुराल चली गई है···शायद···शायद उसी दिन सुवीरा कह रही थी कि उसकी शादी कहीं किसी राजा के साथ तय हो रही है···तो मृदुला रानी बनेगी···रानी बनने के योग्य तो वह है ही···मृदुला यूँ भी तो रानी ही है···उसे कौन कमी है किन्तु मुझे क्या···सुख और दुःख दोनों को ही परे ठेलकर मुझे तो अपना मार्ग बनाना ही है किन्तु कितना कठिन कार्य है यह···दुरूह···नहीं···नहीं···यह तो हमारी परीक्षा है··· जीवन की परीक्षा है···इसमें तो उत्तीर्ण होना ही होगा···कौन जानता है कि उत्तीर्ण कौन होगा ··अरुण भइया, अथवा गिरिजा···किन्तु मुझे क्या ? क्यों नहीं, मुझे भी तो जानना चाहिये कि मार्ग कौन-सा है किन्तु जानकर भी क्या करूँगी···चलना तो उसी मार्ग पर होगा जिस पर चल रही हूँ।

२५

प्राप्ति का दम्भ पुरुष की सम्पत्ति है किन्तु आत्मसमर्पण का चाव नारी की पूँजी है। पुरुष विजय प्राप्त करता है, नारी विजित होती है।

पुरुष का विजय-दम्भ उसे आत्मगौरव से भर कर सिर उठाकर चलने को बाध्य करता है—नारी का आत्मसमर्पण द्वारा प्राप्त किया हुआ अधिकार पुरुष के उस अकारण विजय-दम्भ पर मन ही मन मुस्कराता हुआ भी उसे तरह दिये जाता है। प्राप्ति से पूर्व पुरुष की चाटुकारिता नारी को सहज, स्वाभाविक और अत्यधिक कर्णप्रिय भले ही जान पड़े किन्तु वह एकबारगी आँखें मूँद कर केवल उसी पर विश्वास किये हुए जीवन-नौका की पतवार नाविक को पकड़ा देती हो सो बात नहीं है। भले ही वह नाप-जोखकर, तौल-तालकर गुरुजनों की भाँति हिसाब-किताब करके प्राप्य बनने का निश्चय करती हो किन्तु एकबारगी असंचित कर आकर्षण और अविजित को विजय कर ही डालना उसका स्वभाव नहीं है किन्तु विधि-विधान जब खेल ही खेल में क्यों न हो किसी अपरिचित अनजाने को उसके हृदय के निकट सुपरिचित चिर जाने के रूप में प्रकट कर ही देता है तो वह विजयी हो अथवा विजित, प्राप्ति कर पाये अथवा केवल समर्पित ही हो सके···बँधी ही रहना चाहती है···प्राप्ति के पश्चात् जहाँ पुरुष का आकर्षण घट जाता है···प्राप्य के प्रति लापरवाही···ममत्व के साथ आ जाती है वहीं नारी प्राप्य हो अथवा प्राप्तिकर्ता स्वयं उसके साथ जकड़ी रहना ही चाहती है। पुरुष नीड़ बनाना चाहता है, बनाना जानता है किन्तु बसाना नहीं···नारी नीड़ बनाने के लिये आगे नहीं बढ़ पाती, बनाने के लिये भले ही परमुखापेक्षी रहती हो किन्तु बसाना चाहती है, बसाना जानती है···उसी को जकड़ कर रखना चाहती है और स्वयं भी जकड़ी रहना जानती है। मृदुला सहजप्राप्य नहीं है यह बात कुँवर साहब खूब समझते थे। मिनिस्टर की लाडली पुत्री, जाति-भेद, वर्ग-भेद सभी को लाँघ-फाँदकर उसे प्राप्त करना सहज नहीं था, फिर वह हर प्रकार से उन सबसे भिन्न भी थी जिन्हें कुँवर सदा सर्वदा ही अपनी एक मुस्कान पर अथवा अपने बैंक बैलन्स पर आज तक प्राप्त करते रहे। वह बन्धन नहीं मानते, बन्धन नहीं चाहते···उन्हें बर्टी, ऐनी, शीला, नीला कोई भी

तो बाँध नहीं सकी ··किन्तु आकर्षण भी तो नहीं घना होता है जहाँ प्राप्ति कठिन हो···ज्यों-ज्यों दिन बीतते जा रहे थे कुँवर का मृदुला के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था···इसे प्राप्त करना ही होगा···मृदुला के माता-पिता धनी हैं, प्रभावशाली हैं···यूँ आधुनिक विचारों के भी हैं फिर भी मृदुला न जाने क्यों अपने सहज सुन्दर शरीर के चारों ओर एक अनजाना, अनदेखा, विचित्र-सा आवरण हर समय लपेटे रहती है। वह टैनिस खेलती है और खूब खेलती है। कुँवर के साथ खेलना उसे अच्छा लगता है किन्तु डान्स सीखने को किसी प्रकार भी तैयार नहीं होती···कुँवर को हर रोज शाम को बुलाती है, साग्रह बुलाती है। कुँवर की तीखी दृष्टि से उसकी प्रतीक्षा की आकुलता और पहुँचने पर इच्छापूर्ति की चमक दोनों ही छिपी नहीं रहतीं। शायद वह छिपाना भी चाहती है या छिपाना जानती ही नहीं है, किन्तु कुँवर के नियन्त्रण पर ही सिवाय नव वर्ष की उस रात के और उसके साथ कहीं जाना भी नहीं चाहती है। विचित्र है यह मृदुला भी···फिर भी इसे प्राप्त करना ही होगा···इसी में हर प्रकार का लाभ है···यूँ बन्धन···अरे कैसा बन्धन···किसका बन्धन···कुँवर खिलखिला कर हँस दिया···उसे स्वयं अपने पागलपन पर हँसी आ रही थी। ठीक उसी समय लान में बैठी प्रतीक्षा करती हुई मृदुला सोच रही थी कितने सहृदय हैं कुँवर···कितने सुसंस्कृत···कितनी सौभाग्यवती होगी वह नारी जो इन्हें मन-प्राण से प्राप्त कर सकेगी·· नहीं···इनकी हो सकेगी···किन्तु उतना बड़ा सौभाग्य किसका होगा···जाने दो मुझे क्या···मुझसे क्या मतलब···कहीं कोई मन में पुकार उठा···क्या मतलब होने से ही कुछ सोचा जाता है या सोचा जा सकता है···मन क्या बुद्धि से पूँछपाँछ कर, नाप-जोख कर ही सब काम करता है···किन्तु···किन्तु···कहीं कुँवर···नहीं नहीं वह बड़े ही भले हैं, बड़े ही सरल चित्त हैं, बड़े ही सज्जन हैं···इसी समय कार के हार्न ने मृदुला को चौंका दिया। उसका मुख खिल उठा, मन भी खिल उठा···कन्वेर्टबिल डॉज का यह हार्न उसका सुपरिचित था···और कुछ

ही क्षण बाद लॉन में कुँवर का सुन्दर शरीर बढ़िया सिले हुए चाकलेट रङ्ग के सूट में उसे अपनी ओर आता हुआ ही दिखाई दिया। आनंदातिरेक में मृदुला ने एक क्षण के लिये नेत्र बन्द कर लिये···कुँवर ने पास आकर मोहनी मुस्कान सहित कहा—'हैलो, मृदुला जी ···अभी तो पाँच भी नहीं बजे हैं···'

'तो आपके लेट होने की शिकायत भी किसने की है?'

'किसी एक के मन ने किसी दूसरे के मन से की है।'

'आप को तो स्वप्न आते हैं।'

'काश कि ऐसे स्वप्न आते ही रहें···रोज़ आता है मेरे दिल को तसल्ली देने, तुझसे तो दुश्मन जाँ तेरा ख्याल अच्छा है।'

'तब फिर उसी ख्याल को लेकर ही रहा करें न।'

'नहीं रहता हूँ यह आप कैसे जान सकती हैं।'

'आप शायद भूल गये कि मैं आपसे छोटी हूँ और आपकी शिष्या भी हूँ।'

'ठीक, ठीक लेकिन भूला नहीं था मृदुला हिम्मत नहीं पड़ती है···पर शिष्या होकर तो तुम्हें गुरु दक्षिणा भी देना होगा···'

'वह देखा जायेगा', प्रकट रूप से कहकर मृदुला ने मन ही मन कहा—'मेरे निकट तुम्हें अदेय है ही क्या?' कुँवर मन की मूक भाषा को भी कुछ-कुछ समझ गया। कुर्सी लेकर वह निकट ही बैठ गया।

'मृदुला। आज टैनिस खेलने को जी नहीं चाहता। चलो आज एक पिक्चर देखी जाये। 'मी एण्ड दी कर्नल' लगी है। अच्छी पिक्चर है। न हो, 'रोमियो एण्ड जूलियट' चला जाये, वह भी अच्छी है।'

मृदुला को इंगलिश पिक्चर कभी पसन्द नहीं आती। यूँ भी वह सिनेमा की बहुत शौकीन नहीं है किन्तु कुँवर के साथ बैठकर सिनेमा देखना···तीन घंटे का साथ···पिक्चर के दृश्य···उनकी कुँवर के मुख से

लुभावनी आलोचना···उनका सामीप्य···मन ही मन मृदुला ने कहा—'इससे अच्छा प्रोग्राम और हो भी क्या सकता है ?' किंतु कह गई, 'माँ घर पर नहीं हैं ··भाभी भी नहीं हैं। इस समय तो मैं नहीं जा सकूँगी···आप भी जाने दीजिये। पिक्चर में क्या रखा है ? मन नहीं है तो न चलिये यूँ ही बैठे बातचीत करेंगे। आप का मन तो नहीं ऊब जायेगा।'

'क्या कहती हो मृदुला ? तुम कहो तो जीवन भर यूँ ही बैठा तुमसे बातें करता रहूँ·····'

'जी हाँ खाना, पीना, नहाना, घूमना-फिरना सब कुछ छोड़कर आप यूँ ही बैठे चौबीसों घंटे जीवन भर मुझसे बातें करते रहेंगे।' मृदुला ने कुछ अविश्वास के-से स्वर में कहा। कुछ अधिक सुन पाने की इच्छा का आकर्षण भी प्रबल था। कुँवर से वह आग्रह, वह आकर्षण भी छिपा नहीं रहा। वह मन ही मन हँसा किन्तु प्रकट में कहा—'परीक्षा कर देखो न। सेवक हाजिर है। कमी एक क्षण की भी छुट्टी माँगूँ तो कहना···' वह अर्थ-पूर्ण दृष्टि से मृदुला की ओर देख रहा था। मृदुला को जान पड़ा कि कुँवर की तीखी दृष्टि उसके अन्तर तक पैठ कर उसे नग्न, सम्पूर्ण रूप से नग्न, एकबारगी नग्न किये डाल रही है·····वह कुछ लज्जित हो गई। उसका अन्तर एकबारगी आन्दोलित हो उठा·····उसे एक हल्की-सी फुरहरी आई···उसका शरीर तनिक-सा काँप गया·····उसे जान पड़ा कि वह उस मोहक दृष्टि को अधिक देर तक नहीं सह सकेगी·····कुँवर को मृदुला के मन की दुर्बलता अच्छी लगी···उसने पहली बार धीरे से मृदुला के दाहिने हाथ को अपनी दोनों कोमल हथेलियों के भीतर लेते हुए कहा—'मृदुला काश कि तुम मुझे पहचान पातीं।' अप्रत्याशित किन्तु बिजली के करेन्ट की तरह समस्त शरीर को झनझना देने वाली···तीव्र किन्तु भली लगने वाली फुरहरी मृदुला के बदन भर में दौड़ गई·····उसने मन ही मन कहा—

'पहचानती हूँ तुम्हें देव···मेरे जन्म-जन्म के आराध्य···तुम्हें न

पहचानूँगी···' किन्तु कण्ठ में वाणी थी ही कहाँ···चाह कर भी मृदुला अपना हाथ कुँवर के हाथों से निकाल न सकी। कुँवर उसके हाथ को धीरे-धीरे थपथपा रहे थे···और मृदुला अभिभूत हुई जा रही थी···कुँवर कह रहे थे—'मृदुला, विश्वास करोगी जिस दिन तुम्हें पहले पहल देखा था उसी दिन जान पड़ा कि तुम बरबस मुझ पर अधिकार किये ले रही हो।' मृदुला को एक अक्षर भी सुनाई नहीं दे रहा था। उसे जान पड़ता था कि वह आकाश में उड़ी जा रही है। कुँवर के मन में एक क्षण के लिए नीला, शीला, बर्टी, मीना, दीप्ति, ऐथल और न जाने किन-किन की स्मृति उदय हो आई और उसे जान पड़ा कि मिथ्या है···यह सब मिथ्या है किन्तु जीतना तो होगा ही···आकर्षण प्रबल है···प्राप्ति का प्रलोभन, प्राप्ति का दम्भ पुरुष सहज ही छोड़ नहीं पाता···नारी पाकर खो जाती है किन्तु पुरुष पाकर भर जाता है, पूर्ण हो जाता है···मृदुला का जी चाहा कि अनन्त काल तक वह इसी प्रकार उसका हाथ अपने हाथ में लिए बैठा रहे···किन्तु वैसा होना क्या सम्भव है···फाटक के भीतर से आती हुई एक दूसरी कार ने दोनों को स्वप्न-जगत से पृथ्वी के कठोर धरातल पर ला खड़ा किया। मृदुला ने चौंककर अपना हाथ खींचना चाहा किन्तु कुँवर ने उसे धीरे से मृदुला की गोद में रख दिया। मृदुला को अपने हाथ पर अब भी कुँवर के कोमल हाथ के स्पर्श का अनुभव हो रहा था। उसकी इच्छा हुई कि अपने एकान्त कमरे में जाकर पूरी स्थिति पर विचार कर सके किन्तु उसी समय खिलखिलाती हुई भाभी लॉन की ओर आती दिखाई दीं।

२६

'जीवन में यदि कभी वैसा अवसर आया तो तुम्हारे ही निकट आऊँगी। इतना विश्वास रखो।'

'विश्वास तो करना चाहता हूँ किन्तु विश्वास होता नहीं।'

'तब जाने दो। मन सहज ही जहाँ स्वीकृति न दे सके किसी भी बहाने से उसे बरबस हृदयंगम करना कठिन होता है, यह मैं जानती हूँ।'

गिरिजा को आश्चर्य हो रहा था कि कल तक जो नन्हीं मुनियाँ थी आज अचानक ही वह कैसे और कहाँ से बुद्धिमती, गम्भीर और विचार-शील बन बैठी। पिछले कुछ दिन इस घर में सभी ने अत्यन्त कष्ट में बिताये थे। माँ की अवस्था बहुत ही बिगड़ गई थी। न बोल पाती थीं और न किसी को पहचान ही पाती थीं। अत्यधिक कष्ट से कराहती हुई उनकी स्वरलहरी भी मानों अटक-अटक जाती थी ··घर की प्रायः सभी मूल्यवान वस्तुएँ बिक चुकी थीं···न धन था और न सुविधा···भीतर-ही-भीतर हर प्रकार के अभाव से पीड़ित मंजु और अरुण ने कितने बड़े हृदय-भार को सह कर गिरिजा को पिछले दो दिनों में माँ का भार अनकहे बरबस ही अपने ऊपर ले लेने दिया। यह भगवान के सिवाय और कोई जान भी नहीं पाया किन्तु माँ को न बचना था और न बचीं। घर बेच कर किसी तरह आँसुओं के बीच क्रिया-कर्म हो गया। अन्त में घर छोड़ने से पूर्व मंजु ने शेष पूँजी में से जब कुछ रुपये गिरिजा के सम्मुख रखे तो गिरिजा की आँखें भर आईं···उसने जीवन में बहुत से मीठे-कड़ुवे अनुभव किये थे। अनाथ विधवा, निरुपाय स्त्री के विरुद्ध मुकदमा लड़ने वाले उसके धनी, सशक्त जेठ की सहायता की थी···गरीब मजदूरों के प्रॉवीडेण्ट फण्ड का रुपया खा जाने वाले सेठ की जेल-यात्रा मिनिस्टर से कह-सुनकर स्थगित करा दी थी···उसकी आँखों में किसी दिन भी पानी नहीं आया था। वह सब दिन यही कहता रहता था कि भगवान की सृष्टि है वही उसका भार लें; मुझे न्याय-अन्याय से क्या, मैं तो अपना जीवन सुख-सुविधाओं के बीच ही बिता कर जाऊँगा···किन्तु कैसी है यह मंजुला अभावों के बीच भी रुपया जैसे इसके निकट कुछ मूल्य ही नहीं रखता है···फिर मैं क्या इतना गैर हूँ···मैंने इससे कब कुछ माँगा है···उसने ऐसी महिलाएँ भी देखी थीं

जो कि पार्टी के चुनाव में टिकट पाने के लिये ही उसकी देहरी पर दसियों बार माथा रगड़ती थीं···उसने उन स्त्रियों को भी देखा था जो कि एक सौ बीस रुपये की नौकरी पाने के लिये रात-दिन उसका खाना पीना हराम कर देती थीं···उसने उन नारियों को भी देखा था जो कि पति, पुत्र अथवा किसी अन्य प्रियजन को सरकारी हस्पताल में स्थान पा लेने के लिये कुछ भी करने को तत्पर हो जाती हैं···गिरिजा ने माँ को नहीं देखा था, बहिन को नहीं जाना था···नारी से उसका निकट का परिचय उतना घनिष्ठ नहीं था। वह उस संसार में रहता था जहाँ कि स्त्रियाँ भी पुरुषों से कुछ कम संख्या में नहीं दिखाई देती हैं किन्तु उसने नारी के उसी स्वरूप का परिचय पाया था जो कि कुछ चाहती हैं···सिफारिश, सहायता, धन, सहारा··· आदि···आदि···न जाने कैसे गिरिजा ने अपने मन में यह धारणा ही बना ली थी कि नारी किसी-न-किसी प्रकार से चाहती ही है···माँगती ही है···उसे देना ही चाहिये···वही ठीक भी है किन्तु कैसी है यह विचित्र नारी···यह नन्हीं-सी मंजुला···यह लेती नहीं···लेना चाहती भी नहीं···घसीटती नहीं···घसीटना चाहती भी नहीं फिर भी कितनी मीठी है इसकी दृष्टि··· किन्तु कितना निर्मल है इसका मन···यह अपनाती नहीं···स्वीकारती भी नहीं···अत्यधिक पास पहुँच जाने पर भी बरबस हाथ से ठेल-ढकेल कर कब परे कर देती है सो जान भी नहीं पड़ता···प्रयत्नों से जिस दूरी को किसी-न-किसी प्रकार कुछ कम किया जाता है, यह क्षण मात्र में उन सब प्रयत्नों को झाड़-पोंछ कर व्यर्थ कर देती है। गिरिजा को जान पड़ा कि उसका समस्त व्यवहार ज्ञान का दम्भ मिथ्या है···अकारण है···व्यर्थ है··· गिरिजा ने अत्यन्त दीनताभरे स्वर में कहा—'यह क्या करती हो मंजु?' स्वर ने शब्दों से कहीं अधिक कह डाला था···अनेकानेक शब्द भी तो वह कह नहीं पाते। मंजु का जी चाहा कि वह चीख-चीखकर रो पड़े···उसे जान पड़ा कि वह थक गई है, मन प्राण से थक गई है···उसका जी चाहा कि वह अपनी व्यथा का भार इस एक मात्र आत्मीय निज जन, बाल-सखा

के चरणों पर समर्पित करके हलकी हो जाये···एकबारगी मुक्त हो जाये··· तभी उसे जान पड़ा कि एक किशोरी···स्कूल के लॉन में लेटी अपनी सखी से कह रही है—'संघर्षों में पड़कर हट जाना कायरता है। संघर्षों के बीच भी जो सिर उठा कर चल पाते हैं वही श्रद्धेय है···दुःख और सुख दोनों को ही नगण्य करके दोनों के ठीक बीचोबीच जो अपना मार्ग बनाना जानते हैं वही···मनुष्य हैं···' वह सम्भल गई···उसने दृढ़ स्वर से कहा---'तुमसे हाथ फैलाकर लेने में भी मुझे लज्जा नहीं आयेगी गिरिजा भाई। तुम तो मेरे बाल-सखा हो···आज अतीत के सभी अपनत्व से अलग होते हुए भी मुझे यह स्वीकार करने में कहीं कोई बाधा नहीं है कि इस इतने बड़े विश्व में तुम्हीं हमारे एकमात्र बन्धु हो किन्तु···अभी नहीं···जीवन में यदि कभी वैसा अवसर आया तो तुम्हारे ही निकट आऊँगी। इतना विश्वास रखो।' स्वर की दृढ़ता से गिरिजा का अन्तर काँप उठा···जीवन में उसने बहुत से ऐसे भी काम किये थे जिन्हें नाप-जोखकर, तोल-ताल कर, ठीक-ठीक चलने के अभ्यस्त व्यक्ति पाप कहते हैं, सामाजिक अपराध मानते हैं किन्तु उसका अन्तर कभी काँपा नहीं था···उसके प्राण कभी व्याकुल हो उठे हों ऐसा तो नहीं हुआ था किन्तु आज उसने मानों मन ही-मन कहा—'तुम नहीं आओगी···कभी नहीं आओगी। मंजु तुम कभी नहीं आओगी विश्व भर का कोई भी प्रलोभन तुम्हें मेरे निकट नहीं ला सकेगा ··यह मुझसे अधिक और कौन जानता है···जी चाहता है कि बर-बस तुम्हें रोक लूँ···स्नेह में बाँध कर सदा सर्वदा के लिये कैद कर लूँ किन्तु किस बल पर वैसा करूँ ··मुझमें आत्मबल नहीं है···कोई गुण नहीं है···कोई शक्ति नहीं है···मैं···वैसा नहीं कर पाऊँगा ··कभी भी नहीं कर पाऊँगा···काश कि कर पाता···गिरिजा ने तो इधर यह मान ही लिया था कि भाग्य ने उसे भरपूर अवसर दे डाला है किन्तु आज उसे जान पड़ा कि सब कुछ पाकर भी वह इस साधारण-सी लड़की के निकट कहीं छोटा है···कहीं नगण्य है···कहीं अमान्य है···मिनिस्टर तक उसकी शक्ति से

डरते हैं किन्तु डर का वह क्या करेगा···मंजु ··मंजु·· नहीं···नहीं···मंजु उस धातु की बनी है जिसे गिरिजा अपनी समस्त सत्ता, धनबल, प्रसिद्धि और लोकप्रियता से भी जीत नहीं पायेगा···वह जीतना तो चाहता भी नहीं है···अपनाया भी नहीं जायेगा···मंजु उसके मार्ग पर पैर नहीं देगी··· उसका···विश्व···मंजु के लिये कभी भी ग्राह्य नहीं है···किन्तु वह करे भी क्या···अब पीछे लौटने का भी तो मार्ग नहीं है···आगे बढ़ना कठिन है किन्तु सम्भव तो है···पर एक बार आगे बढ़ कर पीछे लौटना तो कठिन ही नहीं असम्भव है···गिरिजा आज जहाँ खड़ा है वहाँ से लौटकर कहाँ जायेगा···उसे कौन पूछेगा···वह झूठ बोलता है किन्तु वह राजनीतिज्ञ है···वह छल-फरेब भी कर लेता है किन्तु वह जीवन में सफल है···वह न्याय अन्याय की चिन्ता ही नहीं करता किन्तु वह धनी तो है···नहीं··· नहीं···उसमें पीछे लौटने का साहस नहीं है···महात्मा गाँधी की शिक्षा किन्तु उनका सा आत्मबल, वैसी मानसिक शक्ति, वैसी कष्ट सहन की क्षमता···न···न, वह सब नहीं होगा···महात्मा गाँधी का नाम, बापू का नाम मेरा है किन्तु उनकी त्याग की शिक्षा उनका बलिदान का जीवन कठिन है···कठिन है···बहुत कठिन है···लेकिन जीवन में क्या यह सब सम्भव है यह तो आदर्श की बातें हैं···जीवन, आदर्श, व्यवहार···सहज सुख···देश का भविष्य···जाने दो···एक दिन मंजु को···अरुण को भी अपने काल्पनिक लोक से कठोर धरती पर आना ही पड़ेगा और तब···तब यही गिरिजा उनका सम्बल होगा···गिरिजा सोचता ही रहा···मंजु न जाने कब वहाँ से चली गई गिरिजा को जान भी न पड़ा।

२७

'रहे देओ बिटिया ! अब्बी हम सब कर लेब।'

'सो तो आप लोग करेंगे ही कुछ मुझे भी करने दें।'

मंजु और अरुण दोनों ही एक-एक गठरी लेकर एक दिन इस छोटे से गरीबों के गाँव में आ बसे। गाँव छोटा था। अधिकांश वासी अछूत और जुलाहे थे। रेल के छोटे से स्टेशन से आठ मील पैदल चल कर पहुँच पाने वाले इस छोटे से गाँव में अभी तक बीसवीं शताब्दी का प्रकाश बहुत कम पहुँच पाया था। वर्षों पूर्व पिछले चुनाव के अवसर पर जीप पर चढ़कर कुछ सफेदपोश यहाँ आये थे···उन्होंने गाँव वालों को बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें बताई थीं। यह भी कहा था कि अमुक दिन कसबे में जाकर दो बैलों की जोड़ी वाले बक्स में वोट डाल देना। गाँव वाले किसी भी प्रकार इस बात को समझ नहीं पाये थे फिर उन्होंने कहा था कि गाँधी महात्मा का वही बक्सा है उसमें पर्चा डालने से गेहूँ की पैदावार अच्छी होगी। चमार, भंगियों को मन्दिर में जाने मिलेगा? अछूतों के बच्चे स्कूलों में भेजे जायेंगे और फिर उन्हें बड़ी अच्छी सरकारी नौकरियाँ शहरों में मिलेंगी। यह भी कहा था कि गाँव में सरकारी हस्पताल खुलेगा। दवा-पानी मुफ्त ही मिलेगा। गाँव वाले खुशी-खुशी उस दिन की तैयारी कर ही रहे थे कि एक और जीप में एक दिन कुछ और लोग आ धमके। इनकी वेश-भूषा भी पहले लोगों के ही समान थी। गाँव वाले खुश हो गये। कल्लू की झोपड़ी के सामने खाट डाल कर उन्हें बैठाया गया तथा उनसे पूछताँछ कर कुछ शरबत पानी का भी प्रबन्ध किया गया। उन्हें खुशी-खुशी बताया भी गया कि वह अमुक दिन कसबे में जाकर महात्मा गाँधी के दो बैलों की जोड़ी वाले बक्से में पर्चा डालेंगे। सुनते ही वह लोग तड़प उठे। उन्होंने इन्हें बताया कि दो बैलों की जोड़ी वाला बक्सा महात्मा गाँधी का नहीं है। वह तो चोर और ठगों का है। महात्मा गाँधी का बक्सा तो झोपड़ी वाला है। झोपड़ी ही गरीबों की चीज है। उन्हें पर्ची झोपड़ी वाले बक्से में डालनी चाहिये। इससे उन लोगों की भलाई होगी। गाँव में मीठे पानी का कुँआ खुदेगा, रेल निकलेगी, पक्की सड़क बनेगी और जुलाहों को कपड़े की बुनाई अच्छी मिलेगी, अमीर गरीब हो जायेंगे

और गरीब अमीर बना दिये जायेंगे। फिर वह लोग भी चले गये। गाँव वाले चकरा गये। दोनों ही बड़े आदमी जान पड़ते थे···दोनों ही भले लोग थे नहीं तो भला कौन सफेदपोश उन जैसे लोगों से बात करता है। बानी भी कितनी मीठी थी···मनोहर मुँह में शहद भरा हो···दोनों ही हमारी भलाई के लिये जान दिये दे रहे हैं किन्तु महात्मा गाँधी का बक्सा कौन-सा है···दो बैलों की जोड़ी वाला या झोपड़ी वाला···यूँ वह महात्मा हैं···भगवान के अवतार हैं कौन जाने कौन से बक्से में हों···इसी पशो-पेश में पड़े हुए गाँव वालों ने एक दिन कुछ लोगों को पैदल गाँव में आते देखा···इनके भी कपड़े पहले दोनों आने वालों की तरह ही सफेद और स्वच्छ खादी के थे किन्तु इनमें से कइयों के बाल लम्बे-लम्बे थे और सिर पर लाल टोपियाँ थीं···गाँव वालों ने समझा कि यह स्वाँग या लीला दिखाने आये हैं···आठ-दस वर्ष पहले कुछ लोग लीला दिखाने आये थे पर उनकी वेशभूषा भिन्न थी और उनका साज-सामान भी और था···इनका भी आगत-स्वागत हुआ इन्होंने कहा कि पहले दोनों झूठे हैं, पाजी हैं···वे दोनों गरीब के दुश्मन हैं और अमीरों के साथी हैं। छल से गाँव वालों को धोखा देने आये हैं। महात्मा गाँधी का बक्सा दोनों में से किसी का नहीं है। महात्मा गाँधी तो गरीबों के साथी हैं उनका बक्सा हँसिया और गेहूँ की बाली वाला है। उसमें पर्ची डालने से अमीर सब मिट जायेंगे। गरीबों का राज्य होगा। सब को रोटी, कपड़ा, काम मिलेगा··· सबको शहर में रहने को मिलेगा और कोई दुखी नहीं रह जायेगा। गाँव वाले आश्चर्यचकित रह गये। वह भी चले गये। गाँव वालों के निकट विचित्र समस्या थी···किसे सच माने किसे झूठ···कौन से बक्से में पर्ची डालें और कौन से में न डालें···कौन हमारा भला करेगा और कौन धोखा देगा··· बहुत दिन सोच-विचार में ही कट गये···दो एक और लोग भी आये··· कोई गंगा जल लेकर कसम खिलाना चाहते थे और कोई मिठाई और फल बाँट गये···एक राजा साहब ने तो गाँव की सड़क पक्की कराने का वायदा

किया किन्तु गाँव वालों की बुद्धि कुछ काम ही नहीं कर रही थी। भव्य-मूर्ति राजा साहब का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था···थोड़ी ही दूर पर उनकी शक्कर मिल भी थी जिनके कुछ मजदूर इस गाँव के भी थे···उन्होंने राजा साहब की खूब बड़ाई करके गाँव वालों को दीपक वाले बक्स में पर्ची डालने की सलाह दी···यह भी कहा कि राजा साहब गाँव में एक मन्दिर भी बनवा देंगे जहाँ अछूत भी भगवान की पूजा कर सकेंगे और जीत जाने पर सबको एक-एक धोती भी देंगे···गाँव वालों की बुद्धि मारी गई। इसी सोचा-विचारी में कब और कैसे वह दिन आया भी और निकल भी गया किसी को ध्यान भी नहीं रहा···उसके बाद फिर कभी कोई नहीं आया···गरीब गरीब ही रहे···न स्कूल खुला और न अस्पताल, न कुँआ खुदा और न पक्की सड़क बनी···कुछ भी न हुआ और कभी-कभी गाँव की चौपाल में बैठ कर कुछ वयोवृद्ध व्यक्ति उन सब को याद करके बातों का सिलसिला जमा लिया करते थे···सोच-समझ कर कभी-कभी यह भी कह बैठते थे···'भाई कौन जाने कौन लोग रहे···गरीब मनई कभी अमीर हुआ है।' 'जईस रामजी की मरजी तईस ही तो रहना परी', 'करमन का फल कौन मेट सकता है!' और बातचीत का अन्त हो जाता···प्रायः अधिकांश गाँव वाले तो उन दिनों को और उस विचित्र घटना को भूल भी चुके थे। जुलाहे कभी-कभी नया वस्त्र बनाकर बेचने जब नगर जाते थे तो वहाँ से लौट कर सुना देते थे कि काँगरेस का राज हुई गवा···हम पंचन ने वोट नाहीं दिये मुला हमका का मिली···जो दिये होते तो कछू मिलत नाहीं का···और बात फिर समाप्त हो जाती···पास के कसबे में कुछ सजी-सँवरी जीप पर चढ़ कर औरतें आती हैं। उन्होंने वहाँ एक स्कूल भी खोला है···कुछ बच्चन को गाना-बजाना भी सिखाती हैं···और बस गाँव वाले यह सूचनाएँ पाकर सोच लेते हैं कि उनसे गलती हुई। उन्हें पर्ची डालने जाना चाहिये था।

इसी समय एक दिन साँझ परे एक सुन्दर-सी लड़की और एक

लड़का भली-भली-सी सूरत, साफ-साफ से कपड़े पहने दो गठरियाँ लिये पाँव पैदल गाँव में चले आये।

गाँव वालों की आँखें अचरज से फटी-फटी-सी रह गईं। गाँव के सबसे बुद्धिमान पुरुष ने इनसे पूछा कि यह किसे पर्ची डलवाने आये हैं। थोड़ी देर को दोनों ही अचकचा गये। बात समझ भी नहीं पाये। इसी समय जगन ने आगे बढ़ कर कहा—'अरे बाबू! आप यहाँ कैसे?' जगन शक्कर मिल में काम करता है। इसका परिवार यहीं रहता है इससे कभी-कभी मिलने आ जाता है। पिछले छः महीने से वह बीड़ी की जगह सिगरट पीता है। बाबू को उसने कभी-कभी मिल में आते देखा है। मजदूरों से बातें भी करते पाया है। यद्यपि उसने स्वयं कभी भी बाबू से बात नहीं की थी फिर भी इस समय गाँव वालों पर अपनी बुद्धिमत्ता एवं अपने परिचय की विशदता का सिक्का जमाना आवश्यक था।

'यहीं रहने आया हूँ भाई।'

'अरे बाबू! आप यहाँ रहेंगे?' उसकी आँखें आश्चर्य से फटी-फटी रह गईं। क्षण भर चुप रहकर उसने अपने पास ही खड़े एक वृद्ध से कहा—'देखते क्या हो तुलसा। बाहर जल्दी से खाट डाल दो। तुम्हारे भाग खुल गये। इतने बड़े आदमी तुम्हारे द्वारे खड़े हैं।' और फिर कुछ सोच कर युवक को बोलने का अवसर ही न देते हुए उसने जोड़ दिया—'सरकार ने हमारी भलाई करने के लिये भेजा है। इसी से शहर का अपना महल छोड़ कर गाँव में बसने आये हैं?' दुःख में भी युवती मुस्करा दी। युवक और युवती ने एक-दूसरे की ओर देखा। अब जगन की दृष्टि स्त्री की ओर गई। साक्षात लक्ष्मी की प्रतिमा है।

जगन का हृदय श्रद्धा से भर उठा। उसने शहराती भाषा में कहा—'देवी जी! आप अन्दर चलें।' युवती पोटली वहीं रख कर जगन के साथ भीतर जाने को ज्यों ही बढ़ी कि उसने देखा गाँव भर की स्त्रियाँ वहीं एकत्रित हो गई थीं···और आश्चर्य से चकित नेत्रों से उसी की ओर

टकटकी बाँधे देख रही थीं। युवती ने स्वयं आगे बढ़ कर एक छोटे से बच्चे से सटी हुई खड़ी युवती से कहा—'बहिन! बहुत प्यास लगी है थोड़ा पानी पिलाओ।'

स्वस्थ सलोनी युवती कुछ चतुर भी थी और मुखरा भी। उसने तनिक हँसकर कहा—'कौन ठाकुर हो?' प्रश्नकर्त्री का जी चाहा कि हँसकर कह दे 'मानव' किन्तु जगन ने तुरन्त कहा—'वे विचार करतीं तो भौजी तुमसे आपन जात पूछती। जा ले जा, तनी सरबत-उरबत पिला!'

अचानक परिचय की उग्रता कम होने पर नवागन्तुकों को गाँव के दक्षिण ओर पड़ी एक टूटी-फूटी झोपड़ी मिल गई। इस झोपड़ी का एक मात्र स्वामी कुछ वर्ष पूर्व नौकरी करने शहर चला गया और तब से उसकी कोई खोज-खबर ही नहीं मिली। झोपड़ी तब से खाली ही पड़ी थी। झाड़-पोंछकर उसे रहने योग्य कर दिया गया। दो फटी-पुरानी किन्तु गाँव में सबसे अच्छी चटाइयाँ भी मिल गईं। तीसरे दिन चूल्हे के सम्मुख बैठकर स्त्री ने कहा—'अरुण भैया। नया जीवन कुछ रुचा?'

'मंजु! मैं तो इन लोगों से अपरिचित नहीं हूँ। तेरी ओर से तनिक भय लगता है।'

'भैया! तुम मेरी ओर से निश्चिन्त रहो। जब इस रास्ते पर चली हूँ तो लौटूँगी नहीं और लौटकर जाऊँगी भी कहाँ···'

'क्यों? तू सुशिक्षिता है···एम० ए० पास है···'

'वह सब भूल जाओ भइया। एक दिन मैंने भी सोचा था कि एम० ए० पास हूँ। ईमानदारी, सचाई और नेकी से जीविकोपार्जन मेरे लिए कठिन न होगा किन्तु वह मार्ग तो देख लिया···आत्म-सम्मान रखते हुए जाने दो···उसकी क्या चर्चा···आज तो हम इस छोटे से गाँव के रहने वाले हैं···' 'मंजु! गाँव स्वर्ग नहीं होते···गाँवों को ही सुख का स्थान समझ कर धोखा न खा जाना···'

'सो मैं जानती हूँ भइया ! इन तीन दिनों में जितना सीखा है उतना शायद जीवन भर में नहीं सीख पाई। पुस्तकों में पढ़ा था ग्रामीण अत्यन्त सरल, सज्जन और सीधे होते हैं पर ठीक-ठीक बात वैसी नहीं है फिर भी हमें इन सबसे क्या ? उसने सौ रुपये की नौकरी करके आत्म-विक्रय का मजा भी ले लिया अब स्वेच्छा से विद्यादान, श्रमदान करके भी देखें क्या होता है·····'

बात काटकर अरुण ने कहा—'नहीं मंजु ! दान की बात नहीं करनी चाहिये। दान करने से ही एक प्रकार का यह मन प्राण को भर देता है। हमने स्वेच्छा से इस गाँव को अपनाया है। यह हमारा है, इसे अपने ढंग से सजाना, इसकी सेवा करना हमारा धर्म है।'

'सो ही तो।' कहकर मंजु एक ठण्डी साँस छाती के भीतर ही भीतर दबा गई। अरुण की तीक्ष्ण दृष्टि ने इसे देखकर भी न देखा। कठिनाइयों की कमी नहीं है। एक युवती सुन्दरी नारी इस देश में कभी और कहीं भी किसी स्वस्थ, सुन्दर, पुरुष को भले ही वह उसका सगा भाई ही क्यों न हो, भाई, कहकर भी उसके साथ अविवाहित बनी रहकर रह सकती है यह कल्पनातीत है। कौन विश्वास करेगा उस नारी की बात पर, उस पुरुष की बात पर···कौन मानेगा कि नारी को विवाह करने का अवसर ही नहीं मिला, सुविधा ही नहीं हुई अथवा अपने आदर्शों के निकट उसने कहीं भी विवाह को स्थान लेते नहीं पाया···इतनी बड़ी···कुँवारी अविवाहित स्त्री और उसका इतना बड़ा भाई···यदि भाई है तो रातों सो कैसे पाता है कुँवारी बहिन को सिल की तरह, पत्थर की तरह छाती पर धरे रहकर···मंजु तीन ही दिन में बहुत कुछ सुन चुकी थी···किन्तु सुनना तो होगा ही··· सहना तो होगा ही और गाँव के अकारण आदर···फिर तनिक तिरस्कार और फिर उदासीनता और फिर तनिक-सी सहानुभूति और फिर थोड़ा-सा यूँ ही सा जरा-सा सहानुभूति मिश्रित आदर पाकर दोनों गाँव के जीवन में अपना स्थान बनाने लगे। झोपड़ी के सामने खुला स्थान था किन्तु मंजु ने

अपनी पाठशाला नहीं बिठाई। कौन भेजेगा उस जैसी अपरिचित अनब्याही युवती के पास अपनी लड़कियों को···अतः मंजु स्वयं ही घर-घर जाकर महिलाओं से मित्रता करने तथा उनके काम-काज में उन्हें सहायता देने लगी···पर वहाँ फुरसत ही किसे थी मित्रता करने की···उच्च वर्ग की भारतीय नारियाँ जितनी ही कम परिश्रमी होती हैं इतनी ही निम्न वर्ग की नारी परिश्रम से पिसी हुई होती हैं। मंजु ने मृदुला की माँ को देखा था··· वह सोशल सर्विस करती थीं···सुखी समृद्ध जीवन के बीच कभी कहीं मोटर में चढ़कर अपनी ही तरह की अन्य महिलाओं की बैठक में भाषण दे आती थी···लेडीज़ क्लब में बाढ़पीड़ितों के लिए चन्दा एकत्रित करवा देती थीं··· राज्य समाज कल्याण बोर्ड की चेयरमैन थीं···गाँवों में प्रोजेक्ट जँचा रही थीं···भारत सेवक समाज की महिला कन्वीनर भी थीं उन्हें साँस लेने को भी तो अवकाश नहीं मिलता था। पति, पुत्र, पुत्री, बहू सभी को तो यह शिकायत थी कि वह रात-दिन सोशल वर्क के ही पीछे पागल रहती हैं। उसने उच्च मध्यवर्गीय उन स्त्रियों को भी देखा था जो एक छोटे से नौकर के साथ तनिक बकझिक कर खाना बनवा कर, खिलवा कर पति, पुत्र को काम पर और स्कूल भेज कर दुपहर में तनिक सिलाई, कढ़ाई करके फिर पैर फैलाकर सो जाती थी अथवा सस्ते उपन्यास पढ़ती रहती थीं···उसने उन गरीबी, लाचारी से दबी-पिसी प्राइमरी स्कूल की अध्यापिकाओं को भी देखा था जो कि वैधव्य के भार को तो सहती ही थीं...चालीस रुपये में परिवार के आर्थिक भार को भी रो-पीट कर ढोती जाती थीं···और उसने स्वयं भी कुछ कम परिश्रम नहीं किया था। परिस्थितियों में दबी-पिसी···मन के··· भावना के···आस्थाओं, विश्वासों, परम्पराओं और आदर्शों के बीच कुचलती मंजु भी उसे याद थी किन्तु यहाँ का महिला वर्ग तो इन सबसे भिन्न था·····शारीरिक परिश्रम और मानसिक स्वच्छन्दता···शायद उसके समझने में ही भूल हो। सुना जाता है कि कुछ ही साल पहले यहाँ एक पति और एक पत्नी रहते थे·····पत्नी का प्रेम एक अन्य युवक से हो

गया·····कुछ दिन यूँ ही चलता रहा। युवक चाहता भी था कि वह उससे ठहराव कर ले पर उसका पति दो बैल दण्ड माँगता था। प्रेमी युवक की सामर्थ्य से यह बाहर थी···एक रात युवती ने पति के पैर-हाथ कसकर बँधवा दिये और प्रेमी के हाथ में गँड़ासा पकड़ा दिया। रातों-रात पति की हत्या करके दोनों कहीं चल दिये। सुना है कि दोनों पकड़े भी गये। युवक को फाँसी हो गई और युवती किसी अन्य के घर बैठ गई। गाँव में कुछ दिन चर्चा चली और फिर बन्द हो गई। इस सम्बन्ध में एक और कहानी भी प्रसिद्ध है कि जब अदालत में युवक प्रेमी को फाँसी की सजा सुनाई गई तो युवती ने जज साहब से हाथ जोड़कर कहा कि एक बिनती मेरी भी सुन ली जाय। अदालत में सन्नाटा छा गया। सभी ने सोचा कि युवती प्रार्थना करेगी कि यदि उसके प्रेमी को छोड़ा नहीं जा सकता है तो उसे भी उसके साथ ही फाँसी दे दी जाय। किन्तु सबको सन्नाटे में छोड़कर युवती ने कहा—

'जज साहब ! मेरे गहने इसके पास हैं सो दिला दिये जायें।' उस दिन सभी ने कहा होगा—'राक्षसी है राक्षसी·····' किन्तु उसने मन ही मन कहा होगा—'चलो अच्छा हुआ मेरे गहने तो बच गये।' मंजुला सुनकर पहले-पहल काँप उठी थी किन्तु उसने देखा कि कितनी आसानी से मरे हुए जानवर का मांस ये लोग खा लेते हैं और कभी सोचते भी नहीं कि यह अखाद्य है। शायद यह सब सोचने का उन्हें अवसर भी नहीं मिलता। दिनभर कठोर परिश्रम करके स्त्री और पुरुष जब थक-थकाकर धरती पर पड़े रहते हैं तब उनसे·····सभ्यता, संस्कृति, शालीनता आदि-आदि कोसों दूर रहते हैं···मंजुला का जी चाहा कि वह सोचे कि अच्छा क्या है ? यह या वह·····उसे याद आ गई अपनी एक साँवली, सलोनी, सुन्दर-सी पड़ोस के नाते की भाभी। भाभी सुन्दर थी विवाह पर सभी ने कहा था कि इतनी सुन्दर साँवली छवि भी हो सकती है यह तो कभी कल्पना भी नहीं की थी और फिर वर्ष-दो-वर्ष पश्चात् एक बच्चे की माँ हो जाने के बाद एक दिन

सिनेमा में पति-पत्नी जब साथ ही बैठे थे कि पत्नी ने किसी एक परिचित को देखा, बातचीत हुई और घर आने का निमन्त्रण दिया। पति के सामने ही·····परिचय बढ़ता ही गया·····पति से भी मित्रता हो गई···और फिर एक दिन पति ने बातों ही बातों में यह भी जान लिया कि युवक उनकी पत्नी का विवाह से पूर्व पड़ोसी था और शायद दोनों में एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का भाव भी था·····उस आकर्षण की सीमाएँ कहाँ तक थीं यह युवकसंदेही पति की कल्पना में प्रश्न बनकर घूमता रहा···मंजु से और मंजु से ही क्या सारे मुहल्ले से उस युवक की करतूतें छिपी हुई नहीं थीं। मुहल्ले भर में किसी के घर उसे आने-जाने नहीं दिया जाता था··· कोई लड़की उससे बात तक नहीं कर सकती थी·····युवक धनी था, परिवार प्रतिष्ठित था, सुन्दरी पत्नी पाना क्या कठिन था। युवक का विवाह से पूर्व ही कई स्त्रियों से घनिष्ठ परिचय हो चुका था···वह उन्हीं सबकी तथा उनके तथा अपने सम्बन्ध की कल्पना अपनी पत्नी और उस नवपरिचित मित्र के सम्बन्ध को लेकर करता रहा·····फलस्वरूप अकारण ही पत्नी के प्रति उसकी कटुता बढ़ती गई और बढ़ती ही गई·····पति की दुलारी पत्नी पति से अनादर पाकर भी शान्त रही किन्तु कहाँ तक शान्त रहती···घरवालों का सहज स्नेह भी कम होने लगा···पति का पुराना रवइया फिर शुरू हो गया·····घरवालों की आशा, उत्कट अभिलाषा पर कि सुन्दरी पत्नी लड़के को सुधार लेगी तुषारपात हो गया·····पत्नी का आदर सभी ओर से कम हो गया और फिर एक दिन सब की ही अनायास अनादर की पात्री हो उठने वाली पत्नी ने जब पति से शराब के नशे पर अपने ऊपर किये जाने वाले घृणित आक्षेप सुने तो वह एकबारगी विक्षिप्त हो उठी·····और फिर कथा तनिक-सी ही रह जाती है·····तीसरे दिन वह सत्तरह वर्ष की सुन्दरी, सुशीला नारी एकान्त कमरे में रात्रि के घनघोर अन्धकार में फाँसी लगाकर मर गई···मंजुला को याद है कि कितने ही दिन तक मंजुला को ऐसा लगता था कि वह अभागी नारी उसके चारों ओर सशरीर घूम रही है। एक

दिन उसकी मामी की सगी नन्द, मंजुला की बालसखी ने भाभी की चर्चा छिड़ने पर कहा था—'और वह करती भी क्या ? भइया तो उन्हें प्यार करते नहीं थे·····उन्हें उन पर शक भी हो गया था·····अच्छा ही हुआ कि उन्होंने स्वयं ही आत्मघात कर लिया···नहीं तो उनकी जिन्दगी ही क्या रह गई थी···' और फिर दूसरे वर्ष उसी युवक का धूमधाम से विवाह हो गया। इस बार भी लड़की सुन्दर थी और युवक की बड़ी बहिन ही कह रही थी—'अभी हमारे भइया की उमर ही क्या है ? तेईस वर्ष के ही तो हैं। क्या जन्म भर बैठे रहते ? शादी तो करना ही था···अरे देख मंजु कितनी सुन्दर बहू है ?' मंजु को उसी समय इससे पूर्व की सुन्दरी बहू की याद हो आई थी। उसका हृदय काँप उठा था ?

यहाँ शायद प्यार का बन्धन ही माना जाता था। पत्नी को मार भी पड़ती है तो वह उसे पति के प्यार का प्रसाद समझती है और यदि छूट-छुटौवल करना हो तो भी दण्ड देकर सहज ही हो सकता है। दूसरा घर करना चाहे तो भी उतनी बाधा नहीं है···आरम्भ में मंजु को घृणा-सी आई···फिर दया आई और अब तो कभी-कभी वह यह सोचने को विवश हो जाती है कि कौन-सा चित्र भव्य है, सुन्दर है, हितकर है···यह भी तो कोई असामाजिक जान नहीं पड़ता। मंजु अपने आपको उस नवीन, अपरिचित समाज में घुला-मिला डालने को उत्सुक थी किन्तु कहीं कोई न कोई एक बाधा-सी खड़ी हो गई जान पड़ती थी। फिर भी भाई बहिन दोनों के प्रति सतर्क होते हुए भी गाँव वाले सदय अवश्य थे। वे ठीक प्रकार से समझ भी नहीं पाते थे कि ये दोनों सरकारी जासूस हैं, या सरकारी हिताधिकारी अथवा स्वेच्छा से यहाँ आकर बसने वाले और यदि वैसा है तो क्यों ? इन्हें इससे क्या लाभ होगा ?

जगन कहता था कि ये बैलों की जोड़ी वाली पार्टी के हैं। महात्मा गाँधी जी के चेले हैं। महात्मा गाँधी कहते हैं कि गाँव में जाकर बसो तभी यह अपना सर्वस्व त्याग कर यहाँ आकर बस गये हैं, हमें इनकी पूजा

करनी चाहिये और इसी तरह जगन धीरे-धीरे मिल मजदूरों और गाँव वालों दोनों का ही नेता बनता जा रहा था।

ये दोनों अपने विषय में कुछ भी नहीं कहते थे। पिछले सप्ताह मुखिया की एक मात्र सन्तान तीन वर्ष का बालक जब न्यूमोनिया में जकड़ा पड़ा था···आन गाँव के वैद्य भी जवाब दे चुके थे तो मंजुला ने ही रात-रात भर सेवा करके गोलियाँ खिला-खिलाकर सेंक-सेंककर जब उस बालक को जिला लिया तब से तो उसकी प्रतिष्ठा गाँव में और भी बढ़ गई। मुखिया और उसकी पत्नी ने तो मंजुला के पैरों पर सिर रखकर प्रणाम किया और बालक को उसकी गोद में डालकर कहा—'देवी! यह तो तुम्हारा ही प्रसाद है।' मंजुला का जी चाहा कि उन सरल अथवा मूर्ख ग्रामीणों की सरलता पर हँस दे। उसकी माँ को अन्तिम दिनों में न्यूमोनिया हो गया था और उस समय की कुछ गोलियाँ उसके बटुए में पड़ी थीं। उन्हीं के सेवन से बालक अच्छा हो गया था। यह तथ्य उसने उन लोगों से कह भी दिया था किन्तु वे मानने ही क्यों लगे···वे तो यही कहते रहे कि हम ये सब नहीं जानते···हमारे बालक को तो तुम्हीं यमराज से लड़कर छुड़ा लाई हो। और फिर जब अरुण और मंजु ने सड़क को पक्की करने की योजना बनाई तथा खुदाई भी शुरू कर दी तो बात की बात में सारा गाँव आ जुटा। मुखिया ने तो मंजु के कोमल हाथ से फावड़ा ही छीन लिया। वह कह रहा था—'रहे देओ बिटिया! अब्बी हम सब कर लेब।' मंजु की आँखों में जल भर आया—'सो तो आप सब करेंगे ही मुझे भी तो कुछ करने दें।' 'नाहीं सो नाहीं हुइहै। तुम हुकुम करो बेटी।'

'दादा! इस तरह तो तुम मुझे सुकुमार बना दोगे।' 'सुकुमार तो बिटिया तुमका बिधना ही बनाय दिया है तिस पर तुम्हार देवता भैया तुमका फूल की न्याईं राखत हैं।' फिर मंजु का साहस और आग्रह करने

का हुआ ही नहीं। अरुण और मंजु गाँव वालों के जीवन में घुलते-मिलते जा रहे थे।

धीरे-धीरे मंजु की पाठशाला झोपड़ी के सामने ही जमने लगी। अरुण ने कपड़ा बुनना सीखना आरम्भ कर दिया था। एम० ए०, एल० एल० बी अरुण के हाथ की बुनाई बुनकरों को केवल हँसा ही पाती थी। वह कुछ देर मुखिया के खेत में काम भी करता था और कभी-कभी मिल की ओर भी चला जाया करता था। आसपास की कुछ जमीन घेर कर अरुण और मंजु ने तरकारी भी बोना आरम्भ कर दिया था। कपड़ों की तत्काल आवश्यकता नहीं थी···मोटा-झोटा अनाज मुखिया ने कुछ डलवा ही दिया था। लकड़ी ईंधन का कष्ट था ही नहीं···तरकारी भी कुछ ही दिनों में निकल आने की आशा थी। गाँव वाले गरीब थे पर स्वार्थी नहीं थे। अभावग्रस्त थे पर अकृतज्ञ नहीं थे। दूसरे की उपकारी मनोवृत्तियों पर सन्देह अवश्य करते थे किन्तु उन पर एकबारगी अविश्वास नहीं करते थे। तिस पर अरुण ने तो उनकी पुरानी समस्या का हल उन्हें खोज दिया था। अरुण ने उन्हें बताया कि क्यों विभिन्न सफेदपोश लोगों के समूह उनके पास आये और फिर क्यों उन्होंने वायदे किये और फिर वह लौट कर क्यों नहीं आये तथा उनके गाँव में सुधार उन सफेदपोशों को पर्ची देने या न देने से नहीं हो सकेंगे। इसके लिये उन्हें स्वयं ही कष्ट करना पड़ेगा। गाँव के दो-चार समझदार लोग तो रोज ही अरुण से दीन-दुनियाँ की बातचीत करने सन्ध्या बाती करके आ बैठते थे। अरुण की बातें उन्हें बहुत ही ठीक और बहुत ही मीठी लगने लगी थीं। इसी बीच अरुण होम्योपैथिक की पुस्तकें पढ़ कर कुछ थोड़ी-बहुत होम्योपैथिक दवा-दारू भी करने लगा था। नगर से आते समय बेचे हुए घर के मूल्य में से सब खर्च कर-करा करके भी कुछ रुपये बच गये थे उन्हीं से अरुण कुछ साधारण दवाएँ भी नगर से लेता आया था। सरकारी हस्पताल का पता उधर कोसों तक नहीं था। अतः अरुण धीरे-धीरे

दो-चार आसपास के गाँवों का सम्बल हो उठा। जिन्दगी धीरे-धीरे सरक रही थी।

२८

'वीरेश्वर को कभी कोई बाँध कर रख सकेगा इसकी कल्पना भी न करना मृदुला।'

'बाँध कर रखना चाहती हूँ यह तो मैंने कहा नहीं।'

'और इसका अर्थ ही क्या है? तुम चाहती हो कि मैं अपने दिन-रात के कार्यक्रम की सेंक्शन, एपरूवल तुम से लिया करूँ जो कि हो ही नहीं सकता है।'

मृदुला मन ही मन सोच रही थी कि क्या यह वही व्यक्ति है जिसने केवल बारह-तेरह मास पूर्व ही कितना भिन्न था। कुँवर को मानव स्वभाव का अच्छा ज्ञान था। मृदुला एक मिनिस्टर की पुत्री थी यह भी वह भूल नहीं गया था किन्तु उसके स्वभाव में खिंचाव, ठहराव था ही नहीं···नहीं किसी भी प्रकार का बन्धन वह सह नहीं सकता था···कहीं किसी प्रकार का भी संयम उसे सुहाता नहीं था फिर भी वह यह नहीं चाहता था, शायद कोई भी नहीं चाहता, कि चार आदमी उस पर अँगुली उठायें···कभी-कभी कुँवर का मन व्याकुल हो उठता था। एक मीठा-सा ऐसा बन्धन पाने के लिये जो उनके दुर्बल मन को सदा सर्वदा के लिये जकड़ लेता और इस प्रकार जकड़ लेता कि वह उस जकड़-पकड़ से कभी भी, इच्छा करके भी छूट भी न पाये···वह चाहता था कि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो कि उसके विचित्र उच्छृङ्खल मन पर शासन कर सके···जिसकी आज्ञा, जिसके आदेश की उसे अपेक्षा हो···जिसके कन्धों पर इस भरे-पूरे जीवन का समस्त भार डाल कर वह निश्चित होकर मानव जीवन, प्राप्त सुख-सुविधाओं का आकण्ठ उपभोग कर सके···किन्तु कहाँ था वैसा व्यक्ति···कुँवर ने उसकी

खोज भी कुछ कम नहीं की थी···शायद विवाह भी उसने अन्य कई कारणों के ही साथ इस कारण को भी रख कर किया था···कुछ दिन उसे जान पड़ा कि मृदुला ही वह व्यक्ति है जिसकी उसे तलाश थी···वही उस पर शासन कर सकती है। उसे बाँध सकती है···माँ ने विरोध किया···यही नहीं ठाकुर के घर में बनिये महाजन की लड़की ले आने के घनघोर अपराध में पुत्र को अपनी निजी धन सम्पत्ति से वंचित कर देने की भी धमकी दी···जीवन भर उसका मुख न देखने की भी धमकी दी···मरने पर उसे अपनी क्रिया आदि करने के अधिकार से वंचित कर देने की बात भी आँखों से अग्नि बरसाते हुए कहा। यहाँ तक कि बहू को महल में प्रवेश न करने देने का फरमान जारी किया और विवाह में सम्मिलित न होने का भी निश्चय किया···वह तो यहाँ तक भी कह गई कि मैं समझ लूँगी कि मैं बाँझ ही रही···मेरे कोई पुत्र था ही नहीं···ऐसे कुलकलंक को मैं अपना पुत्र नहीं मान सकती···कभी भी नहीं मान सकती···किसी ने उन्हें रोते नहीं देखा किन्तु उस दिन से फिर कभी किसी ने उन्हें हँसते भी नहीं देखा···पुत्र से भेंट उन्होंने तब से फिर कभी की ही नहीं···न जाने क्यों उस दिन से आज तक कभी किसी ने उन्हें मन्दिर की ओर मुख करते भी नहीं देखा। घर के देवता जिनकी वह अत्यधिक लग्न से पूजा किया करती थी पुजारी ब्राह्मण के सुपुर्द कर दिये गये···दान-पुण्य की ओर से भी उनका ध्यान कुछ हट-सा गया। बोलना-चालना भी कम हो गया। दो-चार मुँहलगे नौकरों-नौकरानियों के अतिरिक्त और किसी से बोलती तक नहीं···रानी माँ ने ही एक दिन एक आसन्नप्रसवा भिखारिणी को खिड़की से देख कर उसे भीतर बुलवा कर उसके प्रसव का न केवल सम्पूर्ण प्रबन्ध ही किया वरन् उसे अपनी सेवा में नौकरी भी दे दी और फिर कुछ दिन बाद अपने एक सेवक से उसका विवाह भी करा दिया। आज वही भिखारिणी अत्यन्त सौभाग्यशालिनी नारी है···नारी माँ की सेवा तो अब भी करती है किन्तु अब उसके दो बेटे हैं तथा एक वही विवाह से पूर्व की

सन्तान लड़की है···इधर एक दिन एक अंधी भिखारिणी महल के नीचे सर्दी से, दर्द से और भूख से तड़प रही थी···शब्द रानी माँ के कानों तक पहुँचा और उन्होंने भिखारिणी को उठवा कर कहीं दूर फिकवा देने की आज्ञा दी···कभी रानी माँ की कठोर आकृति के भीतर बसने वाली कोमल माँ की प्रतिमा सब को उनके प्रति निश्शंक बनाये रखती थी किन्तु अब न जाने किस जादू की छड़ी ने उनके भीतर के समस्त रस को शुष्क करके उन्हें काष्ठ कठोर कर डाला है···आज उन्हें भीतर की कठोरता सब को उनके प्रति संशक बनाये रखती है। कुँवर पर माँ का कठोर शासन रहा करता था और कुँवर उससे कुछ ऊब भी गये थे···उन्हें जान पड़ता था कि माँ का शासन उनकी युवक आत्मा को अकारण ही कस रहा है। इधर माँ से उनका कोई किसी प्रकार का वास्ता ही नहीं रहा है। यहाँ तक कि मृदुला ने अत्यधिक विनयभरे पत्र में माँ से उनके दर्शनों की आज्ञा माँगी थी तो भी उसके उत्तर में रानी माँ के सेक्रेटरी ने लिख कर भेज दिया कि माँ उन दोनों का मुँह भी देखना नहीं चाहती हैं···उसके बाद फिर मृदुला और कुँवर किसी की भी हिम्मत ही नहीं पड़ी कि माँ का नाम भी लें किन्तु इधर कुँवर को न जाने क्यों कुछ ऐसा लगने लगा है कि उसने मृदुला के पीछे माँ को अप्रसन्न करके ठीक नहीं किया। माँ से कुँवर की जीवन भर कभी भी मन से नहीं बनी थी···माँ से उसने सदा डरना ही सीखा था, प्यार करना नहीं···कुँवर का बालक-मन हर समय माँ के कठोर आदेशों से भयभीत रहा करता था किन्तु उनकी अवहेलना करने का साहस नहीं था। माँ के आदेशों को भले झींक कर ही क्यों न हो मानने का उसका मन कुछ इतना अधिक अभ्यस्त हो गया था कि इसके अतिरिक्त भी कोई मार्ग है यह वह सोच भी नहीं सकता था···युवक कुँवर योरुप के स्वतन्त्र वातावरण में माँ के प्रति अपने भय की बात सोच कर मन ही मन हँस देता था···उसके मन का विद्रोह भी प्रबल हो जाता था···सखी-सहेलियों के निकट मन की इस दुर्बलता को उसे बरबस छिपाना भी पड़ता

था किन्तु फिर भी वह इतने साहस का संचय नहीं कर पाया था कि उनक आज्ञा की अवमानना कर जाये। जीवन में पहली ही बार उसका माँ भयभीत, उनकी आज्ञा सिर झुका कर बिना ननुनुच किया। मानने व अभ्यस्त मन उनकी आज्ञा की अवहेलना कर पाया था। उसने किसी प्रका से साहस संचय कर उनकी स्वीकृत के बिना, उनकी इच्छा के विरुद्ध अपने पिता के हठी स्वभाव का कुछ अंश अपने रक्त में प्रबल पाकर उसी के सहारे विवाह कर डाला था; किन्तु जिस नशे में भर डाला था उसके फीक पड़ते ही उसे मृदुला की असाधारणता साधारणता में बदली हुई दिखा देते देर नहीं लगी। कहीं कुछ गलती हो गई है यही उसके मन को ह ओर से कचोटने लगा। किन्तु उपाय था ही क्या? वह प्रकट रूप से य स्वीकार भी तो नहीं कर सकता था और स्वीकार करता भी तो किसके निकट···उसे लगा कि मृदुला वह नहीं है जो कि उसके मन को यावज्जीव बाँध कर रख सके···उसे जान पड़ा कि मृदुला ने उसे धोखा देकर फँस लिया···उसमें कुछ भी तो ऐसी विशेषता नहीं है, ऐसा आकर्षण नहीं है···उसमें ऐसा है ही क्या जिसके प्रति मैं आकर्षित हो उठा था···नहीं नहीं दोष सब मृदुला का ही है और उसकी मृदुला के प्रति झुँझलाहट बढ़ती ही गई।

प्राप्ति और तृप्ति जहाँ नारी को बढ़ने का, समर्पण का, जकड़ रखने का आसक्ति, प्रबल आसक्ति का निमन्त्रण देती है वहीं पुरुष को झुक कर ऊब जानने, विजय घोषणा के बाद विजित के प्रति लापरवाही बरतने क सन्देश देती है। नारी स्वभाव से नीड़ को बसाये ही रखना चाहती है·· पुरुष नीड़ को बनाये तो रखना चाहता है किन्तु नवीन के प्रति अपने आकर्षण को, नयी विजय-घोषणा में निहित तृप्ति के नवीन आकर्षण को छोड़ नहीं पाता···वह चाहता है नित नवीन आकर्षण···उसे अनदेखे, अनजाने, दुष्प्राप्य के ही प्रति अधिक आकर्षण होता है। मृदुला आत्म-समर्पण करना तो जानती थी किन्तु उसमें से कुछ बचाये रखना तथा उसी

के सहारे सदा सर्वदा कुछ ढकी, कुछ मुँदी, कुछ खुली रह कर नवीन आकर्षण उत्पन्न करना नहीं जानती थी। उसने एकबारगी सर्वस्व उँडेल दिया। कुँवर के चरणों में मुक्त रूप से···एकान्त भाव से···एकबारगी निःशेष होकर··· कंगाल होकर···वह एक दिन भी तो बहू नहीं बनी···रानी बहू···दबी ढकी···छिपी-छिपाई···पूजा अर्चना के बाद कभी-कभी कठिनाई से दिखाई दी जाने वाली बहू रानी नहीं बनी···वह तो एक ही बार हो गई पत्नी··· पूर्णरूपेण पत्नी···और कुँवर ने पाया कि जिसे वह समस्त नारी जगत से भिन्न···न जाने क्यों सब से अलग किसी और ही जाति को समझता था वह निकली मात्र नारी···वैसी ही नारी जैसी बर्टी, शीला, नीला आदि-आदि थीं···वह भी कुँवर को प्यार करने लगी ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार अन्य सभी नारियाँ करती थीं·····वह भी कुँवर को उसी प्रकार दिन-रात केवल अपने में ही बाँधकर रखना चाहने लगी जैसे कि अन्य नारियाँ चाहती थीं किन्तु ऐसा क्यों? वे लोग तो उसकी पत्नी नहीं थीं। किन्तु यह तो पत्नी है···क्या पत्नी भी उसी प्रकार का बन्धन है जिससे कौशल, छल-बल से किस प्रकार छूटकर निकल जाने की रोमांचकारी चेष्टाएँ की जायँ··· नवीनता···रहस्य, विजय का प्रेमी···ऐडवेन्चर का अभ्यस्त कुँवर का मन मृदुला से भागने लगा···दूर···दूर एकान्त भाव से समर्पित मृदुला···शुगर मिल की एकान्त कोठी में कुँवर की अनुपस्थिति में घबराने लगी···उसकी समझ में ही नहीं आता था कि कुँवर को हो क्या गया है···अभी तो विवाह हुए एक वर्ष ही बीता है···कहाँ तो ये उसे एक दिन को भी मायके तक भेजने को तैयार नहीं होते थे और कहाँ अब वह दिन-दिन भर अकेली पड़ी रहती है। माना कि नौकर-चाकर हैं किन्तु उनके बिना तो सब बड़ा सूना लगता है किन्तु वे भी क्या करें···काम काज तो करना ही होगा··· माँ ने अपनी अतुल धनसम्पत्ति से मेरे ही कारण इन्हें वंचित कर दिया है···अब इन्हें कुछ न कुछ तो करना ही होगा। मेरे पिता सहायता तो कर रहे हैं···कई अच्छी ऐजेन्सियाँ दिला दी हैं···शायद एम० पी० भी हो

जायँ फिर भी इन्हें काम तो करना ही पड़ता है···वैसे यह क्या चाहते थोड़े ही हैं कि मुझे छोड़कर जायँ किन्तु करें भी क्या·····स्वयं भी तो उन्हें अच्छा नहीं लगता पर करना तो पड़ता ही है। आज जब सुबह-सुबह ही कुँवर ने तैयार होकर ब्यूक निकालने को कहा तो मृदुला से रहा नहीं गया। उसने मीठे से स्वर में कहा—'आज मेरा जी बहुत घबरा रहा है। आज न जाओ तो कैसा रहे ?' कुँवर का मन बाहर निकलने को व्याकुल हो रहा था। तनिक-सी भी बाधा पाने की उसे आदत ही नहीं थी···वह चिढ़ उठा····· अचानक ही चिढ़ उठा। उसने तड़प कर कहा—'वीरेश्वर को कभी कोई बाँधकर रख सकेगा इसकी कल्पना भी न करना मृदुला।' मृदुला को लगा कि उसे अचानक किसी ने आकाश से धरती पर ढकेल दिया है। मैंने कब इन्हें बाँधकर रखने की चेष्टा की···यह कैसी बात है···इन्हें क्या हो गया है···क्या यही तेरह मास पूर्व के कुँवर हैं···बात बढ़ी···मृदुला को आश्चर्य हुआ कि उसने कब इनसे इनके कार्यक्रम के विषय में पूछा तक भी है··· किन्तु इन्हें कार्यक्रम···उसकी स्वीकृति आदि के विषय में ध्यान ही कैसे आया···मृदुला ने साइकोलॉजी पढ़ी थी। उसका आज तक का निश्शंक, निर्द्वन्द्व मन अचानक ही अकारण शंका से भर उठा···कुँवर उसे छोड़कर कितनी देर हो गई चले गये। नाश्ते की मेज पर बैठी मृदुला बहुत देर तक जान भी नहीं सकी···उसे ज्ञान तो तब हुआ जब घर की पिछली पीढ़ी की बूढ़ी नौकरानी ने आकर कहा—'बहू रानी उठो स्नान तो कर लो···यह सब सोचकर क्या करोगी···यह तो इस घर में सदा से ही होता रहा है।' मृदुला ने चौंककर पूछा—'दाई अम्मा, इस घर में सदा से क्या होता रहा है ?' दाई ने न जाने क्या सोचकर बात बदल दी—'अरे कुछ खास बात नहीं···काम-काज के लिए मरद-मानुष बाहर जाता ही है। उठो तुम स्नान कर लो।'

मृदुला ने और कुछ नहीं कहा। बात बढ़ाने की उसकी इच्छा भी नहीं थी और वैसी प्रवृत्ति भी नहीं किन्तु अनजाने-अनचाहे ही मन में कहीं

कोई एक दरार अवश्य पड़ गई यह बूढ़ी अनुभवी हिताकांक्षी दाई भली प्रकार समझ गई···उसकी बूढ़ी आँखों में दो बूँद जल भी भर आया किन्तु आँखें तो बहू रानी की भी सूखी नहीं थीं।

२६

'बिटिया जी, आप देई-देवता नहीं मानतीं, पूजा उतारा नहीं मानतीं, आपकी बात दूसरी है लेकिन ये लोग आपकी बात नहीं समझ पायेंगे आप इन्हें इनके रास्ते ही चलने दें।'

'यह कैसे हो सकता है जगन। उसे टाईफाइड बुखार जान पड़ता है उसी में सन्निपात हो गया है। भूत-प्रेत कहाँ है। अब ऐसी अवस्था में मिर्चों की धूनी देकर तो उसे ये लोग मार ही डालेंगे।'

'मरने दीजिये। आपको क्या? सदियों से, पीढ़ियों से ये इसी प्रकार मरते आ रहे हैं बिटिया रानी। कसबे में मील में काम करने से पहले मेरा नन्हा बीमार हो गया था। इन सबने कहा कि उसे नजर लग गई है। उतरवाना चाहिये। आन गाँव से ओझा को बुलाया। लुटिया-थरिया गिरों रखकर लाल कपड़ा, चावल, गुड़, चाँदी न जाने क्या-क्या आटे के सात पुतले बनाकर रातों-रात चल कर कसबे के चौराहे पर रखने गया, फिर भी बच्चा क्या बच सका? और आपने मुखिया के बच्चे को वैसी ही हालत में दवा-दरपन देकर ठीक कर लिया। तब जान पड़ा कि हम लोग कितने अँधेरे में हैं। इन लोगों को जबसे कस्बे में नौकरी करने लगा हूँ। चार भले आदमियों में उठने-बैठने लगा हूँ, समझा रहा हूँ पर मूरख मति समझेगी थोड़े और ओझा मुझी से दुसमनी कर बैठा है। तुम जाने दो बिटिया कौन जाने तुम्हारे ही पीछे पड़ जाये।'

'किन्तु क्या इसी डर से सन्निपात की रोगिनी को मिर्चों की कड़ी धूनी

दिलवा दूँ। जगन भाई! गाँव मेरा है। मुझे तो जो ठीक जान पड़ेगा वही कहूँगी।'

'पिछले जलम के न जाने कवन पाप के फल इस जन्म में बुढ़ाय गई वर तक न जुड़ा अब इस जलम में और देई-देवता न मानो अगले जलम में न जाने कौन दसा होई···' किसनी बूढ़ा न जाने किधर से आते-आते इनकी बात का अन्तिम अंश सुन पाई थी। किसनी का जन्म कहाँ हुआ यह कोई नहीं जानता···उसके परिवार में कोई है अथवा नहीं यह भी कोई नहीं जानता। लगभग पचास वर्ष पूर्व एक दिन प्रातःकाल लोगों ने पास के जङ्गल में खूब धूमधाम देखी थी। शायद कोई बड़े आदमी शिकार खेलने आ रहे थे। गाँव से हाँके के लिए आदमी माँगे गये···मजूरी के लिए भी लोग पहुँच ही गये। बड़ा ठाठ-बाट था। गाँव भर में आज उस दृश्य का चक्षुसाक्षी तो एकमात्र मुखिया का अस्सी वर्षीय बाप ही था जो कि गत वर्ष चल बसा। मुखिया के बाप के जवानी के दिन थे। गठन भी अच्छी थी···साहस भी कम नहीं था···वह भी हाँके के लिए गया था। शिकार खेलने शायद कोई राजा साहब आये थे। साथ में दो-तीन गोरे भी थे। कई तम्बू लगे थे। नौकर-नौकरानियाँ भी थीं और एक तम्बू गाने-नाचने वालियों का भी था···राजा साहब तीन दिन को आये थे पर सात दिन तक वहीं बने रहे। एक दिन आधी रात को पेड़ों के झुरमुट से तनिक हट कर एक किनारे सोते हुए मुखिया के बाप के सिसकने का शब्द सुन पड़ा···मुखिया के बाप को नींद तो आ रही थी पर शब्द अत्यन्त करुण था। उससे रहा नहीं गया। उसने उठकर देखना चाहा कि कौन सिसक रहा है। रात के सन्नाटे में शब्द हाथ भर दूर ही जान पड़ता था किन्तु चलते-चलते मुखिया का बाप काफी दूर निकल आया। उनींदी आँखों और उनींदे मन से उसे जान पड़ा कि वह ६ लाख के चक्कर में पड़ गया है। अब लौटने का मार्ग भी ऐसा जान पड़ा कि वह भूल गया है···इसी समय उसके सम्मुख उसकी बूढ़ी माँ और युवती पत्नी का प्रसन्न चेहरा आ गया।

उसने हनुमान चालीसे का पाठ करना आरम्भ कर दिया। तभी उसे एक पेड़ के सहारे बैठी हुई एक नारी दिखाई दी जो कि सिसक रही थी···डर के मारे उसके तो मानो प्राण ही निकल गये। एक तो छः लखा और फिर जब नारी के रूप में आये तो फिर खैर नहीं है···उसने घबराहट के मारे हनुमान जी का नाम ही जोर-जोर से जपना आरम्भ कर दिया। स्त्री ने सिर उठाकर देखा···हल्की-सी चाँदनी में मुखिया के बाप को जान पड़ा कि ६ लखा सुन्दरी स्त्री का भेस भरे है···उसने तनिक डाँटकर कहा—'तू कौन है ?'

'विपदा की मारी हुई हूँ। तुम इस तरह बोलने वाले कौन हो ?'

'मैं हूँ तुम्हारा बाप। जानते हो मैं हनुमान जी का सेवक हूँ। मंगलई मंगल बरत रखता हूँ। मुझे तुम भुलावा देकर यहाँ क्यों लाये हो ?'

'अत्यधिक दुःख में भी नारी यह समझ कर कि यह अनजान पुरुष उसे भूत-प्रेत या छः लखा समझ रहा है हँस पड़ी।

'तुम्हार हँसी से हम भूल ना जाई।' पुरुष ने कठोरता से कहा।

'तो क्या करूँ ? इस पत्थर से सिर फोड़ दूँ तब तुम जानोगे। पर तुम्हें बुलाया किसने था···'

पुरुष छः लखा से डरा हुआ तो था किन्तु स्वभावतः कायर न था तिस पर पहलवानी भी करता था। उसकी दाहिनी भुजा में हनुमान जी का कवच भी बँधा था। तेरह गाँव में उसके बल की धाक थी। वह क्या एक नारी से डर जायगा भले ही वह छः लखा ही हो। उसने कड़क कर कहा—'तू कौन है री। यहाँ क्यों अकेली बैठी रो रही है ?' वह रोब जमाना चाहता था श्रोता कोई भी क्यों न हो। इस बार नारी ने दृष्टि भर कर पुरुष को देखा। उसे जान पड़ा कि यह बलिष्ठ, साहसी पुरुष ही उसका आश्रय बन सकता है। उसका जी चाहा कि अपनी समस्त दुःख कथा कह कर मन का भार हलका कर ले या सहज नारीसुलभ लज्जा ने मानो उसके मुँह में

ताला लगा दिया। वह और भी तीव्रता से सिसकने लगी। पुरुष सहमा हुआ-सा उसकी ओर देखता रहा। नारी बीच-बीच से मुँह उठा कर आँसू पोंछ लेती थी। पुरुष ने देखा वह सुन्दर है, कोमल है, वस्त्र भी अच्छे पहने है। शरीर पर दो चार कीमती गहने भी हैं अवस्था भी कच्ची ही सी है शायद···सुन्दर नारी की आँखों के आँसू पुरुष की दुर्बलता का कारण हो सकते हैं। शायद वह नारी यह जानती भी हो। स्वर को कुछ कोमल करके पुरुष ने कहा—'बाई! तुम कौन हो! बताओ क्यों रोती हो? मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ···' और भी देर तक वह न जाने क्या-क्या कहता रहा। नारी तनिक आश्वस्त हुई। उसने आँचल से आँसू पोंछ कर सिसकियों के बीच उससे कहा—'तुम कोई भी क्यों न हो इस समय मेरे लिए भगवान् का रूप हो। प्रतिज्ञा करो कि मेरी सहायता कर सको या न कर सको मेरा भेद किसी को नहीं बताओगे। पुरुष को एक बार जान पड़ा कि नानी की कही हुई कहानी की कौवा हँकनी बनाई हुई राजा की बड़ी रानी यही है···या भुलावा देकर मानुस कलेजा खाने वाली डाकिनी यही है···किन्तु वह शान्त ही रहा। मर्द ठहरा···ऐसे समय पीछे कैसे हट सकता था। उसने दृढ़ स्वर में कहा—'ठीक है। महावीर जी की सौगन्ध ऐसा ही होगा?' नारी ने एक बार उसे फिर दृष्टि भर कर देखा। पुरुष का डर तब तक निकल चुका था। वह उस कोमल, कृतज्ञ दृष्टि से कृतार्थ हो गया। अभी तक वह खड़ा ही था। नारी ने इस बार कोमल स्वर में कहा—'तब बैठ कर मेरी कहानी शान्ति से सुनो।' पुरुष वहीं बैठकर कहानी सुनने के लिए नारी की ओर देखने लगा। रात बीत गई थी। चारों ओर सन्नाटा था। स्त्री ने तनिक झिझक कर कहा—'देखो तुम मेरे कोई नहीं हो··· कैसे कहूँ···शरम भी लगती है पर कहना तो होगा ही···' और वह थोड़ी देर ठहर गई। पुरुष चुप ही रहा। तनिक साँस लेकर स्त्री ने कहा—'मैं बामन की लड़की हूँ। मेरा बाप बचपन में ही मर गया था। माँ जन-जन की रोटी बनाकर गुजारा करती थी। न जाने किस कुघड़ी में उसे राजमहल में

रसोईघर में काम मिल गया। तब मैं नौ-दस बरस की थी। लोग कहते हैं कि मैं बहुत सुन्दर थी···शायद अब भी हूँ···शायद तभी से राजा साहब की मुझ पर दृष्टि पड़ गई···फिर तो हमारा आदर भी होने लगा और जीवन भी सुखी हो गया? मेरी माँ न जाने किस तरकीब से रसोई से निकाल कर रानी साहिबा की खिदमतगारी में रखी गई। यूँ रानी साहिबा तो खुश नहीं जान पड़ीं पर हम दोनों माँ-बेटियों को आराम हो गया। बस यूँ समझ लो कि हमारे तीन-चार साल अच्छे निकल गये। फिर तो एक दिन न जाने कैसे मैं राजा साहब की खिदमत में पहुँचा ही गई···मेरी अभागी साध्वी माता मुझे रातभर खोजती रही पर वह कैसे पा सकती थी। मैं तो उस समय महाराज साहब के खास महल के खास कमरे में थी··· सबेरे जब मैं कुछ रोती कुछ हँसती कुछ नशे में कुछ होश में जेवर कपड़े लेकर माँ के पास पहुँची तो माँ कुछ भी कह सुन न सकी···मैं भी जाते ही सो गई···सन्ध्या को शरीर कुछ अजब थका टूटा-सा लग रहा था···उठा भी नहीं जा रहा था जान पड़ता था कि तेज ज्वर चढ़ा है। तभी चन्दा खवासिन ने आकर मुझे छाती से लगा कर रोना आरम्भ कर दिया। मैं घबरा गई···इससे पहले कि मैं कुछ पूछूँ उसने बताया कि मेरी माँ जहर खाकर मर गई है। मैं इतनी अधिक सहम गई थी कि रो भी न सकी··· माँ की लाश भयानक रूप से विकृत हो गई थी·····दबी जुबान से चन्दा ने कहा कि मेरी माँ को राजा साहब की शिकायत रानी साहिबा से जाकर नहीं करना चाहिये था···उसी का यह फल है··· मैं तब तो कुछ भी नहीं समझ पाई थी किन्तु आज समझ गई हूँ····' पुरुष ने कुछ कहना, कुछ पूछना चाहा किन्तु नारी ने हाथ के इशारे से रोक कर कहना जारी रखा, 'बस थोड़ी देर और रुको···कहानी समाप्त ही होने वाली है। हाँ, तो फिर उसी रात मुझे फिर उस नर्क में जाना पड़ा। उस रात राजा साहब ने मुझसे कुछ भी नहीं कहा केवल खिला-पिला कर लाड़-दुलार करके बहुत से वस्त्राभूषण देकर बिदा कर दिया। चन्दा उसे लेकर अपने कमरे में आ

गई। फिर तो लगभग छः मास राजा साहब के दर्शन नहीं हुए। इसी बीच चन्दा ने उसे बहुत कुछ सिखा-पढ़ाकर चतुर बना दिया। सुख-सौभाग्य की कमी नहीं थी किन्तु बीच-बीच में माँ की याद आ जाती थी। याद आता था कि उसने कितनी गरीबी के बीच जिन्दगी बिता दी और फिर लगता था कि आज इस सुख-सुविधा के बीच वह क्यों नहीं है? चन्दा इस विषय में चुप ही रहती थी। लगभग छः मास बाद फिर मेरी बुलाहट हुई··· अब मैं भी बहुत कुछ समझने लगी थी। इसी बीच चन्दा ने मुझे बहुत ही पौष्टिक औषधियाँ भी सेवन कराई थी। यूँ भी मेरी उठान बहुत अच्छी थी। कभी-कभी मैं एकान्त में माँ को याद करके बहुत रोया करती थी किन्तु चन्दा यदि मुझे रोते देख लेती थी तो बहुत डाँटती थी। फिर एक दिन महाराज साहब, महारानी साहिबा और सबने बड़ी प्रसन्नता से बहुत कुछ दे-लेकर मेरा विवाह मन्दिर के पुजारी के गूँगे बहिरे लड़के से कर दिया। विवाह हो गया किन्तु मैं अपने पति को देख भी नहीं सकी। सबने रानी साहिबा से कहा कि यह बहुत ही पुण्य का कार्य हुआ कि बेचारी अनाथ ब्राह्मण की लड़की के हाथ पीले हो गये। बिचारा मेरा गूँगा बहिरा पति अनेकों बार भीतरी महल में ताक-झाँक करता था किन्तु मुझसे मिलने का उपाय ही कहाँ था·····एक दिन रात को मैंने राजा साहब से कहा कि मुझे मेरे पति से मिलने दिया जाये। राजा साहब का सुनते ही प्रसन्न मुख एकबारगी लाल हो उठा। उन्होंने पास ही रखी घंटी दबा दी। खिदमतगार हाजिर हो गया। उन्होंने एक इशारा-सा किया और खिदमतगार··· राक्षस-सा खिदमतगार दो ही मिनट में बाहर जाकर एक कोड़ा ले आया··· राजा साहब ने कहा—'सिर्फ इसे दिखा दो!' मैं यूँ ही अधमरी हो गई थी। मैं कोच पर बैठी थी। मेरे दोनों पाँव सुन्दर गलीचे पर रखे थे। उसने हल्के झटके के साथ एक हल्का-सा कोड़ा मेरे बायें पाँव पर मारा और जान पड़ा कि सैकड़ों बिच्छुओं ने एक साथ मेरे पैर में डंक मार दिया। मैं तड़प उठी। इसके बाद वही खिदमदगार मुझे उठाकर चन्दा के

कमरे में डाल गया। मेरा पैर जो कि जख्मी हो गया था दो महीने में ठीक हुआ। इसी बीच चन्दा ने मुझे बहुत-कुछ ऊँच-नीच समझा दिया। फिर राजा साहब से एक साल बाद भेंट हुई और फिर मास-दो-मास बाद भेंट होती ही रही किन्तु मैं इस भयंकर तर्क से ऊब चुकी हूँ···राजा साहब भी शायद मुझसे ऊब चुके हैं। मेरी तीन सन्तानें भी जन्म लेने से पूर्व ही नष्ट की जा चुकी हैं और अब शायद इस चौथी सन्तान के साथ मैं भी नष्ट कर दी जाऊँ···इसीलिए मुझे यहाँ लाया भी गया था···कल रात चन्दा ने मेरे भोजन में हल्का जहर मिलवा दिया था किन्तु मैं किसी छल से उसे बचा गई···वह समझती थी कि मैंने खाना खा लिया है···फिर सबेरे मुझे बरबस नदी स्नान को ले जाकर उसी में ढकेल कर मानो मुझसे मुक्ति पा ली। जीना तो मैं भी नहीं चाहती पर तैरना जानती थी, इससे चाह कर भी डूब नहीं सकी। दिन भर इधर-उधर पेड़ों के झुरमुटों में छिपती रही, अब सूझ नहीं पड़ता था कि क्या करूँ···तुम एक काम करो न···' 'क्या ?' 'मेरे हाथ-पैर बाँध कर मुझे नदी में फेंक आओ। यूँ तो मरा भी नहीं जाता।' पुरुष द्रवित हो चुका था। उसने उठ कर नारी के पैर छुये और अपनी असंस्कृत भाषा में कहा—'तुम बामन की सन्तान हो। मैं मूरख अछूत जात हूँ···पर जो तुम्हारी सेवा बन पड़ेगी करूँगा···यों मन छोटा न करो···मानुख का चोला बड़ी मुश्किल से मिलता है सो आत्महत्या कर के पाप न बटोरो···जो हो गया सो हो गया···अब धरम धारन करो।' और वह उसे एक परिचित सुरक्षित गुफा में छिपा आया था। आकर जब वह कड़ी धरती पर लेटा तो उसे जान पड़ा कि उसका जन्म आज ही सार्थक हुआ है। राजा साहब दलबल सहित दो दिन बाद चले गये। तीसरे दिन लोगों ने देखा कि गुड़ई मजूर अपने साथ एक सुन्दर, गर्भवती स्त्री को ला रहा है। उसने गाँव वालों को बताया कि वह दूर के गाँव के एक पुजारी की दूर के रिश्ते की हाल की विधवा हुई भांजी है। उसका संसार में कोई नहीं है। पुजारी मामा भी

सुरग सिधार गये सो वह यहीं पड़ी रहेगी और गाँव के टूटे मन्दिर के शिव जी की सेवा किया करेगी। गुड़ई के बाप को कुछ अच्छा नहीं लगा किन्तु अछूतों, जुलाहों के गाँव में एक बामन की जाति का आ जाना इतने बड़े सौभाग्य की बात थी कि वह भी कुछ न कह सका···गाँव वालों ने मिल-जुलकर विधवा बामनी के पति की निशानी को बचाने की बड़ी कोशिश की किन्तु लड़का हुआ और तुरन्त मर गया। तभी से पचास वर्ष हो गये। विधवा बीमनी किसना इस गाँव की एक मात्र ऊँची जात है। उसकी ज़ुबान तेज है और जब से इस वर्ष मुखिया के पिता का देहान्त हो गया तब से तो मानो किसना पुजारिन की ज़ुबान की लगाम ही नहीं रही। अढ़सठ, सत्तर बरस की किसना की कमर कुछ-कुछ झुकने लगी है। अभी तीन बरस पहले तक तो वह दो-चार मन अनाज पीठ या सिर पर रखे मीलों चल लेती थी किन्तु मुखिया के पिता की मृत्यु के बाद से तो मानों वह वृद्धा हो गई है। ज़ुबान का सारा रस भी सूख गया है। मंजुला का गाँव में आना तो जैसे उसे ज़हर ही लगा है। कभी-कभी तो वह मंजुला को देखते ही गालियाँ देने लगती है। मंजुला सुन कर चुप रह गई किन्तु जगन के तो जैसे हाड़ ही जल गये। उसे बुढ़िया यों भी कभी नहीं सुहाती थी। उसने जल कर कहा—'और तुम्हारे चरित्तर तो गाँव भर जानता है बूढ़ा। बड़ी भगतन बनी हो।' बुढ़िया के संयम का तो मानों बाँध ही टूट गया। उसने हाथ की कलसी धरती पर रख दी और चीख़-चीख़ कर कहना शुरू किया—'नासपीटे! मेरा सहारा उठ गया, इसीलिए तो तू ऐसा कह रहा है। तेरी लहास उठे···तुझे काल खाये···तुझे साँप डस जाये···इस कलमुँही, चुड़ैल के पीछे मुझ से रार न ले···कहे देती हूँ···मुझ से बुरा कोई न होगा···मैं भगतन नहीं हूँ और यह···यह···चुड़ैल···' बुढ़िया बके जा रही थी। गालियों की भी कमी नहीं थी और बीच-बीच में जगन भी छेड़ देता था··· 'तू उनके पैर की धोवन भी तो नहीं है।' 'हाँ, हाँ वह जवान है ना···' और बुढ़िया फिर कोसने, गालियों की बौछार शुरू कर

देती थी। मंजुला इसी बीच चुपचाप वहाँ से टल गई। गाँव भर इकट्ठा हो गया था और थोड़ी देर में लोग लड़ाई का विषय भूल कर केवल बुढ़िया की गालियों का ही आनन्द ले रहे थे। मंजुला परिस्थिति को समझने का प्रयत्न कर रही थी। एक ओर मूर्खता है, पाखण्ड है, अन्ध-विश्वास है और मूढ़ता है···दूसरी ओर मानसिक ग्रन्थियाँ हैं, अभिशाप है, क्लेश, कष्ट सहन की शक्ति चुक जाने पर हो जाने वाले विकार हैं··· क्या करूँ···कैसे करूँ···अरुण बाहर का ही काम करने से कम समय पाता है···अकेली मंजुला ही समस्त संघर्षों के बीच अपना मार्ग बनाने के लिए विवश है, तिस पर यह सब कुछ ही तो उसका अपरिचित है, उसके लिये नया है···मंजुला का सिर चकरा उठा···वह क्या करे···उसका जी चाहा कि जोर से रो दे···क्या यहाँ उस कालेज की अपेक्षा अधिक सुविधा है··· अधिक मानसिक स्वतंत्रता है उसने अपने आप से पूछा। कहाँ है मानसिक स्वतंत्रता इस इतने बड़े विश्व में···वह कहाँ जाये···क्या करे···कैसे करे···क्या वह परिस्थितियों की स्वामिनी है···क्या सब कुछ संसार में अपनी ही इच्छा से हो पाता है···मनुष्य क्या है···और उसकी हस्ती ही कितनी है···किसना महराजिन उससे क्यों नाराज है···गाँव वाले उसे ठीक-ठीक अपना क्यों नहीं पाते। सदियों के संस्कार क्या क्षण मात्र में उड़ाये जा सकते हैं···किन्तु···प्रयत्न तो करना ही होगा···वह करेगी···अवश्य करेगी।

३०

'अरे तुम !' आश्चर्य से उसकी आँखें फैल-सी गईं···आँखों में विस्मय भी था और घना अविश्वास-सा भी। मन-ही-मन मृदुला उसकी भावभंगी पर मुस्करा उठी। उसने यथासम्भव स्वर को सहज बना कर कहा—'आपको मुझे यहाँ देख कर इतना अधिक आश्चर्य क्यों हुआ ?

क्या यहाँ मेरा होना एकबारगी निषिद्ध है ?' इस बार उसके कण्ठ-स्वर तक में प्रश्न था।

'नहीं, यह बात तो नहीं है किन्तु आज जिन्होंने मुझे याद किया था और जिनसे मिलने, जिनके घर में मैं आज यहाँ आया हूँ उनके घर में उनकी जगह आपके दिखाई देने की तनिक भी सम्भावना लेकर नहीं आया था, इसी से कुछ आश्चर्य हुआ।' मृदुला लान में आरामकुर्सी पर बैठी थी और अभी तक बैठी ही हुई थी। खादी के अधमैले कपड़े पहने गाँव वालों की-सी मुद्रा में चमरौधे जूते पहने अरुण खड़ा था और वह खड़ा ही रहा। जनशून्य इस प्रदेश में तीन दिन बाद एक पूर्व परिचित को अचानक ही देखकर मृदुला क्षण भर को आनन्द से अभिभूत हो उठी थी। उसे व्यवहार का ज्ञान भी नहीं रहा था। अब ज्यों ही ध्यान आया कि सामने खड़ा व्यक्ति कभी उसका गुरु रहा है वह एकदम खड़ी हो गई। ससम्मान उसने कहा—'मास्टर साहब ! आप बैठिये तो। क्या खड़े ही रहेंगे ?' अरुण मृदुला को देखते ही न जाने क्यों अचानक ही प्रसन्न हो उठा था किन्तु जब उसी मृदुला ने बैठे ही बैठे बात की तथा उसे बैठने तक को नहीं कहा तो उसका मन एकबारगी तिक्त हो उठा। वह लौटना ही चाहता था। उसे लगा कि उसकी वह नन्हीं-सी भक्त शिष्या मृदुला आज न जाने किस जादू की छड़ी से छुई जाने पर इतनी गौरवशालिनी, अभिमानिनी, गर्विणी हो उठी है कि उसे समस्त पुराने सम्बन्ध ओछे, व्यर्थ एवं थोथे जान पड़ने लगे हैं। उसका जी चाहा कि तुरन्त ही लौट जाये। उसे जान पड़ा कि उसकी शिक्षा में कहीं कोई कमी रह गई है। अनजाने ही उसका तुम आप में कब और कैसे बदल गया यह वह जान भी न सका; किन्तु मृदुला समझ गई और तुरन्त ही सचेत भी हो गई। सरलचित्त अरुण का रोष मिट गया। बालिका मृदुला इस समय भरी पूरी नारी हो गई थी। अरुण को वह साक्षात् अन्नपूर्णा की मूर्ति-सी जान पड़ रही थी। उसने सहज भाव से कहा—'मृदुला ! शायद तुम्हीं वह कुँवरानी हो जिसके

सौन्दर्य और स्वभाव की चर्चा आसपास के सभी गाँवों में हो रही है किन्तु तुम यहाँ आईं कब ?'

'बैठिये, मास्टर साहब, फिर सभी कुछ बताऊँगी किन्तु आपकी ऐसी दशा क्यों हो गई ?'

अरुण एक कुर्सी पर बैठ गया। मृदुला भी बैठ गई।

कुछ क्षण दोनों ही चुप रहे। फिर मृदुला ने ही कहा—'मास्टर साहब! लोग मुझे कुँवरानी ही कहते हैं। गत वर्ष मेरा विवाह हुआ था और यहाँ आये तो मुझे अभी दो महीने ही हुए हैं। शुगर मिल चालू हो गई है। उनका आना जरूरी था। साथ ही मैं भी आ गई।'

'अच्छा किया। अब कम-से-कम अपनी आँखों से तो अपनी स्वर्णिम धरती, अपने गाँव, अपना देश देख पाओगी। यूँ सभी कुछ चर्म चक्षुओं से देखा जाता है यह मैं नहीं मानता किन्तु देश के भाग्य-विधाता इस देश के गहरे अन्तर को चर्म चक्षुओं से देख ही पाते···' अपनी धुन में अरुण कहे जा रहा था। उसका रङ्ग कुछ साँवला हो गया था। बाल बिना बने रूखे-सूखे ही बिखरे हुए थे किन्तु दृष्टि का तेज कुछ और अधिक बढ़ गया था। मृदुला ने बीच ही में टोक कर कहा—'मास्टर साहब! रक्षा कीजिये। आपकी शरण हूँ। इतने दिनों बाद मिलने पर भी आपके उपदेश ही सुनने पड़ेंगे यह मैंने कल्पना भी न की थी।' मृदुला की भावभङ्गिमा पर अरुण खिलखिला कर हँस पड़ा। मृदुला को जान पड़ा कि वाह्य अन्तर ने आत्मा को तनिक भी प्रभावित नहीं किया है। उसे मानो कल्पना में वही शहरी चिकने-चुपड़े पूर्व के अरुण···मास्टर साहब तेजस्वी युवक ही दिखाई दिये। वह भी कई दिनों बाद मुक्तभाव से हँसने लगी। अरुण को जान पड़ा कि मेकअप के पीछे छिपी हुई कोई हल्की-सी कालिमा हटती जा रही है, मिटती जा रही है। बड़ी देर तक हँस चुकने पर अरुण ने कहा—'मृदुला! कुछ सनकी, झक्की तो सदा का ही हूँ किन्तु इधर जान

पड़ता है कुछ और अधिक पगला गया हूँ। सचमुच ही इधर लगभग एक वर्ष से न तो बोलने का अवकाश ही मिला और न श्रद्धालु श्रोता ही। अतः आज अचानक एक श्रद्धालु श्रोता पाकर इतने दिनों का रुका बाँध बरबस टूट गया। क्षमा करना।'

'काश कि क्षमा कर सकती।' मृदुला के मुँह से न जाने किस मूड में निकल गया। वर्षों का अन्तर कपूर की तरह उड़ गया। अरुण वही पुराना अरुण हो गया शायद उससे भी अधिक मुक्त, निर्द्वन्द्व, खुला-खुला-सा। उसने हँसते हुए कहा—'तब दण्ड ही देकर देख लेना।'

'आपको दण्ड दूँगी मैं? मैं तो आपकी शिष्या हूँ। वही सदा रहूँगी मास्टर साहब।' अरुण की दोनों आँखें अकारण ही पहले की भाँति जल उठीं।

'नहीं, तुम्हें अब और शिक्षा नहीं दूँगा, मृदुला। जीवन में बहुत कुछ देखा, बहुत कुछ सीखा। गहरे अनुभवों के बीच अनुभूति की एक सजीव रेखा पा ली और वह है करने से कहना कहीं छोटा है, कहीं ओछा है।'

'तब फिर आप मुझे गाँवों को, स्वर्णिम धरती को, देश को दिखाना क्यों चाहते हैं?'

'शायद इसलिए कि देख कर तुम कुछ करने की प्रेरणा पा सको।' मृदुला को जान पड़ा कि कुछ करना ही उचित होता। उसे याद हो आया अपने राजनीतिज्ञ पिता, मान्य पिता के भाषण का एक अंश जिसमें उन्होंने गम्भीर कण्ठ से कहा था—'जन-जन का हित ही हमारा लक्ष्य है और उसी लक्ष्य-प्राप्ति के लिये मिट जाना ही हमारी मंजिल है। हम बहुत कह चुके, बहुत सुन चुके। अब करने का समय आया है। स्वराज्य प्राप्त हुआ किन्तु देश वा राष्ट्र का नवनिर्माण तो हमें करना ही होगा···' करना ही होगा उसके कानों में गूँजने लगा किन्तु पिता ने इन गत अनेकों वर्षों में क्या किया। वह दो बार योरुप हो आये···दो नई मिलें आरम्भ कीं···न जाने

कितनी और संस्थाओं के पदाधिकारी बने किन्तु भीखां नौकर का अत्यधिक कुशाग्र बुद्धि पुत्र तो दसवीं पास करने के साधन भी नहीं जुटा पाया। मेरी लखपति विधवा मामी की सुपुत्री को पॉलिटिकल सफरर का स्टाइपेन्ड मिल गया। वह मेडिकल कालेज के फोर्थ इयर तक पहुँच गई किन्तु मंजुला···वह कुछ ठहर गई···उसका जी चाहा कि अरुण से···मंजुला के भाई से अपनी बाल-सखी के विषय में कुछ पूछे किन्तु उसे लगा कि उत्तर यही होगा कि मंजुला की शादी किसी क्लर्क से हो गई। उसके तीन रोगी, दुर्बल, चिड़चिड़े बच्चे हैं और बस···मृदुला की पूछने की हिम्मत नहीं पड़ी। दरिद्रता का जो अन्तिम दृश्य मृदुला देखकर आई थी और उसके पश्चात् आज तक जब उसने कोई खोज-खबर ही नहीं ली तो आज वह मास्टर साहब की इतनी आदर, स्नेह और गर्व की वस्तु को एकबारगी नग्न करके उनकी लज्जा को उघाड़ेगी नहीं···नहीं···वह ऐसा नहीं कर पायेगी··· किन्तु कुछ करना होगा···किन्तु क्या करेगी अभागी···पति द्वारा अनादृता मृदुला नहीं···नहीं···वह सब झूठ है···पति ने न जाने किस मूड में सबेरे वैसा कह दिया। फिर पुरुष हैं उन्हें काम-काज तो करना ही होगा। क्या स्त्री के आँचल से बँधे बैठे रहें···गलती मेरी ही थी। मुझे उन्हें उस प्रकार टोकना नहीं चाहिये। माना मैं उनकी प्रियतमा हूँ किन्तु पत्नी भी तो हूँ। मुझे तो उन्हें कर्तव्य-मार्ग में प्रेरित करना चाहिये न कि उससे विमुख···कितने अच्छे हैं वे···मैंने उन्हें अकारण ही अप्रसन्न कर दिया··· मृदुला ने चाहा कि अपने आपको आत्मविश्वास से भर ले किन्तु उसकी आँखें छलछला आईं···अरुण ने यह नहीं देखा···वह कुछ कह रहा था, कहे जा रहा था···अचानक मृदुला का ध्यान अपनी बातों की ओर न देखकर अरुण उठ खड़ा हुआ—'तो मैं जाता हूँ मृदुला! तुम कुँवर साहब से कह देना कि मैं आया था।' मृदुला चौंक उठी। 'नहीं-नहीं सो कैसे हो सकता है मास्टर साहब। आज इतने दिनों पर भेंट हुई है आपको चाय तो पीना ही होगा।'

'चाय पीना कभी का छोड़ चुका हूँ मृदुला।'

'तब कुछ नाश्ता ही सही।'

'क्यों गरीब की आदत बिगाड़ना चाहती हो?'

मृदुला ने मुँह उठा कर अरुण की ओर देखा। कठोर परिश्रम, उपवास और पौष्टिक खाद्य पदार्थों का नितान्त अभाव उसके मुख पर स्पष्ट था। मृदुला का अन्तर जाग उठा···वात्सल्य से उसका हृदय रसपूर्ण हो उठा···उसने अधिकारपूर्वक कहा—'यही तो मैं चाहती हूँ। आपकी आदत यदि बिगाड़ सकी तो समझूँगी कि कुछ किया।' अरुण फिर खिलखिला कर हँस उठा। 'भाई वाह! किसी की आदत बिगाड़ कर उसे दुःख पाने के लिये छोड़ देना कहाँ का न्याय है?'

'आदत बिगाड़ कर दुःख पाने के लिये छोड़ दूँगी क्या बस इतना ही आपने मेरा स्वभाव आज तक पहचाना है मास्टर साहब!' अरुण को जान पड़ा कि उसने कुछ कठोर-सी बात कह दी है, कुछ गलत कह गया है और कोमल मृदुला उससे कुछ मर्माहत हो गई है। क्षमायाचना के-से स्वर में उसने कहा—'मृदुला! तुम कितनी विशाल-हृदय हो यह क्या मैं नहीं जानता।'

मृदुला मुस्करा दी। इच्छा करके भी अरुण फिर उठ नहीं सका। मृदुला ने स्वयं सामने बैठकर अरुण को उस दिन बहुत आग्रह के साथ न केवल नाश्ता ही कराया वरन् भोजन के समय तक भी रोक रखा। मंजुला अकेली होगी यह मन-ही-मन सोचता हुआ अरुण मृदुला के, नारी के सहज आग्रह को किसी प्रकार भी अमान्य न कर सका। मृदुला को जान पड़ा कि दिन अच्छा बीता, संध्या अच्छी बीती। रात्रि को दस बजे चलते समय अरुण ने कहा—'मृदुला आज तो तुम्हें खूब कष्ट दिया किन्तु लोभी हूँ यह जान रखना फिर कभी यदि आ गया तो इतनी खातिर का प्रलोभन ही प्रमुख कारण होगा, यह जान रखना।' 'काश कि ऐसा हो पाता। मास्टर साहब! उन्हें बार-बार नगर जाने का काम रहता है। इस जङ्गल

में अकेली पड़ी रहती हूँ। आज आकर आपने मुझे कितना उपकृत किया है इसकी चर्चा करके अपने आनन्द के गौरव को कम करूँ ऐसी मूर्खा मैं नहीं हूँ किन्तु आप फिर भी आइयेगा।'

'कुँवर साहब से मिलने तो आना ही होगा। आज भेंट जो नहीं हो पाई।' 'मुझसे मिलने भी आना होगा।'

'अच्छा! वही सही।' प्रसन्न मन से अरुण को द्वार तक पहुँचा कर जब मृदुला अन्दर लौटी तो बूढ़ी दाई सामने खड़ी थी। उसने नम्र किन्तु दृढ़ स्वर में पूछा—'बहू रानी! यह रास्ते का भिखारी कौन था जो आज राज-अतिथि बनाया गया?'

मृदुला का मन प्राण प्रसन्न था। उसने मस्ती से कहा—'दाई माँ! यह चिन्ता तुम्हें क्यों हुई? अरे वह रास्ते का भिखारी सम्राटों का सम्राट होने योग्य है।' दाई की समझ में कुछ भी नहीं आया किन्तु उसने इतना ही कहा—'बहूरानी! यह राजघराना है। यहाँ की मर्यादा रख कर ही चलो तो अच्छा हो। कुँवरानी हो तो उसी गौरव से रहो।'

'किन्तु उन्हें बुलाया तो कुँवर साहब ने ही था।'

'राजा भैया होते तो और बात थी। उनके पास कुछ माँगने-जाँचने आया होगा। राजा के द्वार पर अनेक लोग आया करते हैं पर रानी क्या उन्हें महल में बिठा कर मोहन भोग थोड़े ही खिलाती हैं। अरे खिलाना ही था तो थाली नौकरों की तरह भिजवा देतीं। वह तो कुशल समझो कि किसी ने देखा नहीं…'

'दाई माँ, जो बात तुम समझती नहीं हो उसमें मत बोला करो।'

'बड़े राजा के जमाने से इस घराने की रीति नीति जानती हूँ रानी बहू। राजा भैया तक मेरे सामने यहीं रुकते थे जानती तो हो। मेरे जीते जी यह सब नहीं चलेगा कि राजा के पीछे भिखारी आकर महलों में आदर पा जाये कहे रखती हूँ।' और बूढ़ी दाई झमझमाती चली गई। मृदुला

जानती थी कि कुँवर साहब दाई की बात बहुत मानते हैं। यह न जाने क्या किस तरह कब उनसे कहे। उसे अपनी दयनीय दशा पर रोना आ गया। वह गृहस्वामिनी है और आज उसे एक व्यक्ति को भोजन कराने का भी अधिकार नहीं है। अभी उस दिन कुँवर साहब ने डिनर दिया था सेन्टर के एक मिनिस्टर के सम्मान में·····वह कैसे चरित्रहीन हैं यह क्या कोई कहने की बात है·····बार-बार घूम-फिर कर मृदुला के ही कंधे पर हाथ रख देते थे·····किन्तु कुँवर की आज्ञा थी कि वे प्रसन्न हो जायँ·····उस दिन उस विदेशी के सत्कार में जब डान्स का आयोजन हुआ था तो उसने न जाने कितनी शराब पीकर नशे में मृदुला से न जाने कैसे अनर्गल मजाक किये थे·····मृदुला को वह तनिक भी अच्छा नहीं लगा किन्तु उसे उसके विरुद्ध करने पर भी फिर-फिर बुलाया गया·····वह नारी है इसी से घर में उसका अधिकार, उसकी इच्छा नगण्य है·····वह पत्नी है···लोक-परलोक दोनों में ही उसे समानाधिकार प्राप्त है···वह नारी है···भारतीय संविधान में उसे समानाधिकार प्राप्त है किन्तु·····यह स्वेच्छा से एक व्यक्ति को घर में भोजन भी नहीं करा सकती···क्यों·····क्योंकि वह नारी है·····किन्तु वह इस नौकरानी से डरती ही क्यों है···उसका स्वामी उसका है···और उसने अपराध ही क्या किया है···यही ना कि उसका अतिथि कोई सत्ताधारी नहीं है·····धनी नहीं है···मानी नहीं है···किन्तु यह तो कोई अपराध नहीं है·····घर की मर्यादा···क्या घर की मर्यादा की रक्षा···झूठे आडम्बरों से घिरे सत्ताधिकारियों की पूजा करके ही रखी जा सकती है····· किन्तु कितने धनी हैं मास्टर साहब·····मन का धन, चरित्र का धन देखता ही कौन है·····स्वराज्य हो गया किन्तु कहाँ पूछ है आज भी यथार्थ मानव की·····मृदुला की आँखें भर-भर आ रही थीं·····उसे जान पड़ा कि दो जलती आँखें उसके सामने ही चमक रही हैं···मानों मास्टर साहब कह रहे हैं—'मृदुला इस मर्यादा के धनी घर का अन्न बरबस खिलाकर तुमने मुझे अपमानित किया। मैं पथ का भिखारी हूँ किन्तु मन का भिखारी नहीं···

तुमने……' वह काँप उठी……रात को अचानक एक बजे उसकी आँख खुली तो देखा कि कुँवर का पलँग तब भी सूना पड़ा था। मृदुला ने एक गम्भीर साँस ली। उसका सर्वाङ्ग काँप उठा। 'मैं कुँवरानी बनी हूँ तो मुझे उसी गौरव से रहना पड़ेगा।' तब क्या केवल इसीलिए मैं अपने गुरु तक का अनादर करूँ कि मैं कुँवरानी हूँ……किन्तु मैंने दाई माँ से बताया भी तो नहीं……बताकर होगा भी क्या……यह तो उन्हें रास्ते का भिखारी कह रही थी तब फिर कुछ और कह कर उन्हें छोटा करना क्या उचित था……किन्तु खादी पहन कर ही क्या कोई छोटा हो जाता है…मेरे पिता तो शुद्ध खादी ही पहनते हैं किन्तु उनका तो सभी लोग बहुत आदर करते हैं…क्यों…किसलिए…वह मिनिस्टर हैं…और…और…मास्टर साहब… अनचाहे ही उसके मन ने कह दिया…शायद मानव…मानव क्या है… उसकी परिभाषा क्या है, उसकी पहचान क्या है कुँवर मानव है क्या…वह अचानक ही कल्पना में कुँवर की अरुण से तुलना करने लगी…किन्तु तुरन्त ही चौंककर सहम कर रह गई…यह मैं क्या कर रही हूँ…कुँवर मेरे पति हैं…जन्म-जन्म के आराध्य देव हैं…और…और…मास्टर साहब मेरे कौन हैं…कोई भी तो नहीं…गुरु…केवल गुरु…सो भी दीक्षा गुरु नहीं… ट्यूटर…फीस लेकर पढ़ाने वाले मास्टर, फिर भी मैं बार-बार उन्हीं की बात क्यों सोचने लगती हूँ…बार-बार मन उधर ही क्यों चला जाता है? उनकी बातें अच्छी लगती हैं…कड़वी हों तो भी अच्छी लगती हैं…और यह मैं फिर क्या सोचने लगी……कुँवर साहब तो बहुत ही अच्छे हैं……कितने सुसंस्कृत हैं…कलचर्ड हैं, सभ्य हैं…कितने प्यारे लगते हैं…मेरे प्राण… मेरे सर्वस्व…मेरे जन्म-जन्म के तप के पावन वर…मेरे प्रिय…मैं मूर्ख हूँ…मूढ़ हूँ…अपने स्वामी के गुणों को पहचान नहीं पाती हूँ…मूर्ख स्त्री ही तो हूँ किन्तु नहीं…यह बात तो नहीं है…कुँवर साहब जो विवाह से पूर्व थे वह तो आज नहीं हैं…क्या यह सचमुच का अन्तर है या मेरा दृष्टि-भ्रम है…उसका जी चाहा कि कुँवर उसके पास होते और वह उनके

सामीप्य से बल प्राप्त करती···उसे जान पड़ा कि वह कमरे में अकेली है··· एकबारगी अकेली···उसे डर लगने लगा···उसे स्निग्ध रात्रि में बल्ब की हल्की नीली रोशनी में दो चमकती हुई ज्वालाभरी आँखें ठीक अपनी ओर ही घूरती हुई-सी जान पड़ीं···काश कि कुँवर होते, उसके निकट होते... बिल्कुल पास होते और वह···वह···उसे लगा कि वह विक्षिप्त हो जायगी···उसका जी चाहा कि पलँग पर लगी घंटी बजा दे···नौकरानी आ जायगी किन्तु···किन्तु···नहीं···नहीं···वह उतनी कायर नहीं है···कायर नहीं बनेगी···तभी उसे ध्यान आया कि उसकी नौकरानी पास ही के कमरे में सो रही होगी···जहाँ पर कि घंटी सुनते ही उसकी नींद खुल जायगी··· वह तुरन्त हाजिर हो जायगी···उसे सदा सचेत रहना पड़ता है···उसे घंटी की आवाज सुनते ही हाजिर होना पड़ता है। यही क्रम एक वर्ष से चल रहा है। इसमें कभी व्यतिक्रम नहीं हुआ। उसे कभी छुट्टी नहीं मिली···वह दासी है···नौकरानी है। उसका पति नौकरों के क्वार्टरों में सोता है···यह वहाँ किसी रात भी नहीं जा सकती···वह यहाँ किसी रात भी नहीं आ सकता···न जाने कब कुँवरानी साहिबा को नौकरानी की जरूरत पड़ जाय। क्या उसे कभी डर नहीं लगता···क्या उसे कभी अकेला नहीं लगता····· मैं आज तड़प रही हूँ कि कुँवर यहाँ होते·····क्या वह कभी इस प्रकार नहीं तड़पती कि उसका पति उसके पास होता·····वह भी तो नारी है··· ठीक मेरी ही तरह·····मुझे रात को उसकी आवश्यकता पड़ सकती है क्या उसे इसी प्रकार रात को किसी की आवश्यकता नहीं पड़ सकती·····मैं कुँवरानी हूँ और वह नौकरानी·····यही तो भेद है·····मात्र यही अन्तर है·····अरुण इस समय न जाने किस टूटे-फूटे मकान के फर्श पर, चटाई पर या टूटी चारपाई पर लेटा होगा·····क्या वह भी जाग रहा होगा··· क्या उसे भी नींद नहीं आई होगी। क्या उसे भी किसी की आवश्यकता होगी·····अरे·····यह मैं क्या सोचने लगी·····वे तो मेरे पूजनीय हैं·····मास्टर साहब हैं···गुरु हैं···श्रद्धेय हैं·· मैं बहुत दुर्बल हूँ·····न

जाने क्या-क्या सोचने लगती हूँ··· ··पर वह भी कैसे हैं मुझे अकेला छोड़ कर क्यों चले जाते हैं···कहाँ होंगे वे···क्लब में···होटल में···या कोठी में···कोठी में ही होंगे···क्लब अकेले कहाँ जायँगे···दिन भर के थके सो रहे होंगे·····होटल में तो जब से विवाह हुआ है वे ठहरते ही नहीं हैं···ओह ! उन्होंने अपनी सभी आदतें तो छोड़ दीं मेरे पीछे···केवल मेरे लिए कितने अच्छे हैं वे···क्या उन्हें नींद आ गई होगी···नहीं-नहीं उन्हें भी नींद नहीं आई होगी···वह सोच रहे होंगे कि मैं मृदुला के मना करने पर भी उसे छोड़कर क्यों आ गया·····नहीं···नहीं···वे नहीं सो सकते ·····कभी नहीं सो सकते···मेरे बिना उन्हें नींद आयेगी ही नहीं··· किसी प्रकार भी नहीं। तब मैं ही जिद करके उनके साथ क्यों नहीं चली गई···मुझे ऐसा ही करना चाहिये था·····वह बेचारे तो बिल्कुल निरीह हैं·····अपने आराम का भी तो उन्हें खयाल नहीं रहता···मैंने बड़ी गलती की···न जाने कब मृदुला गहरी नींद में खो गई·····

३१

'छैल-छबीली नैना चमकाती फिरती है सो क्या मैं नहीं जानूँ हूँ। ऐसा ही वह उसका अरे न जाने कौन है। भैया-भैया···भुतेरे ऐसे भइया देखे हैं·····कहने भर को भइया हैं·····साँड साधू में है। अधरम आ गया गाँव में और क्या कहूँ·····पूरा पाप है पाप'। 'अरे ऐसा तो न कहो दादी·····वह बिचारा तो किसी ओर कभी देखे भी ना है।'

'यही तो, यह सब छिपे रुस्तम होते हैं···भुतेरे ऐसे देख चुकी हूँ··· मैन···मैन···कहते इन्हें लाज भी नहीं आवे है···जोस बनाये जायँगे और मैन कहे जायँगे।'

'सो ही तो चाची आजकल की छोकरियों ने तो जहाँ रूप देखा बस गुन देखने लगी·····पर गाँव घाट में अधरम मैं तो नहीं सह सकती।'

'अरे रहने भी दो··· ··तुम अधरम क्या उसका मूँड सहोगी···खूब सहोगी नहीं तो रहोगी कहाँ·····' किसना को मन ही मन वह दिन ·· पचास वर्ष पूर्व का वह दिन याद आ गया जब वह इस गाँव में आई थी···रही थी···और जब इसी प्रकार स्त्रियों ने मुखिया के पिता···इसी स्त्री की सास को सिखा-पढ़ाकर उसकी पति से लड़ाई करवाई थी···और फिर जब मुखिया के पिता ने उसकी भली प्रकार लात-हाथ से कुंदी की थी तो उसे तीन दिन गुड़-हल्दी पीनी पड़ी थी और साथ ही साथ उसके मुँह से लगातार गालियों की बौछार होती रही थी। फिर एक दिन किसना ने आँखों में आँसू भर कर मुखिया के पिता का हाथ पकड़ कर कहा था—'देखो मेरे पीछे जो तुमने बहू को कुछ कहा तो कहीं कुएँ-पोखर में डूब मरूँगी। मेरे कौन रोने वाला बैठा है।' और किसना महराजिन की बूढ़ी आँखें भी उस याद से सजल हो उठीं कि उसने कितने प्यार से इसका दूसरा हाथ पकड़ कर तनिक-सा दबाते हुए कहा था–'तेरे पीछे तो मैं उसके परान भी ले सकता हूँ। पर जाने दे तू कहती है तो अब कुछ नहीं कहूँगा।' और फिर उसने वचन निभा दिया। जब तक जिया उसे तो कुछ नहीं कहा किन्तु किसना को भी निभा दिया किन्तु वर्तमान मुखिया की माँ, उसकी पत्नी तो किसना को फूटी आँखों भी नहीं देख सकती थीं···उसने बेटे को सिखा-सिखा कर किसना को···बुढ़िया किसना को बहुत दुःख दिये और निरुपाय, अपाहिज किसना बुढ़िया उन सबको रो-रोकर मुखिया के पिता का नाम मन ही मन ले-लेकर और सब पर अजस्र गालियों की बौछार कर-करके सहती रहीं। मुखिया की माँ की बहू से किसी दिन भी नहीं बनी थी। किसना को बहू बहुत मानती थी·····चाची-चाची कहते मुँह सूखता था। क्षणेक को किसना को लगा कि इस निरीह स्त्री के जीवन में भी मैं विष ही तो घोल रही हूँ···इसे भी भार पड़ेगी·····इसका दाम्पत्य

जीवन भी विषमय हो जायगा किन्तु··· ··तुरन्त ही उसका रोम-रोम जल उठा···किसने कभी दया की थी मुझ पर···जब अत्यधिक सुन्दरी···तेरह-चौदह वर्ष की कुमारी कन्या पर पचास वर्ष के पुरुष ने अत्याचार करके उसका जीवन विषमय कर दिया था तब किसे दया आई थी···मैं भी कभी पुत्रवती हो सकती थी·····मेरी भी एक छोटी-सी किन्तु भरी-पूरी गृहस्थी हो सकती थी·····मेरा भी पुत्र होता···वही अभागा जीता रहता···मैं भी तो बाँझ नहीं थी···राजकुँवर···मेरी भी बहू होती···किन्तु कहाँ है आज ? मैं चार बार गर्भभार सहकर भी बाँझ हूँ·····अभागी हूँ···निपूती हूँ····· संसार में अकेली हूँ···मैंने किसी का क्या बिगाड़ना चाहा था, क्या बिगाड़ा था किन्तु मेरी जिन्दगी तो बिगड़ ही गई···फिर यही दुष्टा क्यों पुत्रवती बनी बैठी है···उसे जान पड़ा कि उसके सत्तर वर्ष पुराने हाड़ फुँक उठे··· रोम-रोम जल उठा···मुखिया की युवती पत्नी कह रही थी—'देखती जाओ चाची···इस अधरम की जड़ ही न खोद डाली तो कहना ·····'

पड़ोस की नवयुवती ने कहा—'जीभ गलकर गिर जायगी भाभी जो देवता लोगों को अधरमी पापी बनाओगी। वे लोग तो राजे हैं राजे···हम गरीबों का दुःख उन्हें यहाँ खींच लाया है नहीं तो वे तो देवता हैं। देखा नहीं कैसी निःस्वार्थ गाँव भर की मामता करते हैं।'

मुखिया की पत्नी जल उठी·····जब ये लोग गाँव में आये थे तो मंजुला ने मुखिया की पत्नी से ही पहले-पहले बात की थी। मुखिया के घर की हारी बीमारी में जब मंजुला ने जी जान से सेवा की तो मुखिया की पत्नी सोना से उसका सहज सखीत्व स्थापित हो गया ··किन्तु वह तो अतीत की बात है। तब तो स्वयं सोना गाँव भर में कहती-फिरती थी कि देवी-भगवती गाँव में पधारी हैं अब हम सब का दुःख से निस्तार हो जायगा। पिछले कुछ दिनों से पहले जब मुखिया कहता देखो तो कैसी मुँह उघाड़े घूमती है। न लाज है न सरम, तो उसकी पत्नी कहती मर्दों के मुँह में आग···कहीं दई-देवता भी लाज-सरम करते हैं···अरे उधर न देखा

करो आँखें फूट कर रह जायँगी। वैसा रूप क्या कभी स्त्री का हो सकता है·····वह देवी है देवी कोई सराप मिरिष्ट होगी। किन्तु पिछले कुछ दिनों से मुखिया कहता है—'सचमुच सोना तू ठीक कहती थी वह तो सच-मुच देवी हैं·····भाई-बहन जैसे सुरग से ही उतर कर आये हैं नहीं तो उनके दिल में गरीब के लिए उतनी दया-माया कैसे होती। मैं तो मान गया तुझे···रानी-महारानी जैसा रूप···दया का सागर···धन्य भाग हमारे जो इहाँ ये लोग पधारे हैं·····हम लोग इनकी कुछ सेवा ही नहीं कर पाते···यही हमारी सेवा करते हैं···' और न जाने कितनी देर क्या-क्या कह कर दोनों भाई-बहन के गुणगान करता रहता·····सोना तमक कर कहती—'अरे अब रहने भी दो गुनगान···सो भी जाओ···सबेरे तड़के खेत निराना है···देख ली तुम्हारी देवी···महरानी···सत्तर चूहे खा के बिल्ली हज को चली·····' और फिर कुछ देर दोनों में कहा-सुनी होती रहती। पति कहता—'तू भी विचित्तर है···मैं तो तेरी देवी की बड़ाई कर रहा था तू चिढ़ती क्यों है·· ···' 'हाँ, हाँ···मैं तो तुम्हें चिढ़ती ही लगती हूँ···मैं तो हूँ ही बुरी···अच्छी तो तुम्हारी देवी महरानी है···'

'अरी मुँह में कीड़े पड़ेंगे ऐसा न कह·····'

'हाँ, हाँ, सरापो·····खूब सरापो मैं तो मर जाऊँ तो तुम्हें ठंडक पड़े फिर को खुल खेलो ना·····कहूँगी·····कहूँगी मैं तो छत्तीसी है वह छत्तीस···चुड़ैल ··कर लो मेरा क्या करते हो···मार ही तो डालोगे···सो दरोगा जी से जाकर मैं पहले ही तुम्हारे करम कह दूँगी···राँड को कहीं और मरने की जगह नहीं भी मिली थी।' कथा रोज की ही हो चली थी। मुखिया की पत्नी चिढ़कर, जलकर बोली—'बस-बस बहुत न सरापो···जीभ गले तुम्हारी···तुम्हारे होते सोतों की···यहाँ तो सच्ची बात कहेंगे और डंके की चोट पर कहेंगे···कर लो मेरा क्या करती हो···कुछ भइया कर लेगा कुछ बहनी कर लेगी···जा-जा···जाकर लगा दे उस बुढ़िया से···देखूँ मेरा क्या बिगाड़ लेती है···'

'अरे तुम्हारे मुँह कौन लगे·····' कह कर नवयुवती चलती बनी···किसना खड़ी-खड़ी थक गई थी···सो कुएँ की जगत पर ही टिक गई·····निरुपाय क्रोध से सोना फुँकी जा रही थी। उसने दहाड़ने के-से स्वर में कहा—'चाची! तुम देख लेना एक-एक को ठीक कर दूँगी ··ये हैं किस खेत की मूली···' किन्तु उसे सूझ नहीं पड़ता था कि किसे और कैसे ठीक किया जायगा···किसना को मन ही मन एक विचित्र आनन्द, विचित्र सन्तोष-सा हुआ···न जाने क्यों अकारण ही मंजुला को देखते ही वह जल उठती थी···उसे अपना कुछ-कुछ पचास वर्ष पूर्व का रूप दीख पड़ता था···उसे लगता था कि उसकी तीसरी सन्तान वह लड़की यदि मार न डाली जाती तो ऐसी ही होती; किन्तु कहाँ है उसकी वह लड़की···उसकी कोख की सन्तान, उसकी विवशता का फल, उसके ममत्व का आश्रय····· कभी-कभी उसका जी चाहता कि मंजुला किसी प्रकार से यहाँ से चली जाय···अपने गत पचास वर्ष के जीवन में वह कभी भी तो इतनी दुःखी नहीं हुई थी···उसे मंजुला से उत्तरोत्तर अधिकाधिक घृणा होती जाती थी···उसे समझ ही नहीं पड़ता था कि उसे क्या हो गया है···रातों सोते-सोते चौंककर वह अकारण ही सम्भव-असम्भव मंजुला को मार डालने, यहाँ से भगा देने की योजनाएँ बनाने लगती थी···गाँव भर की स्त्रियों में मंजुला की चर्चा होने लगी थी···किसना महराजिन ने मंजुला को आम के बगीचे में आधी रात मुखिया के साथ देखा था···किसना वहाँ आधी रात क्यों गई उनकी चिन्ता किसे थी किन्तु यह सत्य है। सबने मान ही लिया कि किसना ने जो देखा सो ही तो कहा—वो बिचारी झूठ थोड़े ही कहती·····मुखिया की माँ ने कहा—'हाँ, खुद तो दूध की धोई है ना··· मेरा घर बिगाड़ कर···अब पुजारिन बनी फिरती है।' बहू ने कहा—'चाची बिचारी अधरम नहीं देख सकती·····हाय रे गाँव में ऐसा अधरम कैसे चलेगा···कुछ नवयुवतियों ने आपस में इशारे करके उन दिनों की याद ताजी कर ली जब सोना जगन पर डोरे डाल रही थी और फिर जगन

कसबे में मील में नौकरी करने चला गया नहीं तो जाने क्या हो जाता··· कोई-कोई तो होठों के कोनों में मुस्करा भी देती थीं किन्तु चर्चा जोर से चल रही थी···और चलती ही रही···आरम्भ में अधिकांश महिलाएँ नवागन्तुकों के ही पक्ष में थीं। उन पर उन दोनों के एहसान भी तो कम नहीं थे किन्तु कितने लोग विश्व में एहसान याद रखते हैं। विचित्र है मानव स्वभाव भी उपकृत मनुष्य ही तो विश्व में सर्वप्रथम शत्रुता करने लगता है। प्रशंसा की अपेक्षा निन्दा प्रिय जान पड़ती है···कुछ ही देर में पनघट का वातावरण सरस हो उठा। अगली-पिछली छोटे से गाँव की सभी इस वर्णन की कथाएँ विभिन्न रूप में विभिन्न ढंग के मन-मस्तिष्क में, स्मृति में जाग उठीं···और जान पड़ी एक नवीन चेतना जिसमें एक नये रोमांस की गन्ध थी···युवतियाँ मुस्करा-मुस्करा कर उस रोमान्स को सजीव करना चाहती थीं और प्रौढ़ाएँ तनिक होठ बिचका-बिचका कर जवानी सतीत्व की धाक जमा रही थीं···वृद्धाएँ घोर घृणा एवं अश्रद्धा से उस अविवाहित युवती के सभी उपकारों को भूल कर 'शिव···शिव···ऐसा अँधेर भी कहीं होता है' कह रही थीं···पान की पीक से होठ रंगे धनिया को चर्चा की गन्ध पाते देर नहीं लगी···उसने आते ही तपाक से कहा—'किसे फाँसी चढ़ाया जायगा ?' किसना अभी पनघट से टली नहीं थी। अत्यन्त सन्तुष्ट होकर धीमे-धीमे स्वर में कह रही थी—'ऐ लो मुझे क्या ? मेरी क्या कोई उमिर रह गई है कोई कुछ भी करे···अपनी धरती का तनी मोह है और क्या हमें···कोई कुछ भी करे···सोना का घर उजड़ते नहीं देखा जाता··· नहीं तो बुढ़ौती में हमें क्या कोई कुछ भी करे···तनी···अधरम नहीं सहा जाता नहीं कोई कुछ भी करे·····' धनिया का स्वर सुनते ही किसना का स्वर तनिक ऊँचा होकर फटे बाँस-सा चरमराउठा—'मेरे मुँह न लगना। कहे देती हूँ···बस···बस···दूर रह···बरम साप दे दूँगी···घर बंस का नास हो जायगा···' धनिया ने हँसते हुए बात काट कर कहा—'दादी बंस में है कौन जिसका नास करोगी···हो ना बरम साप···' सभी औरतें एक बार

काँप गई। बड़ा जिगरा पाया है तभी ना खसम को मार कर सती हो रही है। धनिया की आयु कठिनाई से बीस वर्ष की होगी। साँवली सलोनी स्वस्थ मूर्ति है···मस्त तो ऐसी है कि क्या कहना···कहीं सादी-विवाह हो तो धनिया के बिना काम नहीं चलता, कहीं मरने उठाउवनी के बैन हों तो धनिया आगे···कहीं कोई काम-काज हो तो धनिया जुटी रहे रात-दिन पर लाग-लपेट किसी की नहीं रखती···चार-पाँच साल पहले धनिया का पति इसे लेकर नौकरी करने शहर चला गया था। वहाँ पति-पत्नी दोनों काम-काज करते थे तभी न जाने क्या हुआ कि धनिया का पति किसी कतल के मुकदमे में जन्म जेल पा गया। सुना जाता है कि जहाँ यह नौकर थे वहाँ इनका सेठ धनिया पर कुदृष्टि डालता था···धनिया ने अपने पति से कह दिया फिर दोनों ने मिलकर उसे वह सबक दिया कि बच्चा जी जन्म भर याद रखेंगे···सेठ बड़ा आदमी था दो ही महीने में धनिया का पति कतल में मुकदमे में फँस गया। पक्की गवाही थी···धनिया रोई-चिल्लाई पर वह तो जेल चला गया···अब धनिया बिचारी क्या करती पर थी एक ही जिगरे की औरत···सेठ को वह अँगूठा दिखाकर रातों रात गायब हो गई कि वह भी क्या याद करेगा कि चमरिया खूब निकली···तब से गायब धनिया कोई दो बरस से फिर गाँव में आ गई है···हाड़ तोड़कर मेहनत-मजूरी करती है किन्तु बनी-ठनी तो ऐसी रहती है जानो आज ही ब्याह कर आई हो···गाँव भर में मरदानी औरत है···ऐसी-वैसी थोड़े ही है। सत्तर घाट का पानी पिये है···पान तो मुँह में चौबीसों घंटे भरे रहती है···गाँव भर में पान की शौकीन भी वही है···दो···दो···चार-चार दिन के लिए कहीं चली भी जाती है तो भी गाँव भर में सब उससे भय खाते हैं और तो और बरस पहले एक बार गाँव में दरोगा जी आये तो यह उनसे भी ठठोली करती रही। फिर शायद उनसे मिलने शहर भी गई थी। सहज ही किसी को बदने वाली औरत नहीं थी। आज भी कई दिन पीछे दिखाई दी थी··· नई चुनरी···नई घघरी···नया सलूका···सब ठाठ ही नया था। मुँह में

पान भरे इस बरम साप माँगने वाली को सब स्त्रियाँ एक साथ देखने लगीं···किसना जल-भुन कर खाक हो गई। 'बरम साप से भी नहीं डरती मुँह झौंसी ! तुझे काल ले जाये···तेरी साँस न पलटे···' धनिया हँस रही थी···'बस कि कुछ और···दादी···फूल झर रहे हैं कहे जाओ·····सच कहती हूँ बड़ा अच्छा लग रहा है।' 'तेरा नास जाये·····' 'नास जाये तो जाये पर दादी मैं तुम्हारी जैसी पुलपुल-झुलझुल बुढ़िया न होऊँ यही आसीस हो···' किसना कलसा धरती पर पटक कर विवश क्रोध में जोर-जोर से चीख-चीखकर रोने लगी। सोना को बुरा लगा। उसने आगे बढ़कर कहा—'चल, चल बड़ी आई है रार बढ़ाने···हम किसी को कुछ कहें तुझे क्या ?'

'किसे क्या कहा है कुछ पता भी हो।'

'तू कौन है ? दरोगा कि कोतवाल ?'

'दरोगा और कोतवाल कभी देखा भी है···हविस है तो चल कभी दिखा दूँ···' कह कर धनिया हँसने लगी। सोना बेतहाशा गालियाँ दिये जा रही थी। अन्य स्त्रियाँ तमाशे में दिलचस्पी ले रही थीं···किसना महराजिन चीख-चीख कर रो रही थी। विचित्र दृश्य था। मंजुला जङ्गल से प्रातः कृत्य से निबट कर लौट रही थी। रूखे केश, सुन्दर देह और उजली-उजली आँखें···शोरगुल सुन कर कुएँ पर ही आ गई···उसने किसना महराजिन से ही कहा—'दादी माँ क्या हुआ ? रो क्यों रही हो ?' किसना महराजिन ने रुलाई के साथ-साथ गालियों की अजब झड़ी मंजु पर ही बरसाना आरम्भ कर दिया। मंजु परिस्थिति को न समझ कर तनिक घबरा-सी गई···फिर भी उसे संयम की शिक्षा मिली थी। उसने शान्त स्वर में, धीमे स्वर में सुबकती हुई सोना से कहा—'भाभी ! यह क्या बात है ?' सोना कुछ कह न सकी पर उसने पास आती मंजु को तनिक हाथ से पीछे कर दिया···किसना चिल्ला-चिल्ला कर गालियाँ दिये जा रही थी। अचानक मेघ-गर्जन के-से स्वर में बदनाम, मनचली धनिया ने कहा—'देवी जी !

इनकी दवा तुमसे नहीं होगी···तुम घर जाओ। इन्हें मैं ठीक कर लूँगी।' मंजु ने मुँह उठा कर इस बनी-ठनी पान के बीड़े मुख में भरे नारी की ओर देखा···उस दृष्टि में न जाने क्या था कि अचानक धनिया ने पान एक ओर थूक कर मंजुला के चरण छू लिये। पनघट का वातावरण स्तब्ध रह गया।

धनिया मंजु को साथ लेकर उसके घर आ गई। मंजु ने केवल इतना ही सुना था कि धनिया कुछ वर्ष पहले नगर जाकर अपने पति को किसी कत्ल के मामले में फँसा कर खुद कहीं गायब हो गई थी और अब इसी गाँव में रहती है···वह बहुत ही बदचलन है, कमीनी है, चंचल है और न जाने क्या-क्या है···दरोगा की मुँह-चढ़ी होने से कोई कुछ कह भी नहीं सकता···मंजु को भी संस्कारवश ऐसी स्त्री से कुछ घृणा-सी ही थी। धनिया न जाने क्या सोच रही थी। एकाएक उसने मंजु से पूछा—'देवी जी! क्या कभी पापी को भी भगवान छिमा कर देते हैं···' कुछ क्षण पूर्व की कड़कती आवाज सत्य है या यह करुणा विगलित भयभीत स्वर···मंजु कुछ निश्चय ही नहीं कर पाई ··फिर भी उसने रास्ते में ही एक-एक करके गज, गणिका, अजामिल आदि की कथाएँ धनिया को सुना डालीं···सुनते-सुनते अचानक धनिया खिलखिला कर हँस पड़ी···'अरे देवी जी! तुम कुछ नहीं जानतीं···जरा-बहुत दवाईदारू करके लोगों को ठीक करती हो···इनके पीछे परान गँवाती हो पर यह सुरंग थोड़े ही है धरती है धरती···इस पर देवता की तरह नहीं आदमी की तरह रहो···' इस बार स्वर की कठोरता स्पष्ट थी···मंजु मानव स्वभाव की पंडिता नहीं थी किन्तु वह समझ नहीं पाई कि इस नारी के भीतर पलने वाले दो व्यक्तित्व क्षण-क्षण में कैसे बदल जाते हैं···उसने प्रकट कहा—'ठीक कहती हो।' धनिया खिल उठी 'सो हो तो···यह पुजारिन है किसना कि कसाइन···कहो तो इसके किस्से गिना दूँ···देवी जी तुम कसाइन न कहना तो देखूँ···' मंजु का सुसंस्कृत मन ऊब उठा था। उसने बात काट कर कहा—'धनिया बहिन! किसी की

निन्दा सुनने से भी पाप होता है। 'धनिया ऐसे खिलखिला उठी जैसे यह कोई बड़े भारी मजाक की बात हो।' जैसे मैं तो पुन्न का ठेका ही लिये हूँ···जाने दो···अब मैं चली, रात की थकी हूँ···देही टूट रही है तनी सो लूँ···फिर तुमसे मिलूँगी जरूर···तुम मुझे बड़ी अच्छी लगी हो देवी जी··· पर फिर कभी रमाइन की कथा न सुनाने लगना मुझे अच्छी नहीं लगती वे बातें···यूँ कभी-कभी मन कर उठता है सुनने को···पंडित जी कहते थे कि सुनने का भी पुन्न होता है पर क्या करूँगी पुन्न बटोर कर···किसके लिये बटोरूँ···मेरा कौन बैठा है···लो मैं तो चल दी।' धनिया सचमुच झमकती हुई चल दी···मंजुला आश्चर्यचकित मार्ग में खड़ी जाती हुई धनिया की स्वस्थ पीठ को बड़ी देर तक देखती रही।

३२

मृदुला सोच रही थी कि अरुण फिर उस दिन से नहीं आया। मन ही मन वह भगवान से प्रार्थना भी कर रही थी कि अरुण न आये···कभी भी न आये···यहाँ न आये···कुँवर साहब तीसरे दिन लौट आये थे। बहुत प्रसन्न जान पड़ते थे···शायद अचानक ही उन्हें किसी व्यापार में बहुत अधिक लाभ हो गया था। मृदुला के लिये भी एक हीरे का सेट लाये थे। अत्यधिक आडम्बर के साथ उन्होंने मृदुला के गले में बड़े प्यार से सेट का नेकलेस पहना दिया था। न जाने क्यों मृदुला को यह सब अच्छा नहीं लगा। उन्होंने पूछा—'कहो कैसा लगा? मैंने खास बम्बई से तुम्हारे लिये मँगवाया है।' मृदुला को लगा कि यदि यह केवल यही पूछ लेते कि तुम्हें तो मेरे बिना बड़ा सूना लगा होगा। मृदुला वास्तव में मुझे भी अच्छा नहीं लगा पर क्या करता लाचारी थी काम जो था अथवा केवल यही कह देते कि अब तुम्हें कभी अकेला नहीं छोड़ूँगा या यही कह देते कि सचमुच इस वीरान जगह में तो अकेला रहना कठिन है। चाह कर भी उससे इससे अधिक कुछ नहीं कहा गया कि 'अच्छा है'···कुँवर साहब को

यह कुछ ठीक नहीं लगा···उनका विश्वास था कि स्त्रियाँ आभूषणों को प्राणों से भी अधिक प्रेम करती हैं···आभूषण देखते ही वह अत्यन्त प्रसन्न हो उठती हैं···अधिकांश पुरुषों की भाँति उनका भी यह विश्वास था कि स्त्रियों को प्रसन्न करने का सबसे अच्छा तरीका उन्हें उपहार देना है और वह भी आभूषण···किन्तु उन्होंने शायद यह नहीं सोचा कि···पत्नी···कुछ और भी चाहती है। वह हीरे का बहुमूल्य सेट देखकर मृदुला का प्रसन्नता से खिला हुआ मुख देखना चाहते थे···वह आशा कर रहे थे कि मृदुला उसके एक-एक हीरे को हाथ से छू-छूकर देखेगी और प्रसन्नता से नाच उठेगी···उस सेट का मूल्य उनसे पूछेगी और फिर कहेगी अरे तुमने इतना कीमती सेट क्यों ले डाला···अभी तो मेरे पास यूँ ही ढेर सारे आभूषण हैं···आदि आदि और वह मुस्करा कर कहेंगे अरे यह तो कुछ भी नहीं है···तुम पर तो लाखों न्योछावर करके फेंके जा सकते हैं और-और फिर मृदुला प्रसन्नता में उनसे लिपट जायेगी···किन्तु ऐसा कुछ तो हुआ नहीं··· उसने भली प्रकार सेट को देखा तक नहीं कह दिया बड़े ही बेमन से··· हौले से···अच्छा है···और बस···क्या यही सुनने के लिये उन्होंने तीस हजार रुपया खर्च किया था···कुँवर ने जन्म से ही धन प्रचुर मात्रा में देखा या खर्च भी खुले हाथों किया था और खूब किया था···यही नहीं··· वह उन व्यक्तियों में से थे जिन्हें खर्च करने का रोग-सा ही हो जाता है··· किन्तु वह केवल अपने पर ही खर्च करना जानते थे फिर इधर तो उन्हें धन की कमी भी थी···कुछ इधर-उधर के शेयरों के मूल्य भी घट गये थे और डिविडेन्ड भी कम ही मिल रहा था। खर्चे कुछ और भी बढ़ गये थे···यूँ दहेज में भी कुछ कम धन नहीं मिला था किन्तु साथ ही साथ कुछ नये खर्चे भी तो चालू हो गये थे···वह उस दिन मृदुला की अवहेलना करके गये थे किन्तु जाते ही उन्हें जान पड़ा कि उन्होंने वहीं कुछ गलती कर दी है। आखिर मृदुला भी एक प्रभावशाली व्यक्ति की बेटी है और उन्हें उसके पिता से बहुत कुछ काम निकालना है, अतः उन्होंने कहीं कोई ग़लती

अवश्य कर दी किन्तु करते भी क्या···उसी दिन तो उन्हें अपनी पुरानी मित्र प्रीति सान्याल का क्लब में आने का निमन्त्रण मिला था और उस निमन्त्रण की अवहेलना करना क्या कुँवर के बस की बात थी···प्रीति कितना अच्छा ब्रिज खेलती है यह क्या कोई कहने की बात है। कितने वर्ष हो गये मिले हुए···कितनी कल्चर्ड है और कितनी मीठी-मीठी बातें करती है···जान पड़ता है मानों मुँह से फूल झर रहे हों···किन्तु मृदुला यहाँ अकेली रह जायगी। उसे ले जाना तो ठीक होगा नहीं···नहीं···नहीं उसे भी ले चलूँ। अपने घर वालों से ही मिल लेगी किन्तु फिर यदि उसे भी साथ ले जाना पड़ा तो···प्रीति न जाने क्या समझे···शायद पसन्द न भी करे···मृदुला भी शायद उसे पसन्द न करे···नहीं यह ठीक नहीं है····· मृदुला यहीं रहे और अन्त में बाधा दिये जाने से चिढ़कर जो कुछ कह कर कुँवर चले गये थे वह कुछ विशेष शोचनीय नहीं था। कुछ ही देर में यह भी अनुभव कुँवर को होने लगा। वह समझौता करना चाहते थे किन्तु अन्तर की कोमल भावनाओं से उनका घनिष्ठ परिचय नहीं था। शब्दों के द्वारा भाषा के द्वारा प्रेमाभिनय वह इतनी अधिक बार कर चुके थे कि उसका उनके निकट अब मूल्य रह ही क्या गया था···फिर वह है तो पत्नी ही··· हिन्दू पत्नी···उनकी माँ भी पत्नी थी और उन्होंने बहुत-सी हिन्दू पत्नियाँ देखी भी थीं···यह भी सुना था कि नारी को आभूषण प्रिय होते हैं, अतः मनाने का सबसे अच्छा ढङ्ग उन्हें लगा हीरे का बहुमूल्य सेट ख़रीद कर ले जाना।

मृदुला मन ही मन सोच रही थी कि जिसे मन प्राण बाँध नहीं सकते···जिनके साथ प्राणों की श्वासें बँध नहीं सकतीं उनसे कुछ भी पाकर कैसे सँभाल पाऊँगी। यह कहते हैं कि इन्हें बाँधकर रख पाने की कल्पना भी न करूँ और बाँधे बिना क्या कोई कभी बँध सकता है···फिर लौटकर मैंने कैसे अकेले रातें काटी हैं इसकी इन्हें चिन्ता नहीं···दो मीठे शब्द नहीं·· दो सान्त्वना के शब्द नहीं···दिखाया केवल हीरे का सेट···

यही मेरा मूल्य है क्या···यही ये मुझे समझ पाये हैं···कल तक मैं अलभ्य थी···अमूल्य थी···और न जाने क्या-क्या थी···और आज मैं रह गई हूँ···छिः···छिः क्या सोच रही हूँ मैं···वह एकबारगी चुप थी··· ·

कुँवर ने फिर पूछा—'लगता है पसन्द नहीं आया।' 'नहीं ऐसी बात तो नहीं है। तुम लाये हो तो पसन्द क्यों नहीं आयेगा।'

'बस इसीलिए कि मैं लाया हूँ। यूँ तो चीज घटिया है न।' मृदुला को लगा कि वह कुछ गलत कह गई है किन्तु गलती कहाँ है यही वह खोज कर भी पकड़ नहीं पाई। उसका मन तिक्त हो उठा ··तीन दिन रात से इनके आने की···इनके दो मीठे बोल सुनने की प्रतीक्षा कर रही हूँ और इस सबके बदले में आज मिला है हीरे का सेट···मानव भावनाओं का मूल्य क्या पत्थर के टुकड़ों में चुकाया जा सकता है···क्या यह सम्भव है···भावुक मृदुला को लगा कि उसका हृदय फट जायगा···उसे लगा कि उससे जीवन कहीं में कहीं कोई गलती हो गई···उसे जान पड़ा कि वह ठगी गई है···उसे जाम नहीं पड़ा कि क्या उत्तर दे। घबरा कर उसने कहा—'नहीं, नहीं··· कीमती तो है ही···उसकी कीमत इसलिए और भी अधिक बढ़ गई है कि तुम लाये हो।' कुँवर के आत्माभिमान को कुछ बल मिला···उसे कुछ सन्तोष-सा जान पड़ा···मन मृदुला भी ओर से कुछ कोमल भी हो गया··· उसने स्वर को तनिक मृदु बना कर कहा—'मृदुला! जानती हो इसके लिए मुझे कितना रुपया खर्च करना पड़ा?'

मृदुला न चाहकर भी सोच गई कि क्या मूल्य ही विश्व में सब कुछ है। इन्होंने रुपया खर्च किया है। मेरे लिए हीरे का सेट लाने को·····किन्तु यह क्या मेरे लिए है? क्या इसमें कहीं यह आत्माभिमान नहीं है कि मेरी पत्नी बहुमूल्य हीरे का सेट पहने और चार जनों में यह चर्चा हो कि कुँवर वीरेश्वर प्रताप सिंह की पत्नी के हीरों का सेट बड़ा सुन्दर है·····तब क्या यह इनकी अपनी ही आत्म-सन्तोष की भावना नहीं है जिनके वश होकर इन्होंने सेट खरीदा है·····मुझे सजाने के लिए तो

बगीचे के कुछ फूल ही काफी थे···उसका मन चाहा कि कह दे कि वह सेट लौटा दीजिये। मुझे इतने कीमती आभूषणों की जरूरत नहीं है किन्तु ये कहीं अप्रसन्न न हो जायँ···महत्व मूल्य का नहीं है किन्तु इनकी भेंट तो अमूल्य है। उसे ध्यान हो आया कि उसने कुछ उत्तर नहीं दिया··· अतः उसने कहा—'बहुत रुपये लगे होंगे···' 'कितने बताओ तो जाने' मृदुला का मन ऊब चुका था···वह थक चुकी थी···उसकी निराशा चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी···इच्छा के विरुद्ध ही वह उठ कर खड़ी हो गई·····उसने धीरे से कहा—'चलिये स्नान कर लीजिये। यह चर्चा तो फिर भी हो सकेगी।' कुँवर को मन चाहे ··कल्पना में देखे-सुने उत्तर नहीं मिले। उनका मन भारी हो उठा। उन्हें जान पड़ा कि बड़े बाप की बेटी अभिमान से सिर ऊँचा ही उठाये रखना चाहती है···मेरे दान को सिर झुकाकर, आग्रह अनुग्रह से ग्रहण करना नहीं चाहती···उनका ठाकुर रक्त उबलने लगा···उनका जी चाहा कि इस अभिमानिनी नारी को दो लातें जमा दें किन्तु सुसंस्कृत व्यक्तित्व ऐसा कर पाया नहीं किन्तु मन की खाई कुछ और बढ़ गई·····

पुरुष कह पाता है, कह लेता है तो कुछ हल्का भी हो जाता है। नारी कह नहीं पाती, कह नहीं लेती, कह नहीं सकती सो मन ही मन घुटती रहती है···कुँवर साहब कारण-अकारण कोई-न-कोई बहाना लेकर झुँझलाने लगे·····बूढ़ी नौकरानी के शासन-सूत्र में बँधी-दबी मृदुला मन-ही-मन तिक्त होती रही···गृहस्थी चलती ही जा रही थी। चाह कर भी मृदुला को अवसर ही नहीं मिला कि वह अरुण के आने की चर्चा कर सके·· अन-चाहे भी बूढ़ी नौकरानी ने बहू के राजघराने की मर्यादा न समझ पाने की बात कुँवर से संकेत रूप में कह ही दी···चाह कर भी मृदुला मन की बात मन के मीत को न बता सकी और अनचाहे भी नौकरानी बहुत कुछ कुँवर से ऐसा कह गई जो कि कुँवर को भला नहीं लगा और शायद बहूरानी के हित में नहीं था···चाह कर भी मृदुला समय-समय पर दिखाई देने

वाली दो अँगारे-सी जलती आँखों को भुला नहीं पाई और अनचाहे भी कुँवर मन-ही-मन प्रीति की वर्षों बाद देखी हुई नरगिसी, शर्बती आँखों को याद करते ही रहे। कुँवर फिर पन्द्रह-बीस दिन तक कहीं भी बाहर नहीं गये। भोजन, शयन सभी कुछ पति-पत्नी का साथ-ही-साथ चलता रहा किन्तु दोनों को ही जान पड़ा कि कहीं कोई दरार सी पड़ गई है और तभी मृदुला ने जाना कि वह शीघ्र ही माँ बनने वाली है। मृदुला समझ नहीं पाई कि वह हँसे या रोये, प्रसन्न हो अथवा दुःखी हो, कुँवर से इस समाचार को बताये या न बताये···मन में एक अनिर्वचनीय आनन्द छा तो गया था किन्तु वह पति से कैसे कहे कि वह शीघ्र ही पिता बनने वाले हैं···बूढ़ी नौकरानी से भी कुछ कहने को जी नहीं चाहता था···कभी-कभी मृदुला का शरीर भी अस्वस्थ रहने लगा और मन भी उदास सा रहने लगा···किन्तु बूढ़ी नौकरानी को भाँपते देर नहीं लगी, घर में मृदुला का आदर बढ़ गया···समाचार पाकर कुँवर भी प्रसन्न ही दिखाई देने लगे··· मृदुला को लगा कि यह नन्हा-सा अजन्मा जीव ही शायद उन दरारों को भर देगा जो कि स्पष्ट दिखाई देने लगी हैं। जीवन चलता रहा कुछ-कुछ यूँ ही-सा · खट्टा···सा···मीठा···सा···तीता···सा···तीखा···सा···कुँवर कुछ इधर प्रसन्न ही थे···उन्हें पूर्ण आशा थी कि माँ-पोते का मुख देखने के प्रलोभन से पुत्र को शायद क्षमा कर दें···माँ की जिद पुत्र की अनजानी नहीं थी किन्तु वह यह भी खूब जानते थे कि माँ के अन्तर की नारी····· माँ···वात्सल्य रस में शराबोर···ममत्व की चाहना लिए प्रपौत्र का मुख देखने को कितनी उत्सुक थी···माँ के पास अब भी धन था और काफी था···चाहने से ही माँ वह सब धन उसे न देकर दान-पुण्य भी कर सकती थी और शायद यही करेंगी भी·····कुँवर को धन की कमी थी · धन की चाह थी···यूँ कुँवर स्वभाव से लोभी नहीं थे···कभी किसी दिन भी उन्होंने पैसे का महत्व जाना भी नहीं था उसे पकड़ने का तो प्रश्न ही नहीं उठता···किन्तु पैसा खर्च करना तो वह खूब जानते थे···यही कारण था

कि उन्हें सदा ही रुपये की आवश्यकता रहती थी·· बूढ़ी दाई माँ ने भी कुँवर को भली प्रकार समझा दिया था कि उसके निस्तार का एकमात्र मार्ग पुत्र की उत्पत्ति ही है···माँ का हृदय इसी प्रकार जीता जा सकता है···और बहूरानी के पुत्र ही होगा···कुँवर अपनी माँ को एकबारगी ही न पहचानता हो सो बात तो नहीं थी किन्तु इच्छा के अनुरूप ही सोचने की उसे आदत-सी ही पड़ गई थी···मृदुला का आदर-सम्मान तो बढ़ा किन्तु कभी-कभी उसे जान पड़ता था कि मन में कहीं कोई एक काँटा-सा गड़ गया है जो समय-समय पर चुभ जाता है, कसक-सी उठती है और उसे अकारण ही तड़पा देती है। मृदुला उससे छुटकारा पाना चाहती है किन्तु छुटकारा कहाँ मिलता है। कभी-कभी मृदुला को न जाने क्यों वह संध्या याद आ जाती है जो उसने मास्टर साहब के साथ बिताई थी·····न जाने कितनी अच्छी-अच्छी बातें हुई थीं···कितने आदर्शवादी हैं मास्टर साहब, कितने अच्छे इन्सान हैं···काश कि मैं उनकी अधिकाधिक बातें सुन सकती, हृदयंगम कर सकती···कितना विशाल है उनका हृदय और सचमुच कितने कर्मण्य हैं वे···एक हम लोग भी हैं कहते हैं, सोचते हैं किन्तु कर कितना पाते हैं···किन्तु मुझे क्या···वे मेरे लगते ही कौन हैं···क्यों लगते क्यों नहीं··· वे मेरे गुरु हैं···कहाँ होगी अब मंजुला···मेरी सखी···मेरी प्यारी मंजुला और कितनी मूर्ख हूँ मैं कि उसकी बात भी नहीं पूछ पाती···किन्तु कहीं पूछने से ही···ऐसी बात न सुननी पड़ी···बड़ी आत्माभिमानी थी वह·· और कितने आत्माभिमानी हैं···मास्टर साहब···वह कहीं सह पायँगे···कुछ ऐसी-वैसी बात···नहीं···नहीं···मैं उन्हें किसी प्रकार भी ठेस नहीं पहुँचा सकती···वे मेरे पूजनीय हैं··गुरु हैं···सर्वस्व हैं काश कि मैं उनके मार्ग पर चल पाती किन्तु···कैसे चल पाऊँगी···मैं स्वतन्त्र हूँ ही कहाँ···ऐसा मेरा भाग्य कहाँ···कितनी भाग्यवती है मंजुला···कितनी भाग्यवती होगी वह नारी ··किन्तु मैं ऐसा सोचती ही क्यों हूँ···कितनी सुखी हूँ मैं···इन्द्र ऐसा ऐश्वर्य किन्तु क्या·····क्या मृदुला अनचाहे भी सोचती रहती है न जाने

क्यों·····न जाने किस लिए·····मन पर न जाने क्यों कुछ भार-सा लगता है।

३३

स्त्री ही स्त्री की सबसे बड़ी शत्रु है। मंजुला को इस सहज तथ्य का भान अपने जीवन के नवीन क्षेत्र में होने लगा था। युवती सुन्दरी नारी यदि किसी पुरुष की सहज श्रद्धा का केन्द्र हो जाये तो अन्य स्त्रियों को उसमें कुछ-न-कुछ अनैतिकता की गन्ध आने ही लगती है···भले ही उस आदर यत्न और श्रद्धा का रूप कुछ भी क्यों न हो···छोटे से जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों के भीतर से रस खींच पाने और उसी से सन्तुष्ट होने की चेष्टा मंजुला ने जीवन में कुछ कम नहीं की थी···परिस्थितियों से हार मान लेना भी उसके लिये उतना सहज नहीं था। अरुण से भी एक तो दिनभर भेंट ही नहीं होती थी और दूसरे होती भी तो मंजुला थके हारे अरुण से कुछ बातचीत भी नहीं कर पाती थी···रह-रहकर उसे गिरजा का कहना याद हो आता था 'मंजु! आदर्श सुन्दर वस्तु है किन्तु वह उसी समय तक तो सुन्दर है जब तक यथार्थ से वह भिन्न है···ज्यों ही उसे यथार्थ को खींच-घसीटकर समकक्ष कर दिया जायेगा त्यों ही उसका निजी महत्व समाप्त हो जायेगा। फिर तो वह रह जायेगा साधारण, बिल्कुल साधारण···अरुण यह बात नहीं समझेगा···वह सनकी है·· पूरा सनकी है···नहीं तो एम० ए० एल० एल० बी० और वह भी प्रथम श्रेणी में करके उसे गाँव में जाकर फावड़ा चलाने का शौक ही क्यों चर्राया...' मंजु ने उस समय तो सहज भाव से कह दिया था—'गिरिजा भाई···आदर्श की सृष्टि, कल्पना तो इसीलिये की जाती है कि उसे यथार्थ के धरातल पर लाया जाय अन्यथा उस कल्पना की आवश्यकता ही क्या है। किन्तु हमारे लिये प्रश्न आदर्श का नहीं है। तुम्हीं बताओ कि और मार्ग ही कौन-सा

रह गया है। नौकरी गई, मकान गया···ऐसे में कहीं कोई काम तो खोजना ही होगा न...'

'ऐसी बात नहीं है मंजु। नौकरी फिर मिल सकती है···अरुण को भी अच्छे-से-अच्छा काम मिल सकता है किन्तु संसार में रहने के लिये कुछ तो संसारी जीव बनना ही होगा···'

'सो भी क्या कुछ अपने वश की बात होती है गिरजा भाई! भइया जिस मिट्टी से बने हैं सो तुम जानते हो···वह जीवन का संघर्ष करते रहेंगे किन्तु हार मानकर असत्य को मथ-मथकर उससे मन प्राण को सिक्त कर लें यह सम्भव नहीं है···जाने दो एक बार वह शान्त सरल जीवन भी देख लेने दो···'

'मंजु! तुम्हें गाँवों का परिचय नहीं है···यह जो कविता, कहानी में गाँव का चित्र देखा जाता है सचमुच यही हमारे गाँव नहीं हैं···तुम लोग कल्पना कर रहे हो कि गाँव के सरल, शान्त, सुखी जीवन में तुम्हें शान्ति मिलेगी किन्तु···'

'जाने दो गिरिजा भाई! भइया का निश्चय हो चुका है। मैं उसे ही मान्य करके बिना शिकायत का एक शब्द मुख से निकाले उसी पथ पर चल सकूँ यही आशीर्वाद हो।'

मंजुला सोचने लगी कि क्या यही हमारे भोले ग्रामीण हैं? क्या यही गाँव का सरल, शान्त एवं सुखी जीवन है? तभी उसे याद आया कि बापू ने एक बार उपदेश में कहा था कि मन की शान्ति की सबसे अच्छी दवा है सेवा···जो किसी प्रकार भी नहीं जीता जा सकता वही स्नेह से सहज ही परास्त हो जाता है···मंजु का मन उदास हो उठा था ··उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या करे···अरुण पिछले तीन दिनों से कहीं काम से गया हुआ था···पास के गाँव में एक कतल हो गया था···इस गाँव के मुखिया और अन्य दो युवकों को फाँस लिया गया था···अरुण इसी सिल-

सिले में शहर की कचहरी गया था···मंजुला का स्कूल कुछ-कुछ जम गया था···स्कूल क्या था बहुधन्धी पाठशाला थी···लड़कियाँ-लड़के दोनों ही सबेरे आ जाते थे और सन्ध्या तक कुछ-न-कुछ करते ही रहते थे। मंजु के घर के सामने पड़ी हुई सूखी बगिया में ही इन सब का डेरा था···मिट्टी के छोटे-छोटे खिलौने बनाने से लेकर बाग की क्यारियों को ठीक करके हरी तरकारी बोना, चर्खा कातना और देश-विदेश की बातें सुनना साथ-ही-साथ चलता रहता था। मंजुला के पास धन नहीं था···गाँव गरीब था···किसी के भी तन पर आसानी से साबुत कपड़ा तक तो दिखाई नहीं देता था सलेट, पेन्सिल-कागज किताब कहाँ से आती···पास के एक गाँव में··· गाँव क्यों कसबा-सा है राज्य समाज कल्याण बोर्ड की ओर से केन्द्र स्थापित किया गया था···अच्छी-सी पक्की इमारत बन गई थी···गाँव वालों की सूचनानुसार हरमुनिया बाजा, ढोलक दो टुकड़ों में और न जाने क्या क्या आ गया था। ऊन के कपड़े बनाने सिखाये जाते थे और कपड़े पर धागे से बेल-बूटे बनाने भी किन्तु कहाँ से मंजुला लाये यह सब तिस पर इसकी यहाँ उपयोगिता ही क्या है···गाँव में जुलाहे रहते हैं। वस्त्र बनाते हैं किन्तु उनका इतना ही उपयोग है कि बिक जायें··· कोरी चमार थोड़ी बहुत खेती-पाती कर लेते हैं और दो-चार घर मोची भी हैं जो कि जूते बनाकर कसबे में सस्ते दामों पर बेंच आते हैं···ब्राह्मणी केवल किसना है जो कि किसी को छूती तक नहीं···नेम-धरम से रहती है और चौबीसों घंटे शिव जी की ही सेवा में लगी रहती है···क्या करेंगे ये बेल-बूटे कढ़े कपड़े लेकर ··क्या होगा उनकी बुनाई सीखकर···क्या होगा देश की बड़ी-बड़ी समस्याओं का उपयोग इनके निकट और क्या करेंगे ये लोग क्षेत्रफल और ब्याज के प्रश्न लगाना सीखकर···साधनहीन, निरुपाय मंजुला ने इन सब का तो विचार ही छोड़ दिया था। वह तो खुले आकाश तले लड़के-लड़कियों को लेकर धरती की मिट्टी से ही खेला करती थी···आने से पूर्व मंजुला ने मन में एक योजना बनाई थी···वर्धा शिक्षा

प्रणाली पर पुस्तकें बढ़ी थीं। कुछ थोड़ी-बहुत बुनयादी तालीम का स्वरूप अपने इन्टर कालेज के प्राइमरी या बेसिक विभाग में भी देखा था किन्तु उससे क्या मंजुला की धरती पर बनी हुई क्यारियाँ तरकारी भी देती थीं और गिनती, जोड़, घटाना, गुणा, सम्बन्धी ज्ञान भी धरती पर ही मंजुला की नहीं, पहाड़, झील और पठार बन जाते थे और धरती पर ही मंजुला का अपार ज्ञान भी हो जाता था ··बच्चों को मूली-गाजर की कमी नहीं थी ··जुन्धरी···चना, मकई, कोदों से मूली-गाजर बुरी नहीं थी यह बच्चे खूब जानते थे···मंजुला को यह चिन्ता नहीं थी कि अरब रिपब्लिक से विश्व के अन्य देशों से क्या सम्बन्ध है···उसे यह भी परवाह नहीं थी कि दलाई लामा मंसूरी में कब और क्यों आया किन्तु उसकी शाला में यह चर्चा खूब होती थी कि पिता दशरथ की आज्ञा मान कर ही राम बन गये और भाई लक्ष्मण स्नेहवश राम के साथ ही चल दिये। वहाँ यह भी चर्चा होती थी कि महात्मा गाँधी अहिंसा और सत्य के पुजारी थे···कुछ भी क्यों न हो सत्य पर ही दृढ़ रहना चाहिये···इसी के पीछे महात्मा जी ने प्राण दिये···उसे यह चिन्ता नहीं थी कि इन्दिरा गाँधी काँग्रेस की प्रेसिडेन्ट हो गईं और प्रान्त के, राज्य के मुख्य मन्त्री अमुक व्यक्ति हो गये या केरल में साम्यवादी सरकारी बन गई··· वह यह चर्चा अवश्य करती थी कि गाँव की पंचायत कैसे और क्या काम कर सकती है···दवाई सफाई, परिश्रम, काम की चर्चा ही क्योंकर सब तो होता ही रहता था। धीरे-धीरे गाँव भर के लड़के-लड़कियाँ पाठशाला में आने लगे···कोई एक महीना हुआ एक दिन अरुण ने मंजु से कहा—'वाह मंजु तेरी पाठशाला तो खूब जम गई।' मंजु ने हँसकर उत्तर दिया···भइया तुम्हारा तो मन ही यहाँ खूब जम गया है।'

'हाँ मुझे यहाँ अच्छा लगता है। मैं खूब खुश हूँ मंजु···गिरिजा नौकरी दिला रहा था, मिल भी जाती किन्तु वहाँ के घुटे-घुटे वातावरण में तो मेरा दम ही घुट जाता।'

'तब यहाँ तो ठीक ही है।'

'पर एक काम कर मंजु ! दिन में तो तेरी शाला बच्चों के लिये चलती है। क्यों न रात में एक-दो घंटा स्त्रियों को पढ़ा दिया कर।'

'रात में नहीं दोपहर को दो घंटे स्त्रियों के साथ भी लग ही जाते हैं भइया !'

'तब फिर रात को पुरुषों को ही पढ़ा दिया कर। मैं भी तेरी सहायता करूँगा। मुखिया ने मुझसे दो-चार बार कहा भी है।'

'ठीक ही तो है भइया ! रात को कोई काम भी नहीं रहता। तुम्हीं न कुछ कथा-वार्ता सुना दिया करो।'

रात को चौपाल जमने लगी···अरुण मधुर कण्ठ से कभी रामायण, कभी महाभारत और कभी सामयिक वार्ता सुनाया करता···एक बार वह कस्बे से किसी मजदूर को पकड़ लाया था जिसने आल्हा ऊदल भी सुनाया था···पिछले तीन दिन से अरुण भी नहीं है और मुखिया भी नहीं है··· अन्य उत्साही युवक भी नहीं हैं, अतः रात्रि की बैठक तो होती ही नहीं है किन्तु दिन में सब कुछ पूर्ववत् चलता रहता है···किन्तु आज कोई एक भी बालिका···स्त्री उसके पास नहीं आई···मंजुला बड़ी देर तक प्रतीक्षा करती रही···धूप भी काफी चढ़ आई···मंजुला ने सोचा चलकर देख लूँ क्या बात है···कोई नई बात तो नहीं हो गई···मंजुला की झोपड़ी गाँव से तनिक बाहर की ओर थी, अतः वह पूरा हाल वहीं बैठे-बैठे तो जान ही नहीं सकती थी। झोपड़ी में था ही क्या···जरा-सी टट्टी ही लगाकर ज्यों ही मंजुला आगे बढ़ी कि उसे धनिया आती दिखाई दी···उसके काले बालों से तेल मानो चू रहा था···खूब कस कर बाल ऐंचकर चोटी की हुई थी···चोटी में लाल फुन्दने का ऐसा परान्दा लटक रहा था जो कि गाँव में पहली ही बार देखा गया था। साफ-सुथरी कली अँगिया पर पतली चुनरी लहरा रही थी··· घुटनों से थोड़ा ही नीचा साबुत नीली धरती पर पीली बुन्दियों का लहँगा

उनकी स्वस्थ टाँगों का तीन-चौथाई ही ढँक पाया था···उस दिन पनघट की भेंट के बाद धनिया मंजु को इधर इन पन्द्रह-बीस दिनों में एक बार भी नहीं मिली थी—अचानक उसे अपनी ओर आते देख मंजु को आश्चर्य हुआ सो भी ऐसे अचरजभरे दिन जब कि उसकी अनेकों छात्राओं में से एक भी नहीं आई थी। मंजु जानती थी कि मस्त धनिया गाँव में एकाकी है, बदनाम है, दुश्चरित्रा प्रसिद्ध है; किन्तु फिर भी न जाने क्यों सभी स्त्री-पुरुष उससे कुछ डरते-से हैं। सामने विरोध न कर पाने पर भी सभी उससे घृणा करते हैं···वह गाँव भर की भौजी है किन्तु कोई भी स्त्री उससे मिलना-बोलना नहीं चाहती, मिल जाने पर कतरा कर निकल जाना चाहती है। फिर भी सामना पड़ जाने पर बोले बिना निकल भी नहीं सकती···धनिया आज इधर क्यों आई है यह मंजु समझ नहीं सकी···आरम्भ में जब सभी स्त्रियाँ उसके निकट सम्पर्क में आने लगी थीं तो धनिया ने बड़े गर्व से कहा था—'न जाने कौन बंगाल की जादूगरनी आई है···सारे गाँव को बस में कर लिया; पर मैं ऐसी हजारों देख चुकी हूँ···शहर में मैंने भी न जाने क्या-क्या देखा है···आई है सबको गियान सिखाने···और उसने एक भद्दी-सी गाली देकर प्रसंग ही छोड़ दिया था। तब से बस एक ही बार उसकी मंजु से पनघट पर भेंट हुई थी। धनिया ने निकट आकर अत्यन्त आग्रह से कहा—'देवी जी! आज मैं तुम्हारी खेती-बारी करूँगी···मुझे गियान हो··· क्या देना चाहती हो।' मंजु को उसका आग्रह देख कर हँसी आ गई—'क्यों धनिया! आज यह कुबुद्धि क्यों सवार हो गई?' धनिया की आकुल दृष्टि मंजु के मुख पर लगी थी। 'कुमत कहो चाहे सुमत आज तो मैं यहाँ ही रहूँगी। सबको मनाकर आई हूँ कि और कोई न आये।' 'यह क्या गजब कर आई धनिया। खेती-बारी क्या कुछ मेरी है। यह तो गाँव की ही चीज है···सब की है···इसमें सभी का भाग है···यहाँ किसी को आने को मना करने वाली मैं कौन हूँ और तुम कौन हो?' 'तुम्हारी बात नहीं जानती पर मेरा मन जो कहता है वही मैं करती हूँ···सो चार दिन चुप रहो। चिन्ता

न करो मैं अकेली ही सब खेत का काम कर लूँगी। तुम क्या उधर गाँव में जा रही थीं। नहीं, नहीं लौट चलो। उन्हें किसी को यहाँ नहीं आने दूँगी।' 'यह कैसा पागलपन है बहिन। चलो सबको बुला लायें··· तुम भी आया करना और भी सब आया करेंगी।' 'देखो! करेले तो बड़े हो गये लगते हैं···लौकी भी खूब फली है। चलो उधर चलो न।'

'सो तो है किन्तु दोपहर चढ़ रही है सबको बुला लायें न। अकेला क्या अच्छा लगता है?'

'खूब अच्छा लगता है फिर मैं तो हूँ ही···जिया न भरमे तो कहो तो किसी और का प्रबन्ध कर दूँ···' और धनिया ने आँख दबा कर इशारा किया। मंजुला का मन घृणा से खिन्न हो उठा। कैसी विचित्र है यह नारी···लाज···शर्म तो कहीं छू नहीं गई है तिस पर यह क्या पागलपन कर रही है···सनकी तो है ही गाँव भर इससे डरता भी है—सबको मना-कर आई है तो कोई कैसे आ सकता है···किन्तु इसको यह पागलपन कैसे सवार हुआ। यदि मुझसे इसे एकान्त में कुछ बातचीत करना है तो वह तो यूँ भी किसी समय कर सकती थी···अब इसके साथ किया क्या जाय··· एक ही झक्की है'···चंचला धनिया ने उसका दाहिना हाथ पकड़कर उसे लगभग पीछे की ओर घसीटते हुए कहा—'चलो ··चलो···बस आज से मैं तुम्हारी चेली हो जाऊँगी लेकिन तुम्हारी अकेली चेली ही रहूँगी।' मंजुला के आग्रह-अनुग्रह की पूरी-पूरी अवहेलना करके धनिया मंजु को पीछे घसीट लाई। उसने उसे किसी प्रकार भी गाँव की ओर न जाने दिया···मंजु परिस्थिति और धनिया का आग्रह तथा उसका कारण ठीक दङ्ग से न समझती हुई भी उसकी उपेक्षा न कर सकी···रात पड़ जाने पर धनिया चली गई···फिर दूसरे दिन भी वही क्रम हुआ···मंजुला धनिया की जिद से ऊब उठी। उसे आश्चर्य तो यह हुआ कि गाँव की ओर से भी कोई नहीं आया···सन्ध्या के बाद जब धनिया चली गई थी तो मंजुला को रमिया···सोना की मुँहबोली—नन्द आती दिखाई दी·· मंजुला की

इच्छा हुई कि इससे कुछ पूछे—किन्तु संयमित स्वभाव के कारण ऐसा न कर सकी···रमिया ने स्नेह से मंजु के पास बैठते हुए कहा—"बड़ी मुश्किल से छिप-छिपाकर आई हूँ।' मंजुला ने आश्वस्त स्वर में कहा—'न जाने धनिया को यह कैसी जिद चढ़ गई है···कुछ समझ में ही नहीं आता।'

बात न समझकर रमिया ने कहा—'कैसी जिद ? कौन-सी जिद धनिया को चढ़ गई है ?'

मंजुला ने आश्चर्य से कहा—'वही न तुम सबको यहाँ आने को मना कर आई है और तुम लोग भी इतनी उससे डरती हो कि उसकी बात मान भी गईं।' रमिया ने बात न समझकर कहा—'धनिया ने कब मना किया और क्यों मना किया और उस चुड़ैल की बात मानता भी कौन ?'

'तब फिर तुम लोग दो दिन से पाठशाला में आईं क्यों नहीं···?' आश्चर्य से फटी-फटी आँखों से देखते हुए मंजुला ने जिज्ञासा की।

'तो देवी जी ! तुम कुछ भी नहीं जानतीं। ऐसे जान भी कैसे पातीं। उधर तो तुम आईं भी नहीं···' कह कर रमिया कुछ चुप-सी हो गई···जान पड़ता था कि उसके मुख से शब्द निकल ही नहीं पा रहे थे। मंजुला का मन आशंकित हो उठा। फिर भी उसने धैर्य से पूछा—'तब तुम लोग क्यों नहीं आती हो ? क्या बात हुई बताओ तो सही।'

'अपने मुँह से कैसे कहूँ देवी जी ! कीड़े पड़ेंगे कहने वालों के मुँह में कह रखती हूँ। घोर कलजुग है, फिर भी इतना अधरम, अँधेर नहीं चलेगा···सो देख लेना।' मंजुला कुछ घबरा-सी गई कि क्या बात हो गई। फिर भी उसने शान्तिपूर्वक कहा—'रमिया ! ठीक से बताओ क्या बात हुई ?'

'अरे कैसे कहूँ असत्त मुँह से निकलेगा भी कैसे ?'

'असत्य को हृदय के भीतर-ही-भीतर छिपाये रखने से उसका अस्तित्व नष्ट नहीं हो पाता वरन् भीतर ही भीतर विष की बेल की भाँति बढ़ता ही

जाता है। तुम निडर होकर कहो तो सही कि बात क्या है ?' कुछ क्षण रमिया सोचती रही फिर उसने कहा—'किसना बूढ़ा और सोना भाभी ने मिलकर गाँव भर की औरतों को तुम्हारे खिलाफ कर दिया है बस और कुछ न पूछो···अब कोई भी लड़की-लड़का तुम्हारे पास नहीं आयेगा।'

मंजुला को लगा कि वह आकाश से गिर पड़ी किन्तु कुछ ही क्षण बाद उसने कहा—'ऐसा कब हुआ ?'

'किते दिन से बात तो चल रही थी। परसों रात सबसे कसम धरा ली गई···बस अब और कुछ न पूछो···मैं तो आज किसी तरह भी रुक नहीं सकी सो सोचा कि चलकर दरसन भी कर लूँ और पूरी छिमा भी माँग लूँ···इतना अधरम धरती नहीं सह पायेगी सो कहे देती हूँ···हुआँ भी कह आई हूँ। और हियाँ भी कहे देती हूँ···और यह किसना बूढ़ा ही कौन दूध की धोई है···मुखिया के बाप पर इसने कैसे-कैसे डोरे डाले···उसकी औरत को कैसी-कैसी मार पड़वाई सो भगवान ही जानता है और यह सोना···यह तो मूरख है मूरख···आ जाये मुखिया तो देखूँ इसकी मरदानगी···वह ठुकाई न करवाई तो कहना कि दस दिन हल्दी पिये···' मंजुला का ध्यान उधर नहीं था···किन्तु रमिया कहे जा रही थी···अनजाने अनचाहे ही उसने कुशाग्र बुद्धि मंजुला से वही सब कह दिया जो कि वह छिपाना चाहती थी। अरुण था नहीं···मंजुला को कुछ समझ में ही नहीं आ रहा था कि वह क्या करे···अन्त में रमिया ने कहा—'खाली हाथ क्या आती···रास्ते के बागीचे से दो ककड़ी तोड़ लाई हूँ देवी जी।'

मंजुला का चेतन मन जाग उठा—'चुराकर लाई हो रमिया बहिन।' रमिया चाह कर भी असत्य न कह सकी—'क्या करती जी नहीं माना।' 'पर तुम जानती हो कि मैं चोरी की चीज़ नहीं लेती।' 'तब क्या करूँ देवी जी ?' 'इसके मालिक को दे आओ।'

'नहीं तब तो माँ बड़ी मार मारेगी। सारी बात का पता जो लग जायगा और कहीं ठिकाना भी तो नहीं है···मरद परदेस चला गया है।'

और वह फूट-फूट कर रोने लगी। मंजुला का जी चाहा कि वह भी गला फाड़ कर रो ले ताकि मन ही कुछ हलका हो जाये पर वैसा नहीं कर सकी। कुछ देर बाद शान्त होकर रमिया ने कहा—'उसी खते में फेंकती जाऊँगी जहाँ से तोड़ी हैं पर तुम्हारा खाना-पीना कैसे हो, काम-काज कैसे चलेगा। देवी जी। अरुन भइया भी तो नहीं हैं।' 'सब भगवान कर देंगे।' कह कर स्वयं ही मंजुला मन ही मन हँस पड़ी। एक दिन ऐसी ही बात पर तो अरुण ने कहा था कि ऐसा कहना कायरों का काम है। तब वह क्या कायर हो गई है···रमिया चली गई···रात का अन्धेरा छा गया था···मंजुला पत्थर के बुत की भाँति देहरी पर बैठी ही रही···दिया जलाने तक का ध्यान उसे नहीं था। इतने में धनिया ने लौट आकर कहा—'अरे देवी जी! दिया तक नहीं बारा। देखूँ क्या तेल नहीं है?' स्नेह से भरे स्वर ने मंजु को चौंका दिया—'यूँही जी नहीं किया धनिया।' 'अच्छा मैं बारे देती हूँ। आज कहीं जाना नहीं था सोचा यहीं पड़ रहूँगी। अकेली औरत का क्या? कहीं पड़ रहे···आज कहीं जाने को जी नहीं किया नहीं तो बुलाया तो सिपहिया ने था···' मंजुला को आश्चर्य हो रहा था कि कितनी निर्लज्जता से यह नारी अत्यन्त लज्जा की बात भी कह पाती है। उसका जी चाहा कि धनिया से कहे कि उसने उससे झूठी बात क्यों कही थी कि वही सब को मना कर आई है···किन्तु उस झूठ के पीछे कितनी तरलता, कितना स्नेह छिपा था यह मंजुला से अनजान नहीं था···दीपक जला कर लाती हुई उस युवती के दो निश्छल नेत्रों में न जाने ऐसा क्या था जिसे देखकर मंजुला उसे सत्य का उपदेश किसी प्रकार भी देने का साहस न कर सकी। उसने मन ही मन कहा यह दुश्चरित्र है, नीच है, हत्यारी है···इसने जीवन में कई बार हत्या की है और उनकी सहज स्वीकृति भी इसके निकट न तो लज्जा की ही बात है और न छुपाने की ही ··यह भयंकर है···उससे सारा गाँव डरता है···हत्या, चोरी कुछ भी इसके लिये कठिन नहीं है···कोई भी समाजस्वीकृत मान्यता इसके निकट तनिक भी मान्य नहीं है। फिर भी···

फिर भी उसे जान पड़ा कि उसका आज का झूठ ही···निःस्वार्थ झूठ ही विश्व के सभी सत्यों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हो उठा है···उसका जी चाहा कि उसे बता दे कि वह सच्ची बात जान गई है···यह धोखा और अधिक देर तक उसे भुलाये नहीं रख सकता; किन्तु फिर एक बार धनिया दुष्टा, दुश्चरित्रा धनिया की ओर देखकर नैतिकता के उच्च शिखर पर बैठी हुई मंजुला चाहकर भी कुछ न कह सकी।

मनमौजी धनिया दिन भर हँस-हँसकर मंजुला का काम करती और रात को कभी वहीं रह जाती और कभी नहीं भी रहती। जिस दिन से रनिया उससे मिल कर गई थी उसी दिन से मंजुला कुछ गम्भीर, कुछ उदास-सी रहने लगी थी···वह अरुण की प्रतीक्षा कर रही थी···कभी-कभी उसका जी चाहता कि चलूँ तनिक सोना भाभी से भी मिल लूँ···पूछूँ कि वह क्यों अप्रसन्न हैं पर हिम्मत नहीं पड़ती थी···धनिया जब आती तो उसे नित्य नये-नये किस्से गढ़-गढ़कर सुनाती रहती···और मंजुला चुपचाप सुनती रहती। कभी-कभी उसका मन करता कि एक क्षण में उस सारे कल्पना-महल को ढहा दे किन्तु किस लिये···क्यों···मंजुला को बचपन से ही झूठ से घृणा रही है···झूठ का आश्रय लेकर सुख-सुविधा प्राप्त करने की कभी और किसी दिन भी उसकी प्रवृत्ति तक नहीं हुई किन्तु कैसा मीठा है वह झूठ···वह असत्य जो···जो उत्पन्न होता है किसी एक की पीड़ा को कम करने के विचार से···किसी प्रकार भी सब की दुत्कारी हुई···बदनाम, दुश्चरित्रा, हत्यारी के कल्पना-महल को यह कह कर ढहा देने की इच्छा मंजुला की हो ही नहीं पाती कि मैं जानती हूँ तुम झूठ बोल रही हो···क्षण भर को मंजुला के मन में द्विविधा हो उठी···वह सोचने लगी कि क्या झूठ है और क्या सत्य···चौथे दिन अरुण आ गया किन्तु प्रयत्न करके भी मुखिया की जमानत नहीं करा सका···अन्य तीन व्यक्तियों में से दो की जमानत हो गई। उन्हें लेकर थके-माँदे अरुण ने ज्यों ही घर में प्रवेश किया उसे सब से पहले धनिया का ही मुख दिखाई दिया। अरुण का

धनिया से परिचय नहीं था किन्तु उसकी कीर्ति तो किसी भी गाँव में प्रवेश करने वाले के कानों तक पहुँचा ही दी जाती थी—संस्कारवश एक बार तो अरुण चौंक उठा फिर कुछ सम्भल गया। गाँव में प्रवेश करते ही उसका जो गालियों कोसनों से स्वागत हुआ था उससे यूँ ही उसका मन तिक्त हो उठा था। अदालत के धक्के, गरीबी की मार, न्याय का महँगा होना, सभी प्रकार से सताया, थका और दुःखी अरुण न चाहकर भी गाँव में आते ही दो मीठे बोल सुनने की उपेक्षा कर रहा था। क्षण भर वह सोचता आया था कि दुःखिनी सोना भाभी को किन शब्दों में सान्त्वना देगा···कैसे उन्हें हर प्रकार से शान्त करने की चेष्टा करेगा किन्तु वैसा अवसर ही कहाँ आया···सोना तो जैसे देखते ही इस पर झपट पड़ी—'कहाँ छोड़ आया उन्हें मूड़ी काटे···तेरा नास हो जाय···हाथी-सा तू क्यों आ गया···जैसी छिनार बहिन वैसा भाई···तेरी लहास उठे···तुझे डस जाये काला नाग आधी रात को···अरे तुझे भवानी खा जाये···अरे तुझे हैजा हो जाये—आप तो चला आया और मेरे मालिक को जेहल में दे आया··· तेरी बहिन राँड हो'···अरुण सोच रहा था कि दुःखातिरेक से सोना भाभी का दिमाग चल गया है; किन्तु सोना की सास भी डकरा-डकरा कर रो रही थी और उसके कोसने, गालियों का अधिकांश लक्ष्य उसकी बहू थी जब कि सोना की गालियों का सम्पूर्ण लक्ष्य थे ये दोनों भाई-बहिन···अरुण पहेली का यह रूप कुछ ठीक से समझ नहीं पाया फिर भी कुछ देर तक प्रयत्न करके भी जब वह सोना को शान्त न कर सका तो चुपचाप अपने घर लौट आया। वहाँ भी सदा की भाँति चहल-पहल नहीं थी। बाग-बगीचा भी कुछ सूखा-सा ही रहा था। अरुण कुछ बिना पूछे-ताछे ही चटाई पर लेट गया···धनिया ने कुछ क्षण इस स्वस्थ युवक की ओर देखा और उसके बाद वह मंजुला से बिना एक भी शब्द कहे-सुने चुपचाप न जाने कहाँ चली गई। भाई से यूँ ही-सी कुछ बातचीत करके जब मंजुला ने धनिया को खोजना चाहा तो वह थी ही कहाँ और उस छोटी-सी झोपड़ी

में खोजने की बात ही क्या थी···मंजुला ने सोचा कि यहीं कहीं आसपास गई होगी आ जायेगी और यूँ भी मस्तमौला धनिया का कुछ ठीक थोड़े ही रहता था कि वह कब आयेगी और कब जायेगी···अरुण भी कुछ उखड़ा-उखड़ा-सा लग रहा था। मंजुला ने सोचा कि शायद मुखिया को जमानत पर न ला सकने के कारण ही अरुण का मन कड़वा हो गया है। अतः वह चुप ही रही। अरुण मंजुला से सभी कुछ कह कर मन का भार हलका कर देना चाहता था पर वैसा भी तो नहीं कर पा रहा था···उधर मंजुला के मन पर भी कुछ इतना अधिक भार हो गया था कि वह भी कह कर हलकी हो जाना चाहती थी; किन्तु दोनों में से कोई भी तो कह नहीं पा रहे थे··· न जाने कैसी एक बाधा की दीवार-सी दोनों के बीच में खड़ी थी···दोनों का ही जन्म शहर में हुआ था···उन्होंने जीवन भर यही जाना था कि गाँव वाले अत्यन्त सरल हृदय, भोले-भाले और निरीह होते हैं···पुस्तकों में पढ़ा था कि ग्रामीण हृदय अत्यन्त आसानी से, सहज ही में सेवा और स्नेह से जीता जा सकता है···नगर के संघर्षमय जीवन, छल-कपट और खुशामद के वातावरण से थके-थकाये उनके मन कल्पना कर रहे थे गाँव में जाकर एक स्वस्थ, सरल और सुन्दर वातावरण पाने की, जहाँ स्नेह का ही साम्राज्य होगा, जहाँ शान्ति, सुख और सुविधाओं का भंडार होगा। भले ही वहाँ सांसारिक, वैज्ञानिक सुविधाएँ न मिल पायें किन्तु मन की सुख-सुविधाओं की प्रचुर मात्रा वह कभी भी पूरी कर देगी किन्तु मिला क्या··· वही तो जो वहाँ था···कुछ और भी अधिक असंस्कृत ढंग से···किन्तु नहीं···यहाँ धनिया भी तो है···पर वह भी तो अत्यन्त असभ्य, असंस्कृत और अनैतिक जीवन व्यतीत करने वाली है ··पर···पर सोचते हुए मंजुला का सुसंस्कृत, संयमी एवं सभ्य मन न जाने क्यों कहीं अटक जाता था, हिचक जाता था···वह अरुण से बात करना चाहती थी किन्तु क्या कहती··· यही न कि वे लोग कायरों की भाँति गाँव को छोड़ कर कहीं भाग जायें··· किन्तु अब जायेंगे भी कहाँ···क्यों भइया को तो आज भी नौकरी मिल

सकती है...अच्छी-बुरी किसी न किसी तरह की नौकरी तो मिल ही जायगी··· गिरिजा···सदा भइया की सहायता से किसी तरह रगड़-घिसकर दर्जा पाने वाला गिरिजा आज जीवन में कितना सफल है···तब क्या मंजु हार गई···अरुण हार गया···नहीं···नहीं मंजु भले ही हार जाये अरुण नहीं हारेगा···कभी नहीं···कभी भी नहीं···सहज विश्वास से मंजुला सोचती रही···दूसरे दिन बड़े तड़के वह सोना भाभी के पास गई···सोना तो भरी बैठी ही थी उसने भी वह-वह सुनाई कि मंजुला रोनी-रोनी हो आई किन्तु वह तो दृढ़ होकर आई ही थी···सोना ज्यों-ज्यों कहती—'सोचती क्या है तू ? जो मेरा खसम नहीं लौटा तो तेरे कलेजे का खून पी जाऊँगी···खून··· तुझे छोड़ थोड़े ही दूँगी···' त्यों-त्यों मंजुला को लगता कि कहीं कोई उससे बड़ी भारी भूल हो गई···सोना को न मानना था और वह न मानी···किसना और भी आग में घी डालने वहीं आ गई···गाँव भर की स्त्रियाँ एकत्रित हो गईं···बड़ी देर हो जाने पर भी जब कोई अन्त होता न दिखाई दिया तो रनिया ने मंजुला का हाथ पकड़ कर कहा—'बस बहुत हुआ। भौजी के मुँह में तो जैसे लगाम ही नहीं है। तुम क्यों अपनी यहाँ खड़ी-खड़ी बेइज्जती करा रही हो···चुपचाप सुने जा रही हो और यह राच्छसी की तरह बके जा रही है···उस किसना बरम राच्छसी ने इसका मगज खराब कर दिया है···वह इनका सत्तानास करेगी···चलो तुम···हम तुम्हारे साथ चलेंगे···न हो दो बहिनें तो हैं ही···' वातावरण में सन्नाटा छा गया··· सोना की ज़ुबान थम गई ··किसना के हवा में नाचते हाथ रुक गये···ऐसा तो कभी हुआ नहीं था·· इतनी जुर्रत और वह भी मुखिया-पत्नी और किसना महराजिन को लेकर···सबसे पहले किसना ही सकते की-सी हालत से जैसे होश में आ गई···उसने चिल्ला-चिल्ला कर रोना आरम्भ कर दिया···बीच-बीच में बोलती भी जाती थी—'कृत्या दे दूँगी···बरमसाप दे दूँगी···मुँह फूँक दूँगी···समझती क्या हैं चुड़ैलें'···क्रोध से उसका सारा बदन काँप रहा था···बीच-बीच में गालियाँ भी दे रही थी···मंजुला घबरा

गई···उसने धीरे से रनिया से कहा—'बहिन तुम्हारा स्नेह कभी भी नहीं भूलूँगी पर इस सब से तो यही अच्छा है कि मैं···' इसी समय कहीं दूर से आती हुई धनिया दिखाई दी···पास आकर पलक मारते ही वह पूरी बात समझ गई···क्रोध के मारे उसके नथुने फड़क रहे थे···उसने गरज कर कहा—'देवी जी ! तुम यहाँ क्यों आईं···इन डंकिनियों की गालियाँ खाने को बहुत मन करता है तो खाओ···और मार भी खाओ···जूते भी खाओ···मुझे क्या···मेरी तुम लगती ही कौन हो···न जाने इनसे तुम्हें इतना मोह क्यों है···ठीक है तब मरो इन्हीं सब के हाथों···मुझे क्या···अपने को क्या···मुझे क्या···' और वह बड़बड़ाती हुई चली गई···मंजुला तो कुछ भी समझ नहीं पा रही थी···मूक मौन थी···उसे लग रहा था जैसे वही सबसे बड़ी अपराधिन है···रमिया ने फिर कहा—'उस हत्यारी का क्या है जो चाहे बक दिया···वह दुष्टा तो ऐसी है कि कौन बात···' और वह लगभग हाथ पकड़ कर मंजु को घटना-स्थल से लगभग घसीटती हुई ले गई···उसी दिन से गाँव में दो दल हो गये···कुछ लड़कियाँ, स्त्रियाँ मंजु के पास आने-जाने भी लगीं किन्तु धनिया फिर किसी दिन नहीं आई।

३४

'देखो तो सही कितनी प्यारी बच्ची है।' मृदुला माँ बनकर सारी ग्लानि भूल गई थी। प्रसूति-काल में मृदुला बहुत बीमार हो गई थी। बड़ी कठिनाई से माँ और बेटी दोनों स्वस्थ होकर पिता के घर से कुछ ही दिन हुए लौटी थीं। मृदुला दुबली हो गई थी, बहुत ही अधिक दुबली हो गई थी किन्तु मुख पर पीलेपन के साथ एक ऐसी स्निग्धता-सी छा गई थी जो देखते ही बनती थी। बच्ची बिलकुल पिता को पड़ी थी। मृदुला लगभग तीन महीने पिता के घर रही। इसी बीच कुँवर साहब किसी काम से एक बार जर्मनी भी हो आये···मृदुला के पिता की सहायता से एक आयरन मिल भी लग गई थी और एक कॉटन मिल लगाने के लिये विदेश से

मशीनों के आने की चर्चा भी सुनी जाने लगी थी। शायद कॉटन मिल में तो मृदुला के मँझले भाई का भी शेयर रक्खा जाने वाला था···मृदुला की रुचि इस ओर न थी···कठिन रोग के अन्त में नन्हीं-सी मुन्नी पाकर मृदुला प्रसन्न थी···अत्यधिक प्रसन्न थी···जब नन्हीं-सी मुन्नी अपनी नन्हीं-नन्हीं लाल-लाल, कोमल-कोमल अँगुलियाँ चला कर कुछ ढूँढ़ने-सी लगती है तो मृदुला को बड़ा अच्छा लगता है। वह पिछले कितने ही दिनों से प्रतीक्षा कर रही थी कि कुँवर आ जायें ताकि वे भी मुन्नी की अत्यन्त कौतुक-भरी हरकतों को देख सकें···कुँवर आ गया···मृदुला अपने घर भी आ गई ···दाई माँ कन्या को देखकर कुछ विशेष प्रसन्न नहीं जान पड़ी। मृदुला ने सोचा आखिर है तो नौकरानी ही। मृदुला ने बालिका को पालने के लिए एक ट्रेन्ड नर्स रक्खी थी···सौ रुपये मासिक और रोटी कपड़ा देना होगा··· उसके नीचे एक नौकरानी और एक लड़का भी रहेगा···दाई माँ से किसी ने भी सलाह नहीं माँगी थी फिर भी वह कहने लगी—'बहू रानी! बिटिया के लिए इतना खर्चा···' मृदुला को एक तो यूँ ही दाई माँ का बीच में अकारण बोलना अच्छा नहीं लगता था तिस पर इधर वह कमजोरी के कारण भी कुछ जल्दी ही क्रोधित हो जाती है। और फिर यह कहा गया उसकी बिटिया के लिए···बिटिया के लिए खर्च न हो यह मृदुला कैसे सह लेती···ऐसी कौन-सी घर में धन की कमी है···पाँच-पाँच छः-छः सौ रुपये महीने का तो क्लब का ही बिल हो जाता है और फिर इसे क्या? यह कौन है? मैं चाहे जैसे अपनी बच्ची को पालूँ। मृदुला ने कहा—'खर्चा मैं करूँगी। तुम्हें क्या?'

'कुँवर साहब से पूँछ लिया है?' मृदुला के सिर से पैर तक आग लग गई। उसने चिढ़कर कहा—'यह सब बातें मैं तुमसे ज्यादा अच्छी तरह जानती हूँ।'

'मुझे क्या? कहना मेरा धरम है सो कहे देती हूँ। आगे तुम जानो। फिर न कहना कि दाई ने···'

'तुम अब यहाँ से चली जाओ और फिर कभी मेरे बीच में न बोलना !'

मृदुला ने निश्चय किया कि आज शाम को वह कुँवर से कह देगी कि बुढ़िया दाई को समझा दें कि वह अपनी हैसियत के भीतर ही रहे किन्तु इससे पहले ही जब कुँवर ने खाने की मेज पर बूढ़ी दाई के सामने ही मृदुला से कहा—'मृदुला ! नर्स का क्या होगा ? अब तो तुम ठीक हो। एक आया रख लो और यूँ भी घर में इतने नौकर नौकरानी हैं फिर तुम्हारी आया भी साथ आई है।' तो मृदुला समझ गई कि बात क्या है ? फिर भी उसने सहज स्वर से ही कहा—'केवल असंस्कृत नौकरानियों के भरोसे तो लड़की को छोड़ा नहीं जा सकता।'

'जब यह सब समझती हो तो क्या यह नहीं समझतीं कि सुसंस्कृत माँ को अपने बच्चे स्वयं रखने चाहियें।'

मृदुला का स्वभाव सदा से ही अच्छा था। बराबर से बहस करना, कहा-सुनी करना उसके संस्कारों के विरुद्ध था किन्तु जब उसने देखा कि बूढ़ी दाई वहीं खड़ी मुस्करा रही है तो उसके संयम का बाँध टूट गया। उसने जिद से कहा—'नर्स तो रहेगी ही !'

'मेरी इच्छा के विरुद्ध भी !' स्वर में प्रश्न की अपेक्षा धमकी ही अधिक थी।

'और मेरी इच्छा का क्या कुछ भी मूल्य नहीं है !'

कुँवर को कन्या-रत्न की प्राप्ति होने का समाचार कुछ भला नहीं लगा था···माँ की सम्पत्ति प्राप्ति की उनकी आशा पर भी उन्हें तुषारपात ही होता जान पड़ा था···तिस पर बूढ़ी नौकरानी ने नमक-मिर्च लगाकर जो समाचार उन्हें दिया था वह भी उन्हें कुछ विशेष कर्णप्रिय नहीं जान पड़ा। ठकुराई का सम्मान उबल उठा। उन्होंने कुछ तीखे लहजे में कहा—'औरतों की इच्छा का भी मूल्य होता है ?' स्वर में व्यंग्य भी था और

जान बूझकर अवहेलना करने की भावना भी···दुर्बल मृदुला को जान पड़ा कि धरती आकाश सभी घूम रहे हैं। यही वह सुसभ्य, सुसंस्कृत पुरुष है जो एक दिन नारी के समानाधिकार की अकाट्य दलीलें जोरदार गले से दिया करता था···इस प्रियदर्शी···आधुनिक वेश-भूषा से सज्जित महीनों-वर्षों अपनी उदारता का अप्रत्यक्ष रूप से सिक्का जमाने वाला पुरुष कहाँ···किधर और कैसे अपने भीतर एक असभ्य, जंगली···अनुदार पुरुष को अब तक छिपाये रहा यही मृदुला को आश्चर्य हो रहा था। दुर्बल शरीर का दुर्बल मस्तिष्क तेजी से सोच रहा था। सोचे जा रहा था···उसे सर्वाधिक क्रोध दाई-माँ पर था। उसने यथासम्भव स्वर को संयत करते हुए कहा—'ऐसी बातें नौकरों-चाकरों के सामने नहीं हुआ करती हैं···'

कुँवर बीच ही में बात काटकर चीख उठा—'बड़ों का आदर करना सीखो मृदुला।' और दाई माँ मृदुला की ओर एक व्यंग्य भरी मुस्कान फेंकती हुई वहाँ से चली गई मानो यह प्रमाणित करती गई हो कि यह राजघराना है। यहाँ के नौकर-नौकरानी भी स्वामी की कृपा होने पर राजरानी से भी अधिक महत्वपूर्ण हो उठते हैं···तुम हो ही किस खेत की मूली··· जब भगवान की कृपा से यहाँ आ ही गई हो तो यहाँ का अदब कायदा सीखो···मृदुला यह सब सह नहीं सकती थी···बूढ़ी दाई को वह ज़माना याद आ गया ··पुरानी बात है बहुत पुरानी···जब वह जवान थी···जवान भी कहाँ थी···जवान हो रही थी···एक बार छोटी रानी ने चिढ़कर उसका किसी बात पर अपमान कर दिया था···राजा साहब की···कुँवर के पिता की वह मुँहचढ़ी तो थी ही···उसने राजा साहब से कह दिया तो राजा साहब ने नशे के झोंके में उसी दिन उस बिचारी निरपराध छोटी रानी को इस अपराध के दण्डस्वरूप यह सन्देशा भिजवा दिया गया कि राजा साहब उसका मुँह इस जन्म में न देखेंगे। उसे याद आया कि वह उस दिन कितनी प्रसन्न थी। बचपन की वह प्रसन्नता जैसे-उसके मुख पर एक बार फिर नाच उठी। छोटी रानी से उसकी यूँ भी जाने-अनजाने अप्रत्यक्ष रूप से

प्रतियोगिता चलती ही रहती थी। उसके पिता कोई बहुत बड़ी स्टेट के स्वामी नहीं थे, केवल एक छोटे से जागीरदार थे···रूप और गुणों की प्रसिद्धि उसे एक राजमहल में ले आई थी किन्तु शीघ्र ही रूप के लोभी महाराज का मन उससे भर गया था किन्तु ठाकुर की लड़की थी सो भी सात भाँवरे फेर कर ही लाई गई थी। उससे छुटकारा पाना ही कौन आसान था···और फिर उसे याद आया कि राजा साहब उससे भी ऊबने लगे थे···एक दिन जब उसे पूरे पैंतीस दिन तक राजा साहब के प्रयत्न करने पर भी दर्शन नहीं हुए थे···खुले हाथ खर्च पाने की भी कमी होने लगी थी तो वह रो पड़ी थी···उसे रोते देखकर एक अधेड़ नौकरानी ने उससे कहा था 'यह तो होना ही था···इस पर क्यों रोती है···तू क्या कोई ब्याहता है···अब तो बस दूध की मक्खी की तरह बाहर ही पड़ी रहना है तो पड़ी रह···' बहुत दिनों तक रो-गाकर भी जब कुछ फल नहीं निकला तो वह न जाने कैसे अपने आप ही महल की राजनीति में भाग लेने लगी और न जाने कैसे अपने आप ही इतनी कूटनीतिज्ञ हो गई कि फिर सभी उससे भय खाने लगे···एक तरह से यूँ कहना चाहिये कि अब भी रानी-माँ ही ने उसे बेटे के पास बेटे की रक्षा करने के लिये रहने को भेजा था और इसी अधिकार से वह कह-सुनकर कुँवर का मन अपनी ओर बनाये रखती थी। सरल-चित्त मृदुला न तो कूटनीतिज्ञ ही थी और न ऐसे वातावरण की अभ्यस्त ही···कुँवर ने एक दिन उसे प्रेम किया था···भरपूर प्रेम किया था और उसी प्रेम को सम्बल मानकर वह जीवन यापन करना चाहती थी···उसके घर में माँ थी···भाभियाँ थीं···उसने पिता को माँ का सम्मान करते देखा था···भाभियों को स्वेच्छा से घर-गृहस्थी चलाते देखा था··· उसने उसी प्रकार की गृहस्थी की कल्पना की थी···तिस पर कुँवर तो उसके पिता···उसके भाइयों से भी अधिक उदार वृत्ति के थे···उसकी सखी-सहेलियाँ उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या करती थीं···केवल विवाह के अवसर पर बधाई देते हुए अंजना दास गुप्ता ने धीरे से उसके कान में कहा था—

'जान पड़ता है तुम ठगी गईं अन्त में मृदुला।' मृदुला को उस समय जान पड़ा था कि अंजना दास गुप्ता के स्वर में ईर्ष्या है, द्वेष है और न जाने क्या-क्या है···उसे यह भी लगा कि कहीं उसी स्वर में असफलता का नैराश्य भी तो नहीं है···फिर भी उससे सफलता के गर्व से सिक्त मर्यादा से सधे-बँधे स्वर में इतना ही कहा था—'क्या ऐसा ठगा जाना ही विश्व का सबसे बड़ा सौभाग्य नहीं है?' स्वर कुछ तिक्त भी था और कुछ व्यंग्य-पूर्ण भी। शायद अंजना दास गुप्ता मन ही मन मुस्करा दी किन्तु कहा उसने शान्त भाव से यही—'जीवन भर ऐसा ही समझ पाओ यही आशीर्वाद देती हूँ।' और फिर वह कुछ नहीं बोली। उसे याद हो आया कि एक दिन अंजना ने बातों-बातों में ही उसे कहा था कि कुँवर के रक्त में मानव और भेड़िये के रक्त का विचित्र सम्मिश्रण है···वह मानव की भाँति सदय भी हो सकता है और भेड़िये की भाँति क्रूर भी किन्तु यथार्थ स्वरूप उसका क्या है यह कोई नहीं कह सकता···यह भी नहीं जाना जा सकता कि कब उसका कौन-से रक्त का प्रभाव प्रबल हो उठेगा···मृदुला ने हँसकर कहा था—'आपने कुँवर के रक्त का खूब विश्लेषण-परीक्षण करके देखा है जान पड़ता है।' 'करना ही पड़ा क्योंकि वह मेरा मित्र जो है और है भी घनिष्ठ मित्र। उसका स्वभाव मैं न जानूँगी तो कौन जानेगा?' उस समय मृदुला ने उसे नारीसुलभ ईर्ष्या ही समझा था किन्तु आज उसे अचानक ही वह सब स्मरण हो आया। कुँवर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही मेज़ पर से उठकर चला गया किन्तु मृदुला भीतर ही भीतर अत्यन्त क्षुब्ध हो उठी। इस प्रकार की परिस्थिति की उसने जीवन में कभी कल्पना भी नहीं की थी···मृदुला ने फिर नर्स को नहीं रखा। माँ को तार देकर उसका आना रुकवा दिया किन्तु उस दिन से मृदुला के मुख पर किसी ने कभी हँसी नहीं देखी। अक्सर वह गुमसुम बैठी न जाने क्या सोचा करती थी। दाई माँ ने सोचा कि उसकी विजय हुई···कुँवर ने सोचा कि उसके स्वामित्व की गहरी छाप मृदुला के मन पर पड़ गई किन्तु मानिनी मृदुला ने उसी क्षण

से स्वामिनी के बाह्य रूप के भीतर ठीक-ठीक दासी का सदय रूप अत्यधिक असह्य अभिमान के साथ स्वीकार कर लिया। कहीं किसी ओर भी कभी कोई भान तक भी न कर सका कि मृदुला के सुखी दाम्पत्य जीवन, उसके कभी भी कुँवर साहब की किसी भी बात से अस[illegible] न होने की भीतरी तह में घना अभिमान है, कठिन गर्व है और है सब प्रकार से, सब ओर से अस्तित्व विहीन होकर, स्वत्वहीन होकर, नष्ट होकर ही गौरव बनाये रखने की चाह···जब नारी की इच्छा का कुछ मूल्य ही नहीं है तो क्या मैं जाऊँगी पल्ला पसार कर उसे माँगने भिक्षा की झोली में और सो भी उस व्यक्ति के निकट जो उस इच्छा के मूल्य का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं कर पाता है···कभी-कभी इसी तरह सोचते-सोचते मृदुला को जान पड़ता कि जिसे उसने प्रेम किया था वह व्यक्ति कहीं खो गया है···यहाँ नहीं है···कहीं भी नहीं है···क्या करे वह·· किसी से बात भी तो नहीं कर सकती ··अपनी इतनी बड़ी लज्जा की बात किससे कह पायेगी वह···काश कि मंजुला होती··· मास्टर साहब ही कभी आ जाते···लेकिन नहीं···नहीं···वे न आयें यही मेरी इच्छा है···इतने बड़े···इतने घोर असम्मान के बीच किसी प्रकार भी किसी कारण से भी खींच-घसीटकर स्वप्न में भी लाकर खड़ा करूँ ऐसी मेरी हिम्मत ही नहीं होती···अधिकार की सीमाएँ जहाँ बाँध दी जाती हैं वहाँ अधिकार के प्रश्न को लेकर झगड़ा करना कोई भले ही कर सके मृदुला नहीं करेगी, कर पायेगी ही नहीं और करके उसे मिलेगा भी क्या असम्मान ही तो···वह ऐसा दावा लेकर खड़ी ही क्यों होगी···उसके कानों में अनायास ही गूँज उठता—'माँग कर मय न पियूँ यह मेरी ख़ुद्दारी है। यह तो मतलब नहीं इसका कि मुझे प्यास नहीं।' किन्तु प्यास से मर जाने पर भी माँग कर पीना छिः छिः! उसका हृदय घृणा से भर उठता था···कुँवर अब अक्सर कार्यवश बाहर जाते थे। मृदुला न कभी रोती थी और न उसे कभी कोई शिकायत ही होती थी·· दाई-माँ से भी मृदुला प्रायः कम ही बोला करती थी···दिन भर अपनी लड़की को लेकर ही

व्यस्त रहने वाली मृदुला को देखकर दाई-माँ कभी-कभी चिन्तित भी हो जाती थी किन्तु उपाय ही क्या था। इधर न जाने क्यों दाई-माँ तरह-तरह के प्रयत्न करके मृदुला को प्रसन्न करने की चेष्टा करती किन्तु मृदुला प्रश्रय ही नहीं देतीं थी···मायके जाने की चर्चा आते ही टाल देती थी··· वर्षों से धूलभरी आलमारी साफ़ हुई। पुस्तकें साफ की जाने लगीं और मृदुला के समय का एक भाग पुस्तकालय के कमरे में ही बीतने लगा। दाई-माँ यह सब देखकर सन्तुष्ट नहीं थी किन्तु विवश थी···मृदुला कुछ कहती भी तो नहीं थी···एकबारगी चुप, साध्वी की भाँति तपस्यारत बहू-रानी से कोई कह भी क्या सकता था? मृदुला की एकरस शान्ति में कभी-कभी नन्हीं-मुन्नी चिटिया व्यतिरेक ला ही देती थी, फिर भी घर संसार चल ही रहा था।

३५

'आये हो तो बैठो, खाओ, पिओ और चले जाओ अरुण! मुझे पाठ पढ़ाने की चेष्टा न करो।'

'पाठ नहीं पढ़ाता···पढ़ाने की इच्छा भी नहीं है फिर भी...' अरुण का-जी चाहा कि कुछ कहे किन्तु क्या कहे वह ठीक से निश्चय नहीं कर पाया। 'कहो, कहो रुकते क्यों हो? यही कहना चाहते हो न कि मैंने बुलाया था इसीलिये तुम चले आये। ठीक है बुलाया तो था···रुको-रुको तनिक मुझे अपनी बात कह लेने दो···यह सोचकर बुलाया था कि इस वीरान में किसी से दो-चार ठीक-ठीक बातें सुन लूँ लेकिन फिर सोचा कि क्यों न ऐसे प्रबन्ध करूँ कि यह बातें सदा ही सुनता रहूँ।' अरुण की समझ में कुछ नहीं आया। उसने दाहिने हाथ से माथे पर पड़े रूखे बालों को हटाते हुए कुछ सोचना शुरू कर दिया—'बुलाया तो था लेकिन उम्मीद नहीं थी कि तुम आओगे फिर भी बुलाये बिना रहा ही नहीं गया।'

'आपकी कृपा है।' अरुण ने नम्र भाव से कहा किन्तु उसके स्वर में दृढ़ता थी। कुँवर को अरुण के स्वर का अहंकार अच्छा नहीं लगा किन्तु कुँवर को तो आज अपना काम बनाना था। पिछले कुछ महीनों से अरुण का प्रभाव मिल मजदूरों पर बहुत अधिक बढ़ गया था···गत वर्ष भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति आ गई थी किन्तु तब तक शुगर मिल के बन्द होने का समय हो आया था। अतः बात खतम हो गई। इधर फिर मजदूर आफिसरों के शब्दों में सरकश होने लगे थे। 'सरकार तो यूँ ही मजदूरों को हर तरह से सिर पर चढ़ाने को तुली हुई है फिर भी नगर से दूर कसबे में खड़ी मिल का मजदूर न तो पढ़ा-लिखा ही है और न इतना समझदार ही किन्तु ज्यों ही उसे किसी की शह मिल जाती है वह आने-अनजाने सभी अधिकारों को पाने के लिये बावला हो उठता। फिर वे लोग ठहरे छोटी जाति, न हया न शरम···नंगा क्या नहायेगा और क्या निचोड़ेगा···सरकार! वे लोग हमको तो कुछ मानते ही नहीं हैं और हम तो अपनी इज्जत गँवाने यहाँ आये नहीं हैं, अतः कुछ तो करिये नहीं तो आगे चलकर मुश्किल हो जायेगी··· वह एक गँवार-सा अरुण है न? पास के चमारों के गाँव का···शायद कुछ पढ़ा-लिखा भी हो···वही कभी-कभी यहाँ आकर अन्धेर मचा जाता है···उसने गाँव वालों को भी न जाने क्या-क्या सिखा दिया है···अब सरकार मरे ढोर-डाँगर चमार न उठायेंगे, न खायेंगे तो क्या हम लोग उठायेंगे···आप जब बाहर गये थे तो मैनेजर साहब की भैंस मर गई। चमरिया गाँव से दो-चार आदमियों को बुलाया गया। एक औरत भी रही···उन्होंने मैनेजर साहब से उलटी-सीधी की तो मैनेजर साहब ने उन्हें दो-चार धौल जमवा दिये···बस फिर क्या था, गाँव भर ने एका कर लिया कि मरी भैंस कोई नहीं उठायेगा···इसी अरुण ने चिल्ला-चिल्लाकर मजूरों से कहा कि औरत पर हाथ उठाने वाले कसाई हैं···उनसे हमें कोई हमदर्दी नहीं है। अरे यह तो सरकार सदा से होता आया है···चमरिया कोई रानी-महारानी तो थी नहीं जो पर्दे में बैठी रहती···काम-काज न करेगी तो कमीने की औरत

को दो-चार धौल-धप्पड़ हो जायगी तो उसमें कौन गुनाह हुआ···आप थे नहीं···झगड़ा बढ़ गया तो उसे किसी न किसी तरह तै करना ही था··· वह कमबख़्त अरुण तो राजी ही नहीं होता···वह कहीं चला गया था तो मैनेजर साहब ने दस-बीस रुपये देकर मामला रफा-दफा करा दिया···पर बीज थोड़े ही जल गया···वह तो समझो फिर कुछ लोगों को ऐसे क़तल के मुक़दमें में फँसा दिया है कि बच्चा जी जिन्दगी भर याद करेंगे और वह याद करेंगे···पर सरकार कुछ उपाय होना चाहिये नहीं तो शरीफ लोगों का जीना दूभर है। मैनेजर साहब तो कहते थे कि वह कहीं और नौकरी कर लेगें। गाँठी गाँव वाले बुला ही रहे हैं पर मैंने कहा सरकार का नमक खाकर ऐसी बात कहते हो···राज कांगरेस का जरूर आ गया है पर सरकार भी कुछ ऐसे वैसे नहीं हैं···कांग्रेस के मिनिस्टर के दामाद हैं···' और इसी प्रकार की न जाने कितनी बातें खिदमतगारों ने कुँवर साहब से समय-समय पर कही थीं। कुछ आफिसरों ने भी मजदूरों की शिकायतें की थीं। कुँवर साहब ने जर्मनी में कुछ कारखाने देखे थे···मजदूरों से बातचीत की थी···अमेरिका में तो कई मजदूर उनके बड़े अच्छे मित्र बन गये थे···उन्हें भारतीय मज़दूरों से सहानुभूति थी। सरकारी योजना के अनुरूप उन्होंने मज़दूरों के लिये कुछ क्वार्टर्स भी बनवाये थे किन्तु वे थे ही कितने और जो थे भी धीरे-धीरे उनमें उन्हीं के नौकर-चाकर या छोटे आफिसर, क्लर्क आदि आ बसे थे···साल में छः मास काम करनेवाले मज़दूरों को भी क्वार्टरों की आवश्यकता हो सकती है यह कोई भी मानने को तैयार नहीं था। कभी-कभी वह जब नशे की झोंक में अथवा यूँ ही कल्पना में अमेरिका में पहुँचकर डेटेरायट में अपने मित्र डिक और विली के घरों में पहुँचकर उस मज़दूर जीवन के स्वप्न देखने लगते थे जहाँ साफ-सुथरा सुन्दर ढंग से सजा हुआ चार कमरों का घर था और बाहर खड़ी मोटर तथा भीतर रखा टेलीविज़न था···पत्नी सुन्दर, स्वस्थ और परिश्रमी थी तथा बच्चे साफ-सुथरे, स्वस्थ और प्यारे थे···जहाँ वह मज़दूर के साथ बैठकर शराब

ीता था, काफी पीता था, कोल्ड टी पीता था और जाने क्या-क्या खाता-
ीता था और वहीं एक और चित्र उभरता था घुटनों से ऊँची धोती पहने,
सलियाँ चमकती हुई देह लिये, सदा ही उनींदी आँखोंवाली गन्दी,
ोगिणी पत्नी और गन्दे, अस्वस्थ बच्चों का एक ही गंदी, महागन्दी झोपड़ी
में रहनेवाला पति, पिता, मज़दूर···चित्र साथ-ही-साथ खड़े हुए कुँवर
ाहब को अच्छे नहीं लगते थे। कभी-कभी वह सोचते भी थे कि इनमें
ुधार किया जाये किन्तु कैसे हो यही कुछ जान नहीं पाते थे···गत वर्ष
उन्होंने एक प्राइमरी स्कूल भी खुलवाया था किन्तु बच्चे उसमें जाते ही
हाँ थे···गरीब के बच्चे को पढ़ने की सुविधा ही कहाँ है···इस बार जर्मनी
े लौटने पर वह फिर बहुत अच्छी-अच्छी योजनाएँ मन में भर कर लाये
थे···किन्तु मृदुला के लड़की हो गई···अरुण ने यहाँ अंधेर मचा रखा
था यह सब सुनकर उनका मन खट्टा हो गया···फिर भी उन्होंने इधर
अरुण के बढ़ते हुए प्रभाव को देखा, सुना, जाना। कारिन्दों ने बताया कि
केसी भी मज़दूर के घर में मरनी-करनी कुछ भी अरुण के बिना नहीं
होती···वह मीलों पैदल चलकर इनके दुःख-सुख में शामिल होने आता
है···उन्होंने यह भी बताया कि उसने न जाने क्या जादू मज़दूरों पर कर
दिया है कि सभी उसकी बात मानते हैं···मैनेजर साहब ने एक यूनियन
बनवाकर भेद डालना चाहा था पर अरुण की तो कोई यूनियन है नहीं···
उसने तुरन्त ही मज़दूरों को यूनियन बना लेने की ही सलाह दी···वहाँ न
तो कोई सभा है न समिति···न कोई विधान है और न पदाधिकारी···अकेला
अरुण ही सब का मित्र जान पड़ता है। उसने इधर तो रात्रि-पाठशाला
भी खोल दी है। खिदमतगार ने इशारा किया कि मैनेजर साहब ने तो
उसे रात को लौटते समय खतम ही कर डालने की सोची थी पर मज़दूर
लोग उसे कभी अकेला जाने ही नहीं देते हैं और देर होने पर तो यहीं
बुला भी लेते हैं···उपाय तो मैनेजर साहब ने कई किये किन्तु कुछ हो नहीं
पाया···इसी से मैनेजर साहब और सभी अमला कुछ चिढ़ा हुआ-सा है।

कुँवर ने परिस्थिति पर ग़ौर किया, सोचा और मैनेजर से बात की। हँसकर यह भी कहा—'विषस्य विषमौषधिम् क्या कहते हैं मैनेजर साहब !' नशे में लाल आँखें ज्यों ही कुँवर ने मैनेजर साहब की ओर उठाकर कहा मैनेजर साहब यद्यपि समझे तो कुछ भी नहीं फिर भी दरबार में रहे हुए व्यक्ति थे हँसकर बोले—'सरकार ठीक कहते हैं। अब आप ही सम्भालिये, यह आप ही के बस की बात है···' चाटुकारिता से कुँवर आनन्दित हो उठे। बहुत दिनों से ऐसी बात नहीं सुनी थी···अभी उसी दिन तो अंजना दास गुप्ता ने कहा था—'तुम महाबुद्धू हो वीरेश्वर। सरलता तुम्हें छू भी नहीं गई है।' प्रीति ने भी कहा था—'वीरेश्वर तुम कब इन्सान बनोगे···' उन्हें यह सब अच्छा नहीं लगा। वस्तुतः किसी को भी तो ऐसी बातें अच्छी नहीं लगतीं···अच्छी तो वही बातें लगती हैं जो मीठी हों, आत्मश्लाघा से पूर्ण हों···आदि-आदि·····पूर्णतया सन्तुष्ट होकर कुँवर साहब ने अधभरे गिलास को हाथ में उठाते हुए कहा—'तब वही होगा। आप अरुण से इतना घबराते क्यों हैं ? अरे वह तो एक बेकार छोकरा का है···नौकरी मिली नहीं शायद, ज्यादा पढ़ा-लिखा भी नहीं है, तभी तो कहीं काम नहीं मिला। उसे मुट्ठी में लाना क्या मुशकिल है...' कहते-कहते कुँवर को वहीं बाधा जान पड़ी···अरुण का दृढ़ मुख उनकी कल्पना में घूम गया किन्तु तुरन्त ही उसने एक घूँट और लेकर कहा—'मैनेजर साहब आप तो महा बुद्धू हैं···अरे अब तक एक छोकरे को बस में न कर सके···उसे तो ऐसा नचाइये कि वह नाचता ही रहे और उसकी डोरी आपके हाथ में हो।' वृद्ध मनेजर साहब मुँह बाये इस युवक स्वामी की ओर देखते रहे···कुँवर ने फिर कहा—'क्षमा कीजियेगा। आप उम्र में मुझसे बड़े हैं फिर भी क्या इतना भी नहीं समझते कि संसार में कोई भी ऐसा आदमी नहीं है जिसे धन से खरीदा न जा सके···अरे महाशय! जब बड़े-बड़े यानी प्रतिष्ठित व्यक्ति खरीदे जा सकते हैं तो यह बेकार छोकरा भला कहाँ बच सकता है

सिर्फ कुछ खर्च भर करना होगा···' कुँवर भावपूर्ण दृष्टि से मैनेजर की ओर देखने लगे।

मैनेजर ने दाहिने हाथ से कुर्सी की दाहिनी बाँह को ठोकते हुए कहा—'कोशिश की थी पर···'

'खाक कोशिश की थी। वह क्या भिखारी है कि दस-बीस पचास लेकर बिक जाय। महाशय। जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता हो वह उसी से खरीदा जाता है यह भी नहीं जानते···खैर जाने दो, अब तो मैं आ गया हूँ···उपाय हो ही जायगा।'

'ठीक है, तब आप कुछ उपाय शीघ्र ही कर दें।'

'हो जायगा।' घने आत्मविश्वास से कुँवर ने कहा।

'तब आज्ञा दीजिये।' कुँवर ने इशारे से आज्ञा दी और मनेजर साहब चल दिये। कुँवर सोचता रहा कि अरुण बेकार है, बातचीत अच्छी कर लेता है···निर्धन है ··शायद कुछ पढ़ा-लिखा भी है, स्पष्ट वक्ता है किन्तु अच्छा साथी हो सकता है···केवल जरा तपाने की आवश्यकता होगी। सो सब हो जायगा और कुँवर साहब ने अरुण को याद किया। न चाहते हुए भी अरुण आ ही गया···क्यों आया सो वह स्वयं भी नहीं समझ पाया। एक बार उसे कुँवर पर दया आई थी किन्तु अब तक वह भाव भी तिरोहित हो गया था···किन्तु वही तो मृदुला के पति हैं···मृदुला के···मृदुला के मानो मन ही मन कई बार अरुण दोहरा गया···शायद मृदुला भी यहीं हो···पिछले दिनों तो वह यहाँ नहीं थी···होती भी क्यों···उसका पति तो विदेश गया था···शायद वह भी अपने मायके चली गई हो···क्यों रहती वह यहाँ···किसके पास रहती·····मृदुला कुछ दुबली हो गई है किन्तु सजीवनी मृदुला बालिका मृदुला से कहीं अच्छी लगने लगी है···कितनी अच्छी है मृदुला और कितना मीठा स्वभाव है उसका···चलूँ शायद मृदुला से भी भेंट हो जाय···शायद···शायद···और अरुण कुँवर साहब

से मिला। कुछ देर तक इधर-उधर की बातचीत होती रही। कुँवर किसी प्रकार भी अरुण को नौकरी देने की बात आरम्भ नहीं कर पाये। कुँवर ने चेष्टा भी की किन्तु अरुण ने बात बढ़ने ही नहीं दी। अरुण ने कुँवर साहब को मजदूरों की दशा सुधारने के विषय में कुछ सुझाव देने चाहे किन्तु कुँवर कुछ चिढ़ से गये थे, लगभग ४०-४५ मिनट चेष्टा करके भी वह अपनी बात कह नहीं पा रहे थे, अतः झुँझला जाना स्वाभाविक ही था। चिढ़कर कुँवर ने कहा—'आये हो तो बैठो, खाओ-पियो और चले जाओ अरुण! मुझे पाठ पढ़ाने की चेष्टा न करो।'

अरुण ने फिर कुछ देर तक यह सब चर्चा नहीं की किन्तु कुँवर साहब को ऐसा लगा कि उनसे कहीं कोई भूल हो गई है। उन्होंने तनिक स्वर को नम्र करके कहा—'अरुण! तुम शायद नहीं जानते कि मैं तुम्हें कितना मानता हूँ। सचमुच तुम्हारे सुझाव तो बहुत अच्छे हैं किन्तु यह तो बताओ कि इन्हें पूरा करने वाला आदमी कहाँ से पाऊँ?' अरुण को तनिक आश्चर्य हुआ कि कितना विचित्र स्वभाव है इस व्यक्ति का। अभी-अभी कुछ ही देर पूर्व तो यह कह रहा था कि मुझे पाठ-पढ़ाने की चेष्टा न करो और अब कह रहा है कि तुम्हारे सुझाव अच्छे हैं इन्हें पूरा कैसे किया जाय···फिर भी उसने धैर्यपूर्वक यही कहा—'भावनाएँ शुद्ध होने पर उपाय स्वयं ही निकल आते हैं।' कुँवर को उत्तर भला लगा। उन्हें कुछ आशा भी होने लगी। मन-ही-मन उन्होंने मुस्करा कर कहा—'आज तुम्हें खरीद ही लूँगा। मूल्य चाहे जितना भी देना पड़े। यह झंझट आज सदा के लिए ही मिटा दूँगा ताकि भविष्य में फिर यहाँ कोई गड़बड़ी न हो सके।' प्रकट उसने उसी प्रकार मुस्कराते हुए कहा—'आदमी दुनियाँ में बहुत मिलते हैं किन्तु सचमुच में योग्य व्यक्ति जरा कठिनाई से ही मिलते हैं और मुझे तो उन्हीं कठिनाई से मिलने वाले व्यक्तियों की तलाश रहती है। कुछ ऐसा ही मेरा स्वभाव बन गया है। क्या करूँ?' सुन्दर सलोने मुख पर एक मीठी-सी मुस्कान थी। न जाने क्यों अरुण को उस प्रियदर्शी

मुख की मीठी-सी मुस्कान भली नहीं जान पड़ी···उसे जान पड़ा कि वह व्यक्ति मन-ही-मन व्यंग्य से मुस्करा रहा है। 'आदमी तो आपके पास भी बहुत हैं और योग्य आदमियों का क्या कीजियेगा ?' कुँवर मन-ही-मन कुछ जोर से हँस पड़ा। उसने एकाएक स्पष्ट शब्दों में धीरे-धीरे कहा—अरुण ! तुम्हारी बातें मुझे बहुत ही अच्छी लगती हैं मित्र। शायद कुछ पढ़े-लिखे भी तुम हो ही। कहो तो तुम्हें अपनी इसी मिल में वेलफेयर आफिसर बना दूँ···बोलो कितनी तन्ख्वाह लोगे ?' अप्रत्याशित ढंग से किया हुआ प्रस्ताव एकाएक कानों में प्रवेश करके भी अरुण के मन में प्रवेश नहीं कर पाया। 'कहो तो' ही सर्वाधिक प्रधान बनकर उसके मन पर छा गया। उसे क्षणेक को जान पड़ा कि उसके सम्मुख स्वर्ण अवसर है···सेवा तो वह कर ही सकेगा साथ ही-साथ मंजुला को भी कुछ सुख दे सकेगा···मंजुला, उसकी प्यारी मंजु कितनी दुबली हो गई है, कितनी सुस्त रहती है···कभी उसकी ओर दृष्टि भरकर देखने का भी तो समय नहीं मिलता और उसे भी समय कहाँ होता है···कितनी प्यारी, कितनी अच्छी लड़की है मंजुला···कभी शिकायत का एक शब्द भी नहीं कहती···मृदुला उसकी सखी···आज रानी है, कुँवरानी है किन्तु बेचारी मंजुला मेरे खब्त के पीछे कितना कष्ट पा रही है···उसका सूखा चेहरा, रूखे बाल और फटे अधमैले कपड़े अरुण की कल्पना में उभर आये। उसे क्या अधिकार था कि वह मंजुला को दुःख, दारिद्र्य और कठिनाइयों के बीच घसीट कर लाये···मंजु रानी बनने योग्य है किन्तु आज तो वह गृहिणी भी नहीं बन पा रही है···तब क्यों न मैं काम कर ही लूँ··· धन भी मिलेगा और मान भी, प्रतिष्ठा भी और सुविधा भी····· मुझे कुछ भी नहीं चाहिये किन्तु मेरी बेचारी बहिन···मेरी अभागी माँ औषधि, पथ्य और साधनाभाव में चल बसी···तब नौकरी खोजता था किन्तु मिलती नहीं थी, आज नौकरी सामने है···एकबारगी हाथ की पहुँच के भीतर···संकेत मात्र से ही मिल सकती है···तब क्यों न उसे हाथ बढ़ाकर

पकड़ लूँ···सब कुछ तो इस समय सुलभ हो रहा है। उसका जी चाहा कि कह दे ठीक है, यह कार्य मेरी रुचि के अनुकूल है। मैं कर सकूँगा। वेतन का प्रश्न नहीं है, कुछ भी दे दीजिये किन्तु मुझे मेरी योजनाओं को कार्यान्वित करने दीजिये। उसे जान पड़ा कि इस प्रकार वह असंख्य मजदूरों को सुखी बना सकेगा। उनका हित-साधन कर सकेगा···उसके स्वप्न जो आज निरर्थक, व्यर्थ स्वप्न मात्र हैं कभी सार्थक हो सकेंगे। तब फिर वह करेगा···नौकरी करेगा···यही नौकरी करेगा···अवश्य करेगा किन्तु···किन्तु···उसने दृष्टि भरकर कुँवर साहब की ओर देखा। उनकी दृष्टि में उस शिकारी की-सी आकुलता थी जोकि जाल बिछाकर चिड़िया फँसने···या बकरी बाँधकर शेर के आते ही गोली चलाने की प्रतीक्षा में हो···उसे जान पड़ा कि वह बिका जा रहा है·····बौना हुआ जा रहा है···· छोटा होकर नष्ट ही हुआ जा रहा है···मंजु···मंजु कभी भी इसे पसन्द नहीं करेगी···उसे जान पड़ा कि मृदुला की दो चंचल सुन्दर आँखें उसी पर लगी हैं, वह कह रही है तो मास्टर जी आखिर आप मेरे ही नौकर हो गये···मेरे पति ने आपको, आपकी आत्मा को खरीद लिया···किन्तु नहीं वह तो मजदूरों के हितों की रक्षा करेगा···कैसे ? बिककर···स्वयं को बेचकर ···नहीं···नहीं···वह ऐसा कैसे कर सकेगा···नहीं···नहीं उससे नहीं बनेगा···वह हो जायगा फिर आफिसर···कुर्सी मेज पर बैठकर योजनाएँ बनाने, टाइप करवाने और फिर फाइल में रखकर निश्चिन्त हो जाने वाला आफिसर···नहीं...नहीं···वह ऐसा नहीं करेगा···फिर क्या वह गाँव की झोपड़ी में बैठकर रमिया के हाथ की रोटी खा सकेगा···तब क्या वह रानू, मुन्ना, भूरे के घर मरने-जीने, पैदा होने, विवाह होने में जा सकेगा···तब क्या तब क्या वह कल्लू की माँ की बीमारी में उसके सिरहाने रात-रात भर बैठ सकेगा लेकिन क्यों नहीं···ऐसा क्यों नहीं हो सकता···नहीं हो सकता··· शायद नहीं हो सकता···कभी भी नहीं हो सकता···स्वराज्य हो गया··· मजदूरों के हित-रक्षा सम्बन्धी कानून बनने लगे···संविधान में स्त्री-पुरुष,

ऊँच-नीच, धनी-निर्धन सबके समान अधिकार हो गये किन्तु फिर भी कुँवर साहब मखमली गालीचों वाले कमरे में गद्दीदार कुर्सी पर बैठकर मजे से विलायती शराबें पी रहे हैं और उन्हीं की मिल का स्रष्टा मजदूर तीन दिन से ज्वर में पड़ा औषधि-पथ्यविहीन शरीर से तड़प रहा है। अन्तर··· अन्तर···मानव का मानव से अन्तर मिट गया क्या···मैं करूँगा वेलफेयर किसका...रूढ़ा का···कैसे···डाक्टर को दिखाकर, औषधि दिलाकर, किन्तु क्या इतने से ही समस्या का हल हो जाना सम्भव है···शायद हो सके··· शायद न भी हो सके··· ··

कुँवर देख रहा था कि अरुण कुछ सोच रहा है, अरुण के चेहरे के उतार-चढ़ाव को देखकर कुँवर को अच्छा लग रहा था। उसने समय ठीक जानकर चारा फेंका—'देखो अरुण ! तुम मेरे मित्र ही बने रहना। मैं तुम्हें तीन सौ रुपये महीना दूँगा। रहने को बँगले का एक हिस्सा भी मुफ्त ही मिलेगा और काम वर्ष में छः महीने ही करना होगा।' कहकर कुँवर ने इस गर्व से अरुण की ओर देखा मानो उसने जीवन में कभी तीन सौ रुपये एक साथ देखे ही न हों और जैसे कुँवर उसे भिक्षा में अत्यधिक मूल्यवान वस्तु दे रहा हो, जैसे कि उसे सिर झुकाकर कृतज्ञता से नत होकर कुँवर साहब के चरण चूमकर स्वीकार करना ही होगा। मालिक की-सी गर्वभरी दृष्टि अरुण के चुभ-सी गई। उसे लगा कि वह छोटा हुआ जा रहा है। वेलफेयर आफिसर तो एक यहाँ पहले से भी है किन्तु क्या कर पाता है वह···डिस्पेन्सरी है किन्तु दवाइयाँ किसे मिल पाती हैं···यही क्यों, उसे याद आया कि गत वर्ष जब वह एक मजदूर पत्नी की हालत बहुत खराब हो जाने पर उसे सरकारी हस्पताल में भरती करने गया था तो उससे कहा गया था कि उसे खाना प्रातः-सायं भेजना होगा। भोजन सरकारी हस्पताल के जनरल वार्ड में मुफ्त ही मिलना चाहिये यह सुनकर उत्तर मिला था कि यह कानून फिर छाँटना···यदि रोगिणी का पेट भरना है तो उसके खाने का प्रबन्ध करो और फिर उसे यह भी ज्ञात हुआ था कि सर-

कारी दवाइयों के रुपये में से हस्पताल में ग्लूकोज के अलावा, नेस काफी, कोको और स्क्वेश आदि न-जाने कितनी मात्रा में आया था तथा डाक्टरनी और उनके मित्रों की खातिर इन्हीं चीजों से की जा रही थी। ठेकेदार मरीजों को भोजन देने की अपेक्षा डाक्टरनी के घर देशी घी भेजना कहीं अधिक उपयोगी पाता था। उसने नम्रता से कुँवर साहब की इच्छा एवं आशा के विपरीत उनसे कहा—'आप की मुझ पर कृपा है, इसके लिये आपका कृतज्ञ हूँ किन्तु आपकी कृपा का, आग्रह का दान यदि स्वीकार न कर पाऊँ तो आप क्षमा कीजियेगा?' नशे की झोंक में कुँवर का मन मस्त हो गया था। एकाएक यह उत्तर सुनकर उनकी दोनों आँखें जल उठीं··· इस भिखारी की यह हिम्मत कि मेरे दान की अवहेलना करे···उन्होंने व्यंग्य से जलते स्वर में कहा—'नौकरी करने से शायद आपकी इज्जत में बट्टा लग जायेगा अरुण महाशय!' अरुण का जी चाहा कि उसी प्रकार, उसी स्वर में कह दे—'कि आप ठीक ही कह रहे हैं।' किन्तु वह कुँवर साहब से झगड़ा नहीं करेगा, किसी कारण से भी नहीं करेगा···वह मृदुला के पति हैं···और···और···मृदुला···नहीं···नहीं···मृदुला उनकी है ही कौन, किन्तु कुँवर मृदुला के पति···उसने कहा···'जिसके पास इज्जत है ही नहीं उसे बट्टा लगने की चिन्ता ही क्योंकर होगी?' शायद अन्त तक पहुँचते पहुँचते स्वर में व्यंग्य चमक उठा था। कुँवर पी न सके।

'अपनी औकात से अधिक सहज ही मिल भी जाये तो उसे ग्रहण करना भी तो कठिन होता होगा।'

इस बार अरुण क्रोध न कर सका। उसका जी चाहा कि खिलखिला कर हँस दे किन्तु हँस भी न सका। उसने स्वर को यथासम्भव स्वाभाविक ही बनाकर कहा—'यह तो सच ही है कुँवर साहब! कोई दूसरी बात करें।' कुँवर साहब की और बात करने की इच्छा नहीं थी किन्तु वह सहज ही बात बिगाड़ना भी नहीं चाहते थे। उन्होंने टालने के-से भाव से कहा—'मुझे उत्तर पाने की कोई जल्दी तो है ही नहीं। तुम दो-चार दिन में सोच

समझकर उत्तर देना। सचमुच ही तुम्हारे जैसे बुद्धिमान व्यक्ति की यह दयनीय दशा मुझसे देखी नहीं जाती है अरुण।' स्वर पूर्ववत् मीठा था। अरुण का जी चाहा कि कह दे मुझे मेरी ही अवस्था मुबारक हो, आपकी दुनिया मेरी दुनिया नहीं है। तभी कुँवर ने फिर कहा—'तुम्हें इसमें आपत्ति क्या है? तुम तो मजदूरों के हितसाधक हो। इस प्रकार तुम्हें अवसर मिलेगा और साधन भी मिलेंगे। अरुण भाई, सोचो तो केवल हड़तालें करवाकर मजदूरों के मन में उनकी दशा के प्रति असन्तोष का बीज बोकर तुम उनका कौनसा बड़ा उपकार कर रहे हो। इससे तो उनके हित की अपेक्षा अहित ही कहीं अधिक होता है। इससे तो कहीं अच्छा है कि तुम उनका यथार्थ रूप में हित-साधन करो।'

'कुँवर साहब! मुझे केवल इसी एक मिल के मजदूरों की अवस्था पर असन्तोष नहीं है। यहाँ सुधार कर देने से भी समस्या का न तो अन्त ही हो जायेगा और न हल ही। हमें तो सम्पूर्ण पूँजीवादी व्यवस्था ही बदलनी होगी।'

'ओह! तो तुम कम्यूनिस्ट हो?' स्वर में प्रश्न स्पष्ट था।

'नहीं, मैं कोई दल-विशेष में विश्वास नहीं करता किन्तु उन प्रयत्नों में अवश्य विश्वास करता हूँ भले ही वह किसी भी वाद के मानने वालों की ओर से हों जोकि इन्सान को इन्सान की भाँति रहने देने की दिशा में किये जाते हैं।'

'तो फिर पूँजीवादी व्यवस्था को ही तुम क्यों बदलने पर तुले हो?' स्वर में एक विचित्र-सी ध्वनि, विचित्र-सा चैलेंज था।

'सिर्फ इसीलिये कि वह इन्सान को जानवरों की-सी जिन्दगी बिताने को लाचार कर देती है। कुँवर साहब! आज आपके जीवन में और आपके मजदूर के जीवन-स्तर में जो महान अन्तर है। उसे वेलफेयर आफिसर किसी प्रकार भी इंच भर भी कम कर सकेगा इसकी मुझे तनिक-सी भी आशा नहीं है। ठीक है, आपकी बात मानकर मैं अपनी बेकारी की समस्या का

हल कर लूँगा किन्तु केवल इसी से तो समस्या का अन्त हो नहीं जायेगा।'

'यही तो कम्यूनिस्ट भी कहते हैं।'

'हाँ और सोशलिस्ट भी यही कहते हैं, काँग्रेसी भी यही कहते हैं और यदि अन्य राजनीतिक दलों को लिया जाये तो वे भी यही कहते हैं किन्तु वह सब तो सत्ता प्राप्त करने की बातें भी हो सकती हैं। उनसे मुझे क्या लेना-देना है। कुँवर साहब, मैं तो कोई राजनीतिक नेता नहीं हूँ···नेता बनने की इच्छा भी नहीं है और सुविधा भी नहीं, शायद अवसर भी नहीं है। कभी बन पाऊँगा इसकी कोई आशा भी नहीं है और सच तो यह है कि आकांक्षा भी नहीं है। शायद आप विश्वास न करें किन्तु मेरा एक मित्र नेता है और मेरे लिये भी शायद नेता बनना कुछ उतना कठिन न होता।'

'क्यों, नेता होना भी पाप है क्या?'

'पाप-पुण्य की बात नहीं जानता किन्तु नेता भी बनना नहीं चाहता। मैं तो साधारण भारतीय हूँ···और जीवन के अन्तिम क्षणों तक वही रहना चाहता हूँ। थोड़ी-बहुत जिन समस्याओं पर सोच पाता हूँ अपने बेढंगे ढंग से उन्हीं का हल खोजने का अपर्याप्त प्रयत्न करता रहता हूँ।'

'पर उससे नतीजा क्या निकलेगा?'

'मैं नहीं जानता किन्तु नतीजा कुछ भी हो। प्रयत्न करने में एक ऐसा नशा अवश्य है जो मुझे निरन्तर वही करते रहने को विवश करता है।' अरुण के मन की वह नन्हीं सी क्षणैक की मान, प्रतिष्ठा और धन को हाथ बढ़ा कर पकड़ लेने की इच्छा कब और कैसे तिरोहित हो गई यह स्वयं अरुण को भी जान नहीं पड़ा। 'यार तुम लीडर बनो तो अच्छे लीडर बन सकते हो। बोलो बनना चाहो तो कुछ कोशिश करूँ।'

अरुण जोर से हँस पड़ा। 'आप स्वयं ही क्यों नहीं ट्राई करते?'

'नहीं, नहीं, लीडर बनने में वह मजा, वह फायदा नहीं है जोकि

लीडर होने वालों को लीडर बनाने में है । किंग होने से किंग मेकर होना कहीं अच्छा है । तिस पर इंडस्ट्रियलिस्ट को तो किङ्ग मेकर ही रहना चाहिये, किङ्ग नहीं बनना चाहिये ।'

अरुण को यह सब कुछ अच्छा नहीं लगा । उसका जी चाहा कि एक-बारगी उठकर चल दे पर नहीं···यह मृदुला के पति हैं···और कुछ देर तक बातचीत होती रही किन्तु अरुण का ध्यान अब इस ओर नहीं था । फिर कभी आने का जाते समय निमन्त्रण भी मिला किन्तु अरुण की फिर कभी आने की इच्छा भी नहीं थी···कुँवर मन-ही-मन बाजी हार जाने से झुँझला रहे थे किन्तु साथ-ही-साथ यह भी सोच रहे थे कि कहीं कोई त्रुटि रह गई है नहीं तो धन से, मान से न खरीदा जा सके ऐसा कोई मानव हो ही नहीं सकता है । उन्होंने यह क्रम व्यापार अनेकों बार किया था और उनका यह अनुभव बहुत पुराना था । उन्होंने मन-ही-मन कहा—'बेटर लक नेक्स्ट टाइम, देखा जायेगा ।'

बाहर निकलकर भी न जाने क्यों अरुण की इच्छा हुई कि मृदुला कहीं दिखाई दे जाये···कुँवर के पास वह लगभग दो घंटे बैठा था किन्तु मृदुला की कहीं झलक भी नहीं दिखाई दी थी और दिखाई देती भी क्यों··· कुँवर मुँह से भले ही उसे भूले-भटके कभी भाई, कभी मित्र कह दे किन्तु वह क्या कोई कुँवर की बराबरी का है जो कुँवर उससे अपनी पत्नी का परिचय कराते···तो क्या मृदुला ने उस दिन कुँवर को बताया नहीं होगा कि वह आया था और वह मृदुला का गुरु रहा है किन्तु यह भी कोई सम्बन्ध है ? बड़े घरों में ट्यूटर रहते ही हैं···किन्तु क्या उनकी हैसियत साधारण नौकरों-चाकरों से कुछ भी, तनिक भी अधिक होती है···वह भी तो माननीय मन्त्री महोदय की सुपुत्री का ट्यूटर मात्र ही तो था···तब···तब उसने क्या कहा होगा ? क्या यह कहा होगा कि वह मेरी बहिन की सहपाठिनी रही है, सखी रही है किन्तु उसने तो मंजुला के विषय में पूछा तक नहीं···उसकी कोई चर्चा ही नहीं हुई···बिना पूछे मैं भी कैसे कुछ कहता···

या मृदुला ने अपने पति से मेरे विषय में कुछ कहा ही नहीं···नहीं यह कैसे सम्भव हो सकता है ? वे पति-पत्नी हैं, एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, दोनों मिलकर एक ही तो हैं। जाने कैसे एक बड़ी स्निग्ध-सी लहर अरुण के मन को छू गई। वह सिहर उठा किन्तु मृदुला की झलक उसे नहीं मिली···लम्बे-चौड़े बङ्गले के मार्ग के दोनों ओर के फूलों की ओर उसका ध्यान नहीं था किन्तु जब उसने अन्तिम बार फाटक के पास खड़े होकर पीछे मुड़कर उस दोमंजिली कोठी पर अन्तिम नजर डाली तो उसे दो मंजिले की सामने वाली खिड़की में एक नारी-मूर्ति दिखाई दी और उसकी गोद में एक नन्हा-सा बच्चा था···वह कौन हो सकती है··· मृदुला···हाँ···मृदुला ही तो है · मृदुला माँ···माँ हो गई है···मृदुला··· उसे न जाने क्यों हँसी आ गई किन्तु तुरन्त ही उसे ध्यान आ गया कि मंजु भी तो इतनी ही बड़ी है···मृदुला नारी बन गई, रानी बन गई और माँ भी बन गई किन्तु मंजुला···बेचारी मंजुला कठिन परिश्रम का जीवन व्यतीत कर रही है···भरी-पूरी मृदुला और अभावों की साक्षात मूर्ति मंजुला दोनों ही उसके मन में एकबारगी, एक ही साथ-साथ उभर उठीं···वह काँप उठा···उसका मन तिक्त हो उठा···वह झुँझला उठा···उसका जी चाहा कि वह चीख उठे वहीं से और कह दे कुँवर से कि देखो, देखो यही तो अन्तर है...इसे कैसे भर दोगे तुम···ऐ पूँजीपति···ऐ कलयुगी देवता महोदय···

३६

धनिया फिर उधर नहीं आई। रमिया और कुछ और लड़कियाँ, युवतियाँ, स्त्रियाँ केन्द्र में आने लगीं···यद्यपि गाँव में दो दल हो गये थे फिर भी अधिकांश पुरुष अरुण पर श्रद्धा करते थे। मुखिया की माँ की भी सहानुभूति मंजुला की ओर थी किन्तु सहनशीलता की भी सीमाएँ होती हैं। मंजुला ने जीवन का प्रारम्भ बड़ी-बड़ी आशाओं, आकांक्षाओं के साथ

किया था। नन्हीं सी, उगती हुई, बनती हुई मंजुला ने सोचा था कि जो लोग दुःख और सुख दोनों के ठीक बीचोंबीच खड़े रहकर भी अपना मार्ग प्रशस्त करना जानते हैं वही सक्रिय हैं···उसकी शिक्षा कुछ ऐसी हुई थी जिसमें न केवल अपना मार्ग खोजने की ही व्यवस्था की जाती थी वरन् मार्ग पहचानने की क्षमता भी उत्पन्न की गई थी···मंजुला ने लगभग अपना जीवन...क्षेत्र जीवन का मार्ग परिस्थितियों को तरह देते हुए स्वयं ही बनाया था और आगत का भी वह धैर्यपूर्वक स्वागत करती रही थी। शायद वह स्वयं भी नहीं जानती किन्तु उसके धैर्यपूर्वक सहन किये जाने के पीछे शायद कहीं कोई एक क्षीण-सी आकांक्षा यही रही होगी कि कभी तो प्रभात होगा ही···कभी तो शान्ति मिलेगी ही···कभी तो कहीं वह मंजिले मकसूद समझ कर ठहर सकेगी···साँस ले सकेगी···उसने मानव को प्यार करना चाहा किन्तु हुआ क्या, बना क्या···उसने कर्तव्य को पूरी तरह निबाहना चाहा किन्तु वैसी सुविधा भी कहाँ मिली···इधर यदि अरुण को समय होता, सुविधा होती तो वह देखता कि मंजुला अक्सर बहुत चुप-चुप रहती है···न जाने क्या सोचती-सी रहती है···कभी-कभी तो घंटों बैठी रात के अँधेरे में वह शून्य में ताकती रहती है और उस समय अरुण गहरी नींद में सोता रहता है। अधिकतर मंजुला को आजकल ऐसा लगता है कि वह एकाकी है, एकबारगी एकाकी है, अकेली है···वह समझ नहीं पाती कि ऐसा क्यों होता है···अतीत की ओर देखकर झाँकने की प्रवृत्ति उसकी किसी दिन भी नहीं थी किन्तु इधर वह अक्सर अतीत के मीठे स्वप्नों में डूबकर कुछ सोचने-सी लगती है···उसे लगता है कि कहीं कुछ एक अभाव-सा खटकता है···उसका जी चाहता है कि भूली-बिसरी मृदुला काश कि उसे कहीं दीख जाती किन्तु तुरन्त ही आत्मसम्मान चीख-चिल्लाकर कहता है वही मृदुला जो अपने स्वर्ग से उतर कर किसी प्रकार भी मेरी धरती पर नहीं पहुँच पाती···किन्तु मृदुला तो ऐसी नहीं थी···कभी नहीं थी···मृदुला···मेरी मृदुला और उसका मन किसी को मेरा···मेरी···कहने को बरबस ही तड़प

उठता···उसे जान पड़ता कि उसके मन में असह्य पीड़ा हो रही है···कभी-कभी उसे ध्यान आता उन दिनों का जब वह छोटी-सी थी, नन्हीं-मुन्नी-सी थी जब उसके उदार पिता उसे लेकर प्रातः आँगन में बैठकर दूध, चाय और हलवा, मठरी का नाश्ता करते और कराते थे···जब वह हँसकर उसकी माँ से कहा करते थे—देख लेना मेरी मंजु राजरानी बनेगी। और उसी लहजे में माँ भी हँसकर कहती और मेरा अरुण देख लेना बहुत बड़ा आदमी बनेगा। बड़ा आदमी होना क्या राजरानी होने से कम है। पिता हँसने लगते। जब वह हँसते थे तो बड़े ही अच्छे लगते थे। हँस चुकने पर वह कहते—अरुण की माँ! मैं बातों में तुमसे पार कहाँ पाऊँगा। चलो तुम्हारा अरुण बड़ा आदमी बने मेरी मंजु रानी ही भली···मंजु क्या बनी···कुछ भी तो नहीं···सोचा था कि परिश्रम करके, विद्यार्जन करके, गुरु-पद प्राप्त करके कुछ बलिकाओं को चरित्र-निर्माण में सहायता दूँगी मेरा आत्म-सन्तोष होगा और देश के भविष्य के निर्माण में कुछ सहायता ही कर पाऊँगी··· किन्तु हुआ क्या···यही तो कि दो रोटी के पीछे आत्मा का ही हनन करना पड़ा ···कौन चाहता है आज इस देश में गुरु किन्तु क्या मैं सचमुच गुरु थी···यदि नहीं तब फिर क्या थी···शायद व्यापारी थी···विद्या बेचती थी, दान कहाँ करती थी, किन्तु यह तो युगधर्म है···आज विद्या का दान देना और लेना क्या कुछ संभव है और फिर जीविका का प्रश्न···माना कि मैं विद्या-दान नहीं करती थी बेचती थी किन्तु मैंने कब गुरु का गौरव चाहा···मैंने कब उस सम्मान की उपेक्षा की जोकि गुरु का होना चाहिये किन्तु मैं एक ईमानदार व्यापारी तो थी ही, ठगना नहीं चाहती थी किन्तु ठगा जाना भी तो नहीं चाहती थी किन्तु अन्त में ठगाई गई···तब भी सन्तोष ही तो है मुझे कि मैंने ठगा तो नहीं ठगाई ही गई···पर हुआ क्या···कहाँ बनी पिता की लाड़ली राजरानी···शायद मुझे अभिमान था कि मैं हार नहीं मानूँगी···मैंने हार मानी भी कहाँ···सोचा नये पथ पर चलकर शायद चल पाऊँ··सोचा मानव के सर्वाधिक दुःखी, पीड़ित और

कुचले दबे मानव को सेवा से, स्नेह से, त्याग से ही जीत लूँ किन्तु हुआ क्या···मैंने इन लोगों का क्या बिगाड़ा है···मैंने तो सदा किसना महराजिन का आदर ही किया है···मैंने तो सोना भाभी को सदा हृदय का निश्छल स्नेह ही देना चाहा है किन्तु खेल कैसे उलट गया, सभी कुछ कैसे बदल गया···उसकी आँखें भर आतीं···और···और···धनिया भी तो रूठ गई···कैसे बचाकर वह रखना चाहती थी मुझे अपने आँचल की ओट में सभी प्रकार की चोटों से लेकिन ऐसा कैसे हो सकता है···और गिरिजा··· ने ठीक ही कहा था—'मंजु यह कलिकाल है, यहाँ केवल सचाई, स्नेह ईमानदारी आदि-आदि से काम नहीं चलता, कुछ व्यवहार, ज्ञान भी होना चाहिये। खैर तुम्हारी इच्छा वहाँ भी जाकर देख लो। तब क्या मुझ ही में कुछ त्रुटि है किन्तु मैं क्या करूँ···मैंने तो कभी किसी का अहित नहीं चाहा···परहित सरिस धर्म नहीं भाई। पर पीड़ा सम नहीं अधमाई। उसे पिता की बार-बार कहीं पंक्ति न जाने क्यों याद आ गई। मैंने कौन सा पाप किया है···क्या बुराई की है···क्या अनुचित किया है···किन्तु अनुचित और उचित की परिभाषाएँ क्या हैं···अनुचित और उचित में प्रभेद कहाँ है···एक की दूसरे से भिन्नता कहाँ है···किसने बनाये थे कब किस काल में अनुचित-उचित के नियम···एक रात की गहरी अँधेरी सनसनाती भयावनी परछाँइयों के बीच झनझनाते-से स्वर में धनिया ने कहा था—'बुरी तो मैं हूँ ही लेकिन बुरी ही तो अच्छी हूँ···जब भली बनी थी तब कौन इनाम मिल गया था···सच कहती हूँ देबी जी तब सभी कोई डाँट फटकार लेते थे और अब कोई सामने बोल तो जाये···चाहो तो तुम भी बुरा कह लो, मुझे बुरा लगता ही नहीं है, पर बुरा तो मुझे तब लगता है जब कोई लम्बा चौड़ा उपदेश देने लगता है···अरे क्या करती हूँ मैं···मरी नहीं हूँ···जब कोई प्यासा आता है तो प्यास बुझा देती हूँ···और बदले में वह जब कुछ कृपा करके पान-फूल-पत्ते चढ़ा देता है तो ले लेती हूँ···इसमें पाप क्या और दोख क्या ' गंगा जी भी तो यही करती हैं···मैं भी गंगा जी की

ही तरह हूँ···बस पहले यह सब नहीं जानती थी तो दुःख पाती रही अब कोई मुझे दुःख दे तो जानूँ···एक दिन कसबे में एक पंडित जी मिले, कहने लगे—'तुझे घोर नरक मिलेगा···'मैंने भी तपाक से कहा—'तो समझ रख पंडित तुझे भी घसीटकर साथ ही ले जाऊँगी··· अकेले तो वहाँ मेरा मन भी नहीं लगेगा।' टके-सा जवाब सुनकर पंडित चुप रह गया। तुम पर तो सच कहती हूँ दया-माया लगती है नहीं तो मैं क्या किसी का कुछ करने वाली हूँ···न जाने क्यों तुम्हें पहले ही दिन देख कर दया लगी कि यह देवी इन राच्छसों में कहाँ आ गई नहीं तो मुझे कौन गरज पड़ी है कि गाँव में अकारन बैर बाँधूँ···मुँह पर कोई कुछ नहीं कहता पर मैं क्या जानती नहीं हूँ कि पीठ पीछे सब मुझे पापन, हत्यारन कहते हैं पर सभी मुझसे मन-ही-मन डरते भी हैं कि मैं जादू से न जाने कब किसके खसम को भेड़ा बना दूँ···बड़ी देर तक धनिया बकती रही थी··· छिः···छिः मंजुला का मन···सभ्य, सुसंस्कृत मन उत्कट घृणा से भर गया था ··नारी अपनी इतनी अधिक लज्जा की बात इतनी आसानी से, इतने खुलेपन से कह पाती है कितनी निर्लज्जा है यह···मंजुला ने इससे पहले जीवन में कभी कोई इतनी निर्लज्जा, इतनी पापिनी, इतनी दुष्टा स्त्री नहीं देखी थी···अब उसी के साथ एक वायु में, एक छत के नीचे साँस लेते हुए मंजुला की श्वास ही घुटने लगी···उसका जी चाहा कि उसे वहाँ से भगा दे या स्वयं ही कहीं चली जाये। उस दिन तो वह वैसा नहीं कर सकी थी किन्तु आज वह सोच रही थी कि पाप और पुण्य क्या है···उसका सुसंस्कृत मन नारी की तनिक भी उच्छृङ्खलता नहीं सह पाता था। उसे याद था कि पड़ोस की एक युवती कभी किसी गैर जाति के युवक के साथ भाग गई थी···बहुत खोज-ढूँढ़ हुई ··युवती पकड़ी गई···उसके माता-पिता ने अदालत में युवक को दोषी के रूप में खड़ा किया···युवती की आयु १७ साल कही गई···लगातार यही कोशिश की गई कि लड़के को कड़ी सजा हो जाये। उसे याद है कि उसने छत से छुपकर देखा था कि युवती

ने रो-रोकर माँ से कहा—'माँ ! मैंने तो उन्हें ही पति मान लिया है, तुम मेरी लाज रखो। मेरे सुहाग से खिलवाड़ न करो।' पर माँ, भाभी, पिता सभी ने तो यही कहा था कि चाहे जो हो जाये उससे तेरा विवाह कभी नहीं करेंगे चाहे किसी काने, अन्धे, लूले, लँगड़े से ही क्यों न करना पड़े··· विचित्र जिद थी···माँ ने कहा—'तुझे तो हम कभी भी क्षमा नहीं करेंगे। तूने तो कुल की नाक ही कटा दी।' उसे क्षमा नहीं मिली···किसी-न-किसी प्रकार लड़के को तीन साल की सजा करा दी गई···स्वस्थ, सज्जन लड़का जेल में ठूँस दिया गया और फिर रोती-पीटती लड़की का विवाह पैंतालीस वर्ष के थल-थल महाशय के साथ कर दिया गया···कुल की नाक जुड़ गई···और लड़की के भाग्य फूट गये···किन्तु सभी कहीं यही चर्चा थी कि इससे अधिक अक्षम्य अपराध तो और कोई हो ही नहीं सकता है। उस समाज के, उस संसार के विचारों में पली मंजुला के लिये यह नया ही संसार था। मंजुला सोचती कि धनिया है तो साधारण नारियों की ही भाँति···उसमें कुछ भी तो भिन्न नहीं है···किन्तु···उससे दूर ही रहना चाहिये···परे ही रहना चाहिये···वह ···वह···और फिर वह कुछ भी नहीं सोच पाती···धनिया बुरी है···बहुत बुरी है किन्तु फिर भी वह मुझे अच्छी क्यों लगती है···नहीं ··वह मुझे अच्छी नहीं लगनी चाहिये वह बुरी जो है···क्या मैं नैतिक स्तर से गिर रही हूँ···मैं कितनी गन्दी दुनियाँ में आन पड़ी हूँ ··अरे मैं यहाँ आई ही क्यों···कितने गन्दे हैं ये लोग ...कितने छोटे हैं इनके विचार किन्तु मंजुला सोचती कि यह लोग ऐसे क्यों हैं···इन्हें किसने ऐसा बनाया···ये मुझसे भिन्न हैं···लेकिन क्यों···मैं मृदुला से भिन्न हूँ लेकिन क्यों···मृदुला एक गवर्नर से भिन्न है लेकिन क्यों···एक अमरीकी एक हब्शी से भिन्न है लेकिन क्यों···एक गोआ निवासी एक पुर्तगाली से भिन्न है लेकिन क्यों···एक गोरा एक काले से भिन्न है लेकिन क्यों···क्यों···क्यों···क्यों कभी-कभी उसे लगता कि चारों ओर का वातावरण उससे चीख-चीखकर पूँछ रहा है क्यों ? क्यों ??

क्यों ??? और उसे कोई भी उत्तर नहीं मिल पा रहा है। मैं धनिया को घृणा करती हूँ क्योंकि मैं उससे भिन्न हूँ···मेरा जीवन दर्शन उससे भिन्न है···उसे याद आया कि उसने एक बार अपनी मौसी के साथ यात्रा करते हुए रेलवे स्टेशन पर एक युवक और एक युवती को चुम्बन करके एक-दूसरे को विदा देते हुए देखा था और यह देखकर उसकी मौसी ने कहा था—'अरे कितने बेहया लोग हैं'···पास ही बैठे एक अन्य स्त्री ने कहा था—'अरे उनकी क्या वे लोग तो किरान्टे हैं'···मृदुला उतनी छोटी नहीं थी। वह समझ गई थी कि ईसाई हमसे भिन्न है किन्तु उसकी कुछ ईसाई अध्यापिकाएँ भी थीं और वह भी अच्छी थीं, बहुत ही अच्छी···उसने महाराष्ट्री महिलाओं को सिर खोले बालों में फूल लगाकर बाजार में जाते देखा था किन्तु उसकी माँ को यह सब पसन्द नहीं था···क्यों···कहाँ है इस क्यों का उत्तर···समुदाय विशेष क्यों अपनी प्रथाओं, परम्पराओं, आस्थाओं आदि को विशेष रूप से श्रेष्ठ एवं सुन्दर मानने की पूरी या अधूरी शिक्षा अपनी सन्तति को देता है···फलस्वरूप उत्पन्न हो जाती है घृणा, उससे इतर अन्य सभी समुदायों की प्रथाओं, परम्पराओं और आस्थाओं से··· ऐसा वह क्यों करता है ? शायद अपना प्रथकत्व सुरक्षित रखने के लिये, किन्तु क्या आवश्यकता है किसी भी समुदाय के पृथक अस्तित्व को सुरक्षित रखने की···मंजुला को याद आ गया कि स्कूल में उसकी सखी नरगिस सभी के जूठे गिलास में सहर्ष पानी पी सकती थी किन्तु मंजुला को विचार-मात्र से ही घृणा से झुरेरी-सी आ जाती थी···यह क्या है संस्कार···नरगिस तो बड़ी अच्छी लड़की थी···सोचते-सोचते मंजुला का सिर दुखने लगता फिर भी वह झोपड़ी के द्वार पर बैठी या भीतर लेटी हुई सोचती ही जाती थी···किसी प्रकार भी सोच नहीं पाती थी···अपने अतीत के संघर्षमय जीवन में उसने कितनी ही रातें जागकर बिताई थीं किन्तु जान पड़ता था कि अब वह कुछ और अधिक दुर्बल हो गई है···तब शायद वहीं कोई नवीन की खोज की प्रेरणा सम्बन्धी आशा थी किन्तु अब मंजुला को जान

पड़ता है कि वहीं कोई कूल-किनारा ही नहीं है···कभी-कभी उसका जी चाहता कि सभी दीवारें चारों ओर से ढह जायें, ढहा दी जायें और फिर रह जाये मानव चारों ओर से नग्न···अनावरण···एक-सा···बिलकुल अनढका···अनमुँदा किन्तु तब क्या अच्छा होगा···तब क्या हम फिर से ही जंगल युग में नहीं पहुँच जायँगे···तब क्या यह अनेकों वर्षों की सभ्यता-संस्कृति बह नहीं जायेगी···और तब क्या मनुष्य कुछ अधिक सुखी था···मंजुला तड़प उठती···नगर की अपेक्षा यहाँ सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव कम है किन्तु क्या यहाँ का मानव अधिक सुखी है···यहाँ विज्ञान की देन बिजली नहीं है, पंखा नहीं है, दवाइयाँ नहीं हैं, डाक्टर नहीं हैं किन्तु क्या मानव के अन्तर में यहाँ कुछ भी, तनिक भी भिन्नता है···क्या यहाँ मानव के मन में ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर नहीं है···और वहीं क्या कुछ सुख है। नगर में ही क्या धरा है···सुख-सुविधाएँ हैं किन्तु कुछेक लोगों के लिये ही तो···मुट्ठी भर उपभोक्ता के लिये ही तो···शेष सभी तो परेशान हैं···फटेहाल हैं, सुविधारहित हैं···तब-तब ऐसा क्यों···इसका उपाय क्या हो सकता है···निराशा से मंजुला का मन रो-रो उठता···उसका जी चाहता कि किसी से बात ही करे···भइया को जगा ले किन्तु कठिन परिश्रम की अनभ्यस्त देह को लिये गहरी नींद में पड़े अरुण को जगाने का साहस मंजुला को नहीं हो पाता···कभी-कभी तो बैठे ही बैठे मंजुला को सारी रात बीत जाती और थका हुआ शरीर, हारा हुआ मन लेकर वह फिर संसार के कार्य में लग जाती···कभी-कभी रमिया को मंजुला की बड़ी फिक्र हो जाती···किन्तु निरुपाय रमिया क्या करे यही उसकी समझ में नहीं आता··· एक दिन रास्ते में आती हुई धनिया को देखकर उसने बातों ही बातों में कह दिया—'देवी जी बहुत दुबली हो गई हैं'···सुनते ही धनिया चिनक उठी—'तो मुझे क्या···वह मेरी कौन लगती है···कल की मरती आज मर जाये···मुझे क्या···' और वह गालियाँ देती हुई चली गई। रमिया के समझ में ही नहीं आया कि धनिया इतनी क्यों बिगड़ गई···वह तो

धनिया को देवी जी की मित्र ही समझती थी। यह इतनी अधिक शत्रुता कब और कैसे हो गई सो रमिया की समझ में ही नहीं आया। उदास भाव से वह अपने काम-काज में लगकर उस घटना को भूल ही गई थी। लगभग एक सप्ताह बाद धनिया ने एक दिन रमिया को पकड़ लिया। उसे एकान्त में ले जाकर अत्यन्त निहोरा करके बोली—'देख रमिया तू तो बड़ी अच्छी लड़की है न···देख यह चीज देवी जी को देकर उन्हें अपने सिर की कसम खिलाइयो कि जरूर खालें···वह तो खूब पढ़ी-लिखी हैं...किस तरकीब से खाई जाये यह इस पट से पढ़ लेंगी···समझी···भला···जरूर-जरूर··· और हाँ···मेरा नाम न लीजियो···कसम धराकर पूछे तब भी नहीं···' रमिया ने पूछा—'वे पूछेंगी कि कहाँ से आई तब क्या कहूँगी'···धनिया ने फिर निहोरा करके कहा—'कुछ बात बना देना।' बात ठीक-ठीक रमिया के गले तले उतरी नहीं। उसने कहा—'जीजी! गाँव में सभी तुम्हें हत्यारी कहते हैं···तुम देवी जी से उस दिन नाराज भी थीं···कहीं देवी जी को कुछ ऐसी-वैसी···' धनिया चिनक उठी—किन्तु फिर सँभलकर बोली—'नहीं रमिया ऐसा नहीं करूँगी लेकिन तू उन्हें मेरा नाम न बताना। तू कह रही थी न कि देवी जी दूबर हो गई हैं सो तुझे क्या बताऊँ कैसे-कैसे उनके लिये कसबे से दवा लाई हूँ। पर देख तुझे हनुमान जी की सौं···मेरी सौं··· मेरी मरी का मुँह देखे जो मेरा नाम ले···वह आप पढ़कर समझ जायँगी। भला···' रमिया डर ही रही थी कि देवी जी तुरन्त समझ जायँगी कि यह उसकी लाई हुई चीज नहीं है···वह भला क्या कहीं आती-जाती है···और बात बनाना तो झूठ होगा···देवी जी ने झूठ कहने को मना किया है··· झूठ कहने से भगवान जी नाराज हो जाते हैं···कई दिन के कठिन सोच-विचार के बाद बहुत छिपा-छिपू के रमिया मंजुला के पास शीशी ले गई और सिर की सौंगध दिलाकर उसे खाने का आग्रह भी करने लगी··· मंजुला ने कुछ भी नहीं पूछा किन्तु उस छोटी-सी आधी-तिहाई भरी 'द्राक्षासव' की शीशी को हाथ में लेते-लेते मंजुला को हँसी आ गई। हँसी

को दबाकर मंजुला ने पूछा—'रमिया यह कहाँ से पा गई ?' रमिया ने घबराकर पूछा—'कोई बुरी चीज है देवी जी !' 'नहीं, बड़ी अच्छी दवाई है। पर मैं बीमार थोड़े हूँ रमिया···दवाई का क्या करूँगी ?' रमिया ने चिढ़कर कहा—'और बीमार किसे कहते हैं देवी जी ! शरीर आधा भी तो नहीं रह गया। कैसी सोने की-सी देही थी सो जैसे माटी की ही रह गई।' मंजुला ने तनिक बेमन से कहा—'देही तो सदा माटी की ही होती है रमिया।' बात जहाँ की तहाँ रह गई किन्तु मंजुला ने उस द्राक्षासव की छोटी-सी शीशी को सँभालकर रख लिया···थोड़े ही दिन में शीशी के भीतर का तरल पदार्थ गाँव के मन्ना जुलाहे के छोटे लड़के के पेट में पहुँच गया किन्तु शीशी मंजुला के पास बनी ही रही···मंजुला दिन-दिन दुबली और पीली होती जाती थी···मन की निराशा और देह की दुर्बलता के चिह्न मंजुला के मुख पर भी स्पष्ट होने लगे थे किन्तु अरुण को समय ही कहाँ था···उसे अवसर ही कब मिलता था···रात के अन्धकार में दीपक के क्षीण-से प्रकाश में घड़ी-दो-घड़ी मंजुला से भेंट होने पर कभी अरुण का ध्यान ही उधर नहीं गया और मंजुला दुर्बल होती जा रही थी।

३७

गाँव में रात भी जल्दी ही मान ली जाती है। बिजली के अधिक शक्तिशाली बल्ब न तो सूर्य से होड़ ही करते होते हैं और न खरीद-बिक्री की हलचल का शोर और न सिनेमा से निकलने वाले लोगों की बातचीत की रौनक और न और ही किसी प्रकार इस रात को दिन में बदलने के प्रयत्न होते हैं। अचानक ही रात को एक कराहट सुनकर ज्यों ही अरुण ने करवट बदली···कराहट और तेज़ हो गई···कराहट तीखी हो गई थी··· अरुण चटपट उठ बैठा। उसने दो-चार बार मंजुला-मंजुला कह कर आवाज़ दी किन्तु उत्तर नहीं मिला···उसने झटपट उठकर खोज ढूँढ़ कर दीपक··· दीपक भी क्या···धुँहाई मिट्टी के तेल की ढिबरी जलाई···मंजु के पास ढिबरी

रखते ही अरुण चौंक पड़ा ··उसने ज्यों ही झुककर मंजु का माथा छुआ कि उसे लगा मानो तपते तवे पर हाथ पड़ गया हो···सारी देह तेज़ बुखार से जल रही थी···मुँह तमतमा रहा था और लगभग अचेत पड़ी उसकी प्यारी बहिन···उसकी रानी बहिन···उसकी दुःख-सुख की एकमात्र साथिन कराह रही थी, तड़प रही थी···अरुण क्या करे···अब उसे ध्यान आया कि इधर कुछ दिनों से वह नींद ही में मानो किसी को लगातार खाँसते सुनता था···उसने मंजु की ओर देखा। वह दुबली भी तो बहुत हो गई है···किन्तु इसने मुझ से कभी कहा क्यों नहीं; लेकिन मैंने ही इसकी ओर कब ध्यान दिया है। मेरी आँखें क्या फूट गई थीं···मैंने क्यों नहीं देखा···क्यों नहीं देखा···और तभी मंजुला को खाँसी आई···कफ के साथ ही साथ उसके मुँह से ढेर सारा रक्त भी निकला···देखकर अरुण बहुत ही अधिक घबरा गया···उसे जान पड़ा कि वह पागल हो जायगा। उसने कोने में पड़े टूटे ट्रेक नुमा गठरी या गठरी नुमा ट्रेक से कोई फटा कपड़ा निकालना चाहा किन्तु फटा कपड़ा वहाँ था कहाँ···मंजुला को इधर तीन साल में कभी कोई एक भी नया कपड़ा कहीं से भी मिला था क्या···तब आता कहाँ से···सभी फटे कपड़े तो पहने जा रहे थे···रखने को न साबुत कपड़ा था और न फटा ही···अरुण ने तनिक-सा पानी लाकर कफ़ और रक्त साफ करके अपने कुर्ते के दामन से ही पोंछ लिया···मंजुला अचेत थी···बाहर सनसनाती हुई बरसाती हवा चल रही थी···शायद बूंदें भी पड़ रही थीं। अरुण ने किसी तरह दो-चार बूँद पानी मंजु के गले में पहुँचाया···वह लगभग पागल हो उठा था···मेरी मंजु, मेरी बहिन···इसने मेरे ही पागलपन के पीछे, आदर्शों के पीछे अपनी यह दशा बना ली···घनघोर, दारिद्र्य ने मेरी सोने की-सी बहिन को चूस लिया ··मेरी रानी बहिन ··मेरी प्यारी बहिन···इसे बचाना ही होगा···किसी न किसी तरह बचाना होगा···मैं इसे शहर ले जाऊँगा···गिरिजा की खुशामद करूँगा··· कुँवर साहब के पैर पकड़ लूँगा···मेरी बहिन···यह किसी तरह बच

जाये···मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये···मैं बिक जाऊँगा ··जरूर बिक जाऊँगा··· मेरी बहिन···यह बचेगी···अवश्य बचेगी क्या भगवान इतना निर्दय है···मैं इसकी बलि नहीं होने दूँगा···इसी समय मंजुला को फिर खाँसी आई और इस बार फिर ढेर सारा रक्त भलभल करके मुँह से गिर गया। रक्त देखकर अरुण का दिमाग एकबारगी हिल उठा···तो क्या यह जा रही है···मंजु···एक बार आँख तो खोल, किन्तु मंजु एकबारगी अचेत थी···इसे नगर ले जाना होगा···हस्पताल ले जाना होगा···या डाक्टर को यहीं लाना होगा। किन्तु कहाँ है यहाँ डाक्टर···फिर इसे हस्पताल ही ले जाऊँ···लेकिन कैसे ले जाऊँ···हस्पताल···मीलों दूर हस्पताल···विवश ···निरुपाय अरुण की आँखों से दो बूँदें चूकर मंजुला के वक्ष पर गिर पड़ीं···मंजुला कष्ट से तड़प-सी रही थी···जान पड़ता था कि उसे चेतना कभी नहीं आयेगी। अरुण ने इतना कठिन समय जीवन में कभी नहीं देखा था। पिता की बीमारी माँ ने झेली थी और माँ की कठिन बीमारी में मंजु सदा उसके साथ रही थी। वही मंजु···उसकी नन्हीं बहिन जीवन और मरण के बीच झूल रही है···उसने कभी अपने कष्ट की बात अरुण से नहीं कही किन्तु आज···आज क्या वही औषधि, पथ्यविहीन अवस्था में अरुण के देखते-देखते अनाथों की भाँति चली जायगी...बिना उपाय-यत्न किये ··बिना इलाज किये···इसे नगर ले जाना होगा और अभी ले जाना होगा किन्तु कैसे ले जाय···उसका जी चाहा कि वह उसे उसी समय पीठ पर लादकर नगर की ओर दौड़ने लगे किन्तु तब भी तो पहुँच नहीं सकेगा···इसी समय अचानक उसके मस्तिष्क में चमक उठी मृदुला··· ओह! मंजुला तो मृदुला की सखी थी···वह मेरी शिष्या है···उसके घर पर तीन कारें हर समय खड़ी रहती हैं···क्या वह इस समय मेरी सहायता नहीं करेगी···बदहवासी की-सी हालत में मरीज की बात बिना सोचे वैसे ही अरुण झोपड़ी से निकलकर कसबे की ओर···मिल की ओर दौड़ने लगा। वह सोचता जा रहा था कि रास्ता लम्बा होता जा रहा है। उसका

जी चाहा कि दौड़कर कुँवर साहब के सम्मुख होकर केवल इतना कह सके-- 'मुझे मंजूर है। सब कुछ मंजूर है। केवल तुम मेरी बहिन को इसी समय कार में नगर भेज दो···उसे हस्पताल ले जाना है। उसे बचा लो कुँवर साहब। मैं जीवन भर के लिए तुम्हारा गुलाम हो जाऊँगा···तुम जो कुछ कहोगे वही करूँगा···वही करूँगा···सदा करूँगा। मानसिक दुर्बलता के क्षणों में उसे लगा कि वह पागल हो जायगा। जरूर पागल हो जायगा। उसका जी चाहा कि वह मंजुला के लिए ही ठीक रहे···अभी ठीक रहे···कुछ देर ही ठीक रहे। फुहारें पड़ रही थीं और नंगे पैर अरुण धूल-भरे रास्ते पर लगभग दौड़ता जा रहा था···उसकी साँस फूल रही थी··· सर्वाङ्ग काँप रहा था पर वह शक्ति-भर तेजी से दौड़ा चला जा रहा था··· दौड़ा चला जा रहा था···उसे धरती, आकाश सभी घूमते हुए जान पड़ रहे थे किन्तु फिर भी ठहरने की सुविधा ही कहाँ थी···रुकने का समय ही कहाँ था···एक-एक क्षण उसके लिए अत्यधिक मूल्यवान था। कुर्ते के छोर में लगा हुआ, मंजुला के मुँह से गिरा हुआ रक्त मानो उसे चाबुक मार-मारकर और भी अधिक तेजी से दौड़ने को विवश कर रहा था····· पैरों पर धूल चढ़ गई थी···सिर के बाल वर्षा की बूँदों से गीले हो गये थे किन्तु वह रुकेगा कैसे·····मंजु मृत्यु-शय्या पर जो पड़ी है···उसकी प्यारी बहिन मंजुला·····मृदुला की प्यारी सखी मंजुला·····उसे न जाने क्यों ऐसा लगा कि कभी किसी भी अवस्था में मंजुला की कठिन बीमारी की बात सुनकर मृदुला एक क्षण को भी रुक ही नहीं सकेगी···वह कल्पना में देख रहा था कि मृदुला सुनते ही उठ खड़ी हुई ··उसने तुरन्त कार निकलवाई और कार तेजी से गाँव की ओर दौड़ी आ रही है और फिर मृदुला जोर से जाकर मंजुला से लिपट गई। अरुण ने उसे सावधान करते हुए कहा—'मृदुला! इस समय तो मंजुला अचेत है। इस समय तो उसके प्राण बचाने होंगे···चलो शीघ्र ही उसे हस्पताल ले चलें...' 'मृदुला···मृदुला···मृदुला। उसने मन-ही-मन न जाने कितनी बार यही

नाम जप डाला। कब आँसू उसकी आँखों से गिर-गिर कर उसके गालों पर बह-बह कर उसकी छाती पर आ-आकर गिरने लगे यह उसे जान भी नहीं पड़ा···न जाने कितनी देर बीत गई···रास्ते का मानो अन्त ही नहीं हो रहा था···अरुण के पैर मानो मन-मन भर के हो गये थे··· भयानक गीदड़ों, सियारों का स्वर मानो और भी अधिक कर्ण-कटु हो उठा था। रोगिणी की न जाने क्या हालत थी यह सब सोचने की अरुण को सुविधा ही कहाँ थी···इसी समय अरुण को जान पड़ा कि वह कस्बे मे पहुँच गया है···घबराहट में भी उसके अभ्यस्त पैर उसे ठीक स्थान पर ही ले आये थे···सामने ही मिल के अहाते में कोठी थी···पहरेदार तक सो गये थे किन्तु दूसरी मंजिल के एक कमरे में से प्रकाश दिखाई दे रहा था···यह वही कमरा था जहाँ उस दिन अरुण ने मंजुला की झलक देखी थी···उसका साहस बढ़ गया···वह अन्दर घुसता चला गया, फाटक खुला था···बूढ़ा पहरेदार फाटक के बगल में बने स्थान पर बैठा ऊँघ रहा था उसने अरुण का आना-जाना भी नहीं देखा···अरुण बरामदे में जाकर कुछ ठिठक-सा गया···कोई नौकर भी सामने नहीं था···उसने क्षण भर को सोचा कि क्या करे किन्तु उसी समय उसकी दृष्टि बरामदे में जलते हाई पावर के बल्ब के दिन-जैसे प्रकाश में अपने कुर्ते के छोर पर पड़ गया···मंजुला का ताजा रक्त चमक रहा था···मंजुला ··उसकी मंजुला···उसकी प्यारी बहिन मृत्यु-शय्या पर पड़ी है···वह मृदुला की सखी थी···प्यारी सखी थी···उसका जी चाहा कि वहां से जोर से चिल्लाये मृदुला···डर···भय···अदब···कायदे की बात सोचने का किसे होश था। सामने के जीने पर से जब घड़घड़ाता हुआ अरुण ऊपर चढ़ रहा था उसी समय फाटक से एक बड़ी सी कार आकर पोर्टिको में रुकी और नशे में चूर कुँवर साहब धड़ाधड़ सीढ़ियाँ चढ़ने लगे···कार की आवाज सुनकर नौकर-चाकर भी सचेत हो गये थे··· बरामदे में भी दौड़-भाग की आवाज आ रही थी ··बूढ़ी दाई ज्यों ही निकल कर ऊपर के बरामदें में आई कि उसने अरुण को बदहवास हालत में

मृदुला के कमरे की दिशा में जाते देखा···क्षण भर को तो वह भी सकते की-सी हालत में आ गई···इस समय आधी रात को यह व्यक्ति ऐसी हालत में यहाँ क्यों आया है और सो भी बहूरानी के कमरे की ओर क्यों जा रहा है···यह बहूरानी का कमरा कैसे जानता है···बूढ़ी दाई-माँ अभी कुछ निश्चित कर ही नहीं पाई थी कि कुँवर धड़धड़ाते हुए सीढ़ियाँ चढ़कर उसके सामने ही पहुँच गये···अचानक दाई-माँ के मस्तिष्क में एक मजेदार विचार बिजली की-सी तेजी से आ गया। उधर मृदुला उससे बोलती नहीं थी··· व्यवहार भी नौकरानी का-सा ही करती थी···बूढ़ी दाई माँ इससे कुछ चिढ़ी हुई भी थी और कुछ अपमानित भी···उसने सोचा कि चलो सदा के लिए बहूरानी को अपनी मुट्ठी में किया जाय···उसने बिना सोचे-समझे ही शैतान की-सी तेजी से कुँवर का हाथ पकड़कर कहा—'राजा! उधर न जाओ।'

'क्यों?' चिढ़कर कुँवर ने कहा। वह थका हुआ था।

'क्या कहूँ? बहू रानी की हरकतें तुम्हें बता तो चुकी हूँ। आज शायद तुम न आओ यह जानकर···'

'क्या?' कुँवर साहब ने सिंह की तरह गर्ज कर कहा—'ठीक-ठीक कहो। मैं ख़ून कर दूँगा···'

'तो भई चलकर देख ही लो। मैं तो चाहती थी कि तुम न देखते।' दाई-माँ ने शान्ति से कहा। कुँवर दो ही डग में मृदुला के कमरे के सामने थे। कमरे का द्वार खुल रहा था और अरुण उसी समय कमरे में प्रवेश कर रहा था। महामयी, गरिमापूर्ण नारी की मूर्ति की भाँति मृदुला सामने ही कुर्सी पर बैठी थी। नशे की झोंक में कुँवर साहब ने पिस्तौल उठाकर कहा—'बस रुके रहो।' अचकचा कर अरुण रुक गया। अब वह ठीक मृदुला के सामने था। मृदुला यह सब कुछ देखकर कुछ ऐसी घबरा गई थी कि उसकी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था···वह पत्थर की प्रतिमा

की तरह खड़ी थी। दाई-माँ भागती आ रही थी। उसने न तो ऐसे कांड की आशा ही की थी और न यह उसकी इच्छा ही थी···वह कुँवर को उत्तेजित करके अरुण को तनिक कठिन दण्ड दिलवाना चाहती थी और बहूरानी को कुँवर की आँखों में गिराकर सदा के लिये दबाये रखना चाहती थी। रियासतों में यह सब होता ही रहता था और कोई कानोकान जान भी नहीं पाता था किन्तु कुँवर सचमुच ही सदा जेब में भरी हुई पड़ी रहने वाली छोटी पिस्तौल का इस्तेमाल कर ही डालेगा ऐसी उसे आशा नहीं थी। आशंका तक नहीं थी···वह भी कुछ घबरा-सी गई···हैं···हैं यह क्या करते हो कहती हुई दाई माँ कुँवर साहब की ओर बढ़ ही रही थी कि कुँवर ने अरुण को लक्ष्य करके गोली चला दी···बूढ़ी दाई माँ बीच में ही थी···गोली उसे लग गई और वह एक चीख मार कर गिरते ही ठंडी हो गई···अरुण अब भी सकते की-सी ही हाल में था। उसे कुछ कहने का अवसर ही नहीं मिला था। वह पागलों की भाँति दिखाई दे रहा था ·· कुँवर का नशा हिरण हो चुका था···उसने झुक कर देखा तो दाई माँ पूरी तरह ठंडी हो चुकी थी···अचानक उसके मस्तिष्क ने तेज़ी से काम किया और उसने पिस्तौल अरुण की ओर फेंकते हुए कहा --'हत्या कर चुके लेकिन अब बच कर कहाँ जाओगे। मैं अभी पुलिस को फोन करता हूँ···' अरुण की समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था। उसे मंजुला···केवल मंजुला ही दिखाई पड़ रही थी···उसने घबरा कर कहा---'मेरी बहिन मृत्यु-शय्या पर पड़ी है कुँवर साहब'···कुँवर ने बीच में ही बात काट कर तथा ठठा कर हँसते हुए कहा---'अरुण ! अब यह सब बहानेबाज़ी रहने दो। आधी रात को मेरे घर में चोरी करने आये थे किन्तु बीच ही में मेरी बूढ़ी नौकरानी ने देख लिया तो क्या तुम्हें यह उचित था कि मेरी ही पिस्तौल लेकर उस पर गोली चला देते। माना की पिस्तौल मेरी मेज़ पर मेरी पत्नी के कमरे में खुली ही रखी थी पर तुममें कुछ तो मनुष्यता होती···बेचारी मेरी बूढ़ी नौकरानी···न जाने तुम मेरी पत्नी पर ही हमला कर देते। वह

तो मैं समय से आ गया···पर मेरी बिचारी बूढ़ी नौकरानी का ही बलिदान हो गया···ख़ैर अब तो तुम बच नहीं सकते···' इतने में ही नौकर-चाकर आ गये थे ··अरुण को सब ने मिल कर पकड़ लिया था धूलभरे गीले पैरों पर धूल चढ़ी···कुर्ते में खून लगा हुआ बदहवास अरुण मृदुला के सामने खड़ा था और मृदुला स्वयं चकित थी···अब अरुण को कुछ-कुछ होश आने लगा था···वह परिस्थिति भी समझने लगा था··· इस बार उसने मृदुला को ही लक्ष्य करके कहा—'मृदुला ! मंजुला मृत्यु-शय्या पर पड़ी है···' बात पूरी होने से पूर्व ही कुँवर साहब ने गरज कर कहा—'इसे ले जाओ यहाँ से···मैं टेलीफोन करता हूँ। पुलिस अभी आती ही होगी।'

'मास्टर साहब···कौन मृत्यु-शय्या पर है ?'

मृदुला ने चीख कर पूछा किन्तु चीखते हुए अरुण को नौकर बाहर घसीट ले गये···भीतर से द्वार बन्द कर कुँवर ने बाहर जाने की कोशिश करती हुई मृदुला को लगभग ढकेलते हुए टेलीफोन की ओर बढ़ने की कोशिश की···मृदुला ने गिड़गिड़ाते हुए कहा—'ऐसा अन्धेर न करो···' कुँवर ने ठहाका लगाकर कहा—'हाँ, तुम्हारे यार को जिन्दा ही छोड़ दूँ···' मृदुला की आँखों से चिनगारियाँ बरसने लगीं···किन्तु वह दो-तीन दफा काँप कर गिर पड़ी बेहोश होकर। लगभग एक घंटे बाद पुलिस ने आकर अरुण को हिरासत में ले लिया···अरुण ने कुँवर से दो शब्द कहना चाहा किन्तु कुँवर ने मिलने से इन्कार कर दिया···अरुण ने पुलिस अधिकारियों से मिन्नतें कीं कि उसकी बहिन का कुछ प्रबन्ध कर दें, वह मृत्यु शय्या पर पड़ी है किन्तु किसी ने उसकी एक न सुनी। अन्त में वह एकबारगी चुप हो गया···किसी से बात करना तक उसने छोड़ दिया···कुँवर बड़ी सरगर्मी से मुकदमे की पैरवी करवा रहे थे···गवाहों की भी कमी नहीं थी ··दो नौकरों ने आँखों से अरुण को गोली चलाते देखा था···वह कमरे की खिड़की तोड़ कर भीतर आया था। मृदुला का हीरे का हार भी उसकी जेब से पुलिस

ने बरामद किया तथा एक नौकर से उसकी फौजदारी भी हुई। फिर तीन नौकरों ने मिलकर बड़ी मुशकिल से उससे कुँवर साहब की पिस्तौल छीनी···बड़ा ही विकट आदमी है। कुँवर के मिल में सदा ही गड़बड़ी कराया करता था। गत वर्ष इससे मैनेजर साहब से भी झगड़ा हो गया था। उसने दो आदमियों के सामने एक बार मैनेजर साहब से यह भी कहा था कि आने दो कुँवर साहब को भी—मालिक को भी देख लूँगा और नौकर को भी···यूँ भी दो-एक डकैती और हत्याओं में उस पर सन्देह हुआ था पर वह पकड़ा नहीं जा सका। एक हत्या में उसके गाँव के कुछ और साथी तो पकड़े भी गये थे···कुछ को सजा भी हो गई थी···वह बड़ा ही खतरनाक पुराना पापी है यह सब पुलिस की डायरी में साफ लिखा हुआ था। कुँवर साहब ने तो पुलिस को सिर्फ एक हजार ही खिलाया था पर अरुण की पैरवी केवल सरकारी रस्मी तौर पर ही हो सकेगी। उसने किसी को भी इत्तला नहीं करवाई और करवाता भी किसे···मुखिया के मुकदमे में देख चुका था, भोग चुका था···बिचारे ग्रामीण रोने के सिवाय और कर भी क्या सकते थे...उनके पास न पैसा था और न शक्ति और मंजुला···बेचारी मंजुला का न जाने क्या हुआ···हे भगवान! यह सब क्यों···यह क्या है···यह मेरे कौन-से पाप का फल है···बेचारी मंजुला···किंतु उपाय ही और क्या है···उसकी जमानत कौन देगा···बेचारे मिल मजदूर तड़प रहे होंगे···उन्हें पता तो लग गया होगा···शायद जगन गाँव में भी कह आया हो···यदि मंजुला ने सुन लिया तो वह बेचारी तो बिन मौत ही मर जायगी···मृदुला···मृदुला क्या कुछ भी नहीं करेगी···उस समय भी तो वह चुपचाप ही खड़ी रही···कुछ भी तो नहीं किया उसने···कुछ भी तो नहीं कहा···कैसे करेगी आखिर···कुँवर उसका पति ही तो है···मैंने बड़ी गलती की कि मैं घबराहट में वहाँ पहुँच गया जहाँ कि हम जैसे गरीबों को नहीं पहुँचना चाहिये। न जाने क्यों मुझ पर ऐसी दुर्बुद्धि सवार हुई··· मंजुला बेचारी···निरपराध मंजुला···कोमल कलिका मसल डाली गई···यह

भी तो मेरा पाप था···मैंने अपने आदर्शों के नाम पर अपनी सगी प्यारी बहिन को मार डाला···वह मर गई होगी···अवश्य मर गई होगी···रात के सूने अँधेरे में अकेली मंजुला पानी के लिये भी तड़प-तड़प कर मरी होगी और मैं मूर्खों की भाँति स्वयं ही जाल में फँसने के लिए वहाँ पहुँच गया··· लगभग एक सप्ताह के बाद न जाने कैसे धनिया जेल में ही मुलाकात करने पहुँच गई। अरुण उसे पहचान भी नहीं पाया किन्तु उसने अरुण से कहा कि गाँव भर किसी तरह भी अरुण को छुड़ाने के लिये पागल-सा हो रहा है। मिल के मजदूर भी मालिकों के बहुत बहकाने पर भी यही कह रहे हैं कि इसमें भी कोई गहरी चाल है। मुखिया तो जेल में ही हैं किन्तु किसना महराजिन अपने न जाने कब के जो कुछ गहने-पाते बच गये थे उन्हें बेंच-खोंच कर मुकदमा लड़ने को गाँव भर को उकसा रही है। मंजुला को प्रातः अचेत पड़े रमिया ने पाया और फिर वह और धनिया चौबीस घंटे उसकी सेवा करके भी न तो उसे होश में ही ला सकीं और न बचा ही सकीं··· अरुण ने पूरे समाचार सूखी आँखों से सुने···वह चुप ही रहा। धनिया बीच-बीच में लगातार आँखें पोंछ रही थी। उसने कुँवर को हजारों ही गालियाँ दीं और यह भी कहा कि यदि अरुण को कहीं कुछ हो गया तो कुँवर का भी कतल हो जायगा। अर्द्ध विक्षिप्त अरुण ने केवल इतना ही कहा—'धनिया बहिन ! तुम पिछले जन्म की मेरी माँ हो किन्तु अब और अधिक नहीं सहा जा सकेगा। तुम गाँव वालों को शान्त करो। यह कचहरी है। यहाँ व्यर्थ पैसा बरबाद न करें। फल कुछ भी नहीं होगा। मेरी और जीवित रहने की इच्छा भी नहीं है। मेरी सब से राम-राम कहना और कहना कि मेरा काम चलता रहे।' धनियाँ सुनकर धाड़ मारकर रो उठी थी। हत्यारी, बदनाम धनिया आज अरुण को मृदुला से भी कहीं अधिक भली प्रतीत हो रही थी। अरुण ने असीम धैर्य के साथ कहा —'धनिया बहिन ! मंजु नहीं रही किन्तु यदि कभी कहीं विश्व में तुम्हारा भाई कहकर अपना परिचय दे पाऊँ तो धन्य हो जाऊँ। अब जाओ। तुम नहीं समझोगी किन्तु तुम हो मनुष्य ही।'

'मृदुला ! इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या था ? मैं अरुण की इज्जत करता हूँ किन्तु अपने प्राणों से बढ़ कर तो नहीं।'

'तब क्या तुम्हारे प्राणों का मूल किसी दूसरे के प्राण हैं ?'

'शास्त्रों में यही तो लिखा है कि आत्म-रक्षा के लिये सारे विश्व को बलिदान किया जा सकता है।' विश्वमोहनी मुस्कान सहित अत्यन्त कोमल स्वरों में कुँवर ने कहा। मृदुला सोच रही थी कि कितना दम्भी है यह व्यक्ति और कितना स्वार्थी···क्या विश्व में इतना असत्य भी चल सकेगा, चल सकता है। उसी दिन से मृदुला की तबीयत ठीक नहीं रहती थी···वह प्रायः गुम-सुम ही बिस्तर पर पड़ी रहती थी। प्रायः नींद उसे आती ही नहीं थी और जब कभी वह सो भी जाती थी तो सोते-सोते अचानक ही जोर से चीख पड़ती थी। इधर यह काण्ड हो जाने के बाद से कुँवर ने मृदुला को एक दिन भी अकेला नहीं छोड़ा था। कुँवर साहब अपनी पुरानी नौकरानी के हत्यारे को दण्ड दिलाने के लिये बड़े ही उतावले जान पड़ते थे। इसके लिये वह अधिकाधिक खर्च करने को भी तैयार थे···माननीय मन्त्री महोदय के जामाता, धनी, मानी, उच्च कुल के विभूषण कुँवर की पहुँच सभी कहीं तो थी···अदालत, पुलिस, कोई भी तो उनके प्रभाव से बचा था नहीं किन्तु कठिनाई थी तो मृदुला को मनाने की···कहीं मृदुला ने ही जाकर सब किया-कराया चौपट कर दिया तो···हो सकता है कि ऐसा कर ही दे··· औरत ही तो है···तिस पर बेवफा औरत···आखिर इसने उस दर-दर के भिखारी में क्या देखा···छिः···औरत को न तो मान का ही ध्यान होता है और न पद-मर्यादा का···न हुआ पुराना जमाना अपना नहीं तो इसे तुरन्त ही गोली मार देता···गोली मारने की बात सोचते ही कुँवर का मन काँपने लगा। ठीक है जरा मुकदमा खतम हो जाने दो तब इससे भी निबटा जायगा। अभी एक को तो ठिकाने लगा लूँ···फिर इसे तो देख ही

लूँगा···यह तो चींटी है···इसे मसलते कितनी देर लगती है···लेकिन है बड़े बाप की बेटी···एक ही दिन में प्रतिष्ठा धूल में मिल सकती है···किससे सलाह लूँ···किसी से बात भी तो नहीं कर सकता···वकील साहब कहते हैं कि इनकी गवाही जरूरी है···काश कि इसके बिना ही काम चल जाता···चल सकता···लेकिन सरकारी वकील इसे पेश करने के लिये बहुत उत्सुक हैं··· अच्छा तब इसे ही ठीक किया जाये···वर्षा की भीनी-भीनी फुहार बाहर पड़ रही थी और मृदुला के मन के भीतर भीषण हाहाकार हो रहा था···यह क्या हो गया···उसने शायद कहा था कि मंजुला मृत्युशय्या पर है···पर कहाँ है···कैसी है···क्यों है···यह सब तो जान भी नहीं पाई···हे भगवान् यह सब पलक झपकते ही क्या हो गया···ये मेरे पति हैं···इन्होंने मुझसे कुछ भी नहीं पूछा···उन्हें कुछ भी नहीं कहने दिया और यह क्या हो गया···मैं तो समझ ही नहीं पाई किन्तु इतना तो मैंने स्पष्ट रूप से देखा कि गोली इन्होंने ही चलाई थी किन्तु यह है मेरा सुहाग···मेरे जन्म-जन्म के साथी···स्वामी···पति···किन्तु क्या ऐसे पति की भी रक्षा करना होगा, सो भी असत्य का आश्रय लेकर···कैसी बढ़िया गुरु-दक्षिणा दे रही हूँ। किन्तु वे आये क्यों आधी रात को···मेरे पास···बड़े आत्मसम्मानी हैं वे··· बिना कठिन वेदना के···बिना मेरे प्रति प्रबल विश्वास के क्या वे आधी रात को मेरे पास आते···कैसे पता लगाऊँ मंजुला का···मैं तो क़ैद हूँ यहाँ··· किसी से बात नहीं कर सकती···टेलीफोन नहीं कर सकती···और मुझे इस इतने बड़े राजमहल में कौन बतायेगा बेचारे मास्टर साहब की बहिन का हाल···मृदुला का जी चाहा कि वह किसी प्रकार इस राजमहल से निकल जाये, भाग जाये किन्तु कैसे···रात दिन पहरा जो लगा है। पिता एक दिन आये थे किन्तु इन्होंने एक क्षण को भी तो अकेली छोड़ा नहीं··· और यह मेरे स्वामी हैं···इन्हें यह अधिकार प्राप्त है किन्तु क्या स्वामी को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह बरबस पत्नी की आत्मा का हनन करे···न जाने क्यों उसी समय उसके मन में आठवीं कक्षा में रामायण में

पढ़ी हुई पंक्तियाँ उभर उठीं—'अंध, बधिर, क्रोधी, अति दीना। ऐसेहु पति कर किये अपमाना, नारी पाव यमपुर दुःख नाना···तब···तब उसका सिर चकराने लगता और कभी-कभी तो उसे दौरा भी आ जाता···मृदुला घंटों अचेत पड़ी रहती···नर्स उसके पास रहती थी किन्तु साथ ही पति का एक विश्वस्त नौकर भी सदा ही वहाँ बैठा रहता···अधिकतर कुँवर भी वहीं रहते ···आज कुँवर ने मृदुला को अपने हाथों जूस का गिलास देते हुए नर्स को हटा कर उससे स्पष्ट ही कह दिया कि उसे यही साक्षी देना होगा कि अरुण ने चोरी के इरादे से उसके कमरे में प्रवेश किया। जब वह डर कर चिल्लाने लगी तो उसने झपट कर कुँवर साहब की मेज के ऊपर ही रखी हुई पिस्तौल उठा ली और मृदुला को मारने के लिये उसकी ओर लक्ष्य किया। मृदुला की चीख सुनकर कुँवर साहब की पुरानी नौकरानी दौड़ी आई और उसने मृदुला के लक्ष्य से छोड़ी हुई गोली अपने ऊपर ले ली···मृदुला सुनकर दंग रह गई···उसने पूछा—'तब तो मास्टर साहब को फाँसी लग जायेगी ?'

'ओह ! तो यह तुम्हारे मास्टर साहब थे और वह कब के ?' स्वर में तीखा व्यंग्य था किन्तु मृदुला का मन उस समय ऐसी स्थिति में नहीं था जो कि व्यंग्य की ओर ध्यान दे पाता। उसने सहज भाव से कहा—'वह मेरे प्राइवेट ट्यूटर थे।'

'तभी ! हूँ···प्राइवेट ट्यूटरों के बहुत-से किस्से मैंने सुन रखे हैं। खैर जो हो गया सो तो हो गया अब तो यह कहना ही होगा।' कुछ सोचकर कुँवर ने स्वर मुलायम कर लिया था।

'किन्तु आपने ऐसा किया ही क्यों ? किया भी था तो यह सब बयान क्यों लिखाये ?' मृदुला के स्वर की अत्यधिक व्याकुलता कुँवर के हृदय पर हथौड़े की चोट सरीखे जाकर पड़ी···उसके नथुने क्रोध से फूल उठे किन्तु उसने फिर भी अत्यन्त कोमल ढङ्ग से कहा—'मृदुला ! इसके अतिरिक्त

और उपाय ही क्या था ? मैं अरुण की इज्जत करता हूँ कि अपने प्राणों से अधिक नहीं…'

'किन्तु आपने गोली चलाई ही क्यों ? कुछ पूछ तो लिया होता…न होता मैं ही पूरी बात पूछ पाती, सुन पाती।'

'जो होना था वह तो हो ही गया। अब उससे मुक्ति का उपाय तो करना ही होगा।'

'तो कुछ और उपाय करो न। एक निरपराध के प्राणों की अकारण बाजी मैं तो नहीं लगा सकूँगी।' मृदुला ने काँपते हुए किन्तु दृढ़ स्वर में कहा।

'भले ही पति के प्राण, प्रतिष्ठा, मान, सम्मान सब चला जाय।' फिर व्यंग्य से कुँवर साहब ने कहा। मृदुला क्षण भर तक सोचती रही। चाह कर भी उसकी हिम्मत यह कहने की नहीं हुई कि अपने कर्मों का फल सबको भोगना ही पड़ता है…संस्कार उभरे…वह उसका पति है और पति से भी अधिक उसकी सन्तान का…उसकी नन्हीं-मुन्नी का पिता है…उसकी नन्हीं का भविष्य…इसी पर निर्भर है…कल्पना में उसने देखा कि कुँवर… उसका पति…उसकी पुत्री का पिता अदालत में अपराधी के रूप में खड़ा है…जज उसे फाँसी की सजा सुना रहे हैं…वह फाँसी पर चढ़ाया जा रहा है…उसकी माँ, उसके पिता…उसके भाई…भाभी सब लोग अत्यन्त घृणा से उसकी लड़की की ओर देखकर कह रहे हैं…यह हत्यारे की लड़की है…लड़की रो रही है…चीख रही है…मृदुला एक चीख मारकर पुनः अचेत हो गई…चीख की आवाज सुनकर नर्स अन्दर आ गई। कुँवर ने नर्स से कहा—'देखो मुझे इनसे कुछ जरूरी बातें करना है। होश आते ही खबर करना। मैं अपने लाइब्रेरी रूम में हूँ।' कुँवर साहब बाहर चले गये…नर्स ने सोचा कि डाक्टर को फोन कर दूँ पर अनुभवी पुराने नौकर ने कहा—'सिस्टर डर की क्या बात है ? अभी होश में आ जायँगी।' लगभग तीन घंटे बाद जब मृदुला होश में आई तो वह अत्यधिक दुर्बलता का

अनुभव कर रही थी। उससे कुछ खाया तो जाता नहीं था। नर्स ने ग्लूकोज का इंजेक्शन दे दिया था। कुँवर साहब आये किन्तु उन्होंने फिर उस दिन कोई बात नहीं की। केवल मृदुला के सिरहाने बैठकर उसके बालों को सहलाने लगे···मृदुला को पति का इतना आदर-यत्न बहुत दिनों से नहीं मिला था···मानसिक दुर्बलता के क्षणों में वह पति की गोद में सिर रखकर बहुत देर तक रोती रही चुपचाप···एमदम चुपचाप···कहने-सुनने को था ही क्या···कुछ सोच-समझकर कुँवर साहब भी चुप ही बने रहे··· रात को भी मृदुला छोटे बच्चे की भाँति पति के शरीर से सट कर पड़ी रही मानो उसे डर लग रहा था कि कहीं उससे उसके पति को कोई छीन कर न ले जाय·····कभी-कभी वह अकारण ही चीख भी पड़ती थी····· उसने निश्चय किया कि वह पति की प्राण-रक्षा करेगी ही·····पति की नहीं, कुँवर की नहीं किन्तु उसकी सन्तान के पिता की रक्षा तो उसे करना ही होगा·····उसकी निरीह, निर्दोष, निरपराध सन्तान दण्ड की भागी नहीं बनेगी·····वह नहीं बनने देगी···किन्तु प्रातः जब कुँवर साहब ने वही चर्चा आरम्भ की तो उसे जान पड़ा कि मंजुला उसके सामने खड़ी उससे कह रही है—'मृदुला ! यही तेरी सत्यनिष्ठा है ? छिः इस हत्यारे, पापी पति की रक्षा के लिए तू मेरे देवता सरीखे भाई के प्राण लेगी····· पापिन तुझे नरक में भी ठौर नहीं मिलेगा।' घबराकर मृदुला ने आँखें बन्द कर लीं किन्तु मंजुला की प्रतिमा तो और भी अधिक स्पष्ट हो गई··· उसने फिर आँखें खोल लीं किन्तु उसके कानों में न जाने क्यों गूँज रहा था 'गुरु हत्या···निर्दोष की हत्या···अकारण हत्या और तू हत्यारी है····· हत्यारे की पत्नी है···अभागी, पापिन, चण्डालिनी···' उसने दोनों आँखें पूरी खोलकर कहा—'मुझे क्षमा करो। मुझसे नहीं होगा···कभी नहीं होगा ···मैं यह सब नहीं कर सकूँगी···तुम जो कुछ करते हो करो उसमें नहीं बोलूँगी किन्तु मैं यह सब कुछ नहीं कर सकूँगी···' वाक्य के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते उत्तेजना से उसका स्वर काँप रहा था···आवाज लगभग

चोख की सीमा तक पहुँच गई थी। दो दिन से पत्नी की खुशामद करते-करते कुँवर साहब का ठाकुर मन चिढ़ उठा था···संयम का बाँध टूट रहा था···चिढ़ की सीमा पार हो गई थी···उससे अब और नहीं रहा गया··· उसने कठोर व्यंग्यभरे स्वर में कहा—'कैसे होगा···यार को फाँसी कैसे चढ़वाओगी लेकिन यह भी समझ लो कि मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जिन्हें कहते हैं यार का पूत भतार खिलावे···मैं तुम्हें और तुम्हारे यार दोनों को खड़े-खड़े कुत्तों से न नुचवा दूँ तो कहना···भरी अदालत में कहूँगा कि यह व्यक्ति मेरी पत्नी के कमरे में आधी रात को पाया गया और फिर सारा संसार···तुम्हारे माँ-बाप, भाई-बहिन, सगे सम्बन्धी सभी देखेंगे कि तुम्हारी क्या दुर्गति होती है। वे सब थूकेंगे तुम्हारे मुँह पर···समझाना उन्हें कि एक गैर आदमी आधी रात को तुम्हारे सोने के कमरे में क्यों पाया गया··· मेरी इज्जत तो जायगी किन्तु तुम्हारे पिता को भी कहीं मुँह दिखाने लायक नहीं छोड़ूँगा···यह अच्छी तरह समझ लेना···' मृदुला ने पहले ही कुछ वाक्य सुन पाये किन्तु उसका मन विकट घृणा, लज्जा और ग्लानि से भर उठा···यही व्यक्ति मेरा आराध्य देव है···कितना तुच्छ है यह···कितना नीच है यह···अंजना दास गुप्ता ने ठीक ही कहा था कि अन्त में मैं ठगी ही गई···नारी की लज्जा···इसके लिये खिलवाड़ की वस्तु है और वह नारी भी कौन जो इसकी पत्नी है···अग्नि प्रदक्षिणा द्वारा इसकी बचनबद्ध पत्नी है·····इसके दाम्पत्य जीवन की साथिन है···किन्तु कौन विश्वास करेगा मृदुला की इस बात पर कि वह पवित्र है·····गंगाजल की भाँति पवित्र है···महारानी सीता ने अग्निपरीक्षा दी·····बानर जाति के असभ्य लोगों के सम्मुख जोकि भाई की पत्नी को पत्नी बनाने में संकोच नहीं करते आर्य मर्यादा की रक्षा के लिए अग्नि परीक्षा दी और वह खरी उतरीं किन्तु फिर भी उसे बनवास दिया गया···कैसा विचित्र समाज है यह जहाँ पवित्रता का मूल्य है आडम्बर···सत्य का मूल्य है केवल ढोंग और वास्तविकता का मूल्य है दिखावट·····कैसा विचित्र मजाक किया है परि-

स्थितियों ने उसके साथ···और···और···अभागे अरुण के साथ···सच ही तो उसने अरुण को उस दिन क्यों बिठाया···उसका आदर-सम्मान क्यों किया···उसी ने तो उसे साहस दिया···उसकी सहायता की, ममत्व की अपेक्षा करने का···दोष उसी का है···केवल उसी का···अभागी मृदुला···कुँवर साहब कह रहे थे—'यह न समझो कि तुम्हारी करतूतें मुझसे छिपी थीं··· मेरे पीछे से इस दुष्ट को बुलाकर आधी रात तक खिलाती-पिलाती रहती थीं···इसी से सिखा-पढ़ाकर मेरी मिल में हड़तालें करा कर मेरा अपमान कराती थी···यही सब कुछ करना था तो मुझे फँसाया ही क्यों था···सचमुच माँ ठीक कहती थीं कि यह कमीने खानदान की लड़की इस घर की बहू होने के योग्य नहीं है। न हुआ पुराना जमाना नहीं तो खोदकर गड़वा देता···और लड़की को भी चिरवाकर फेंकवा देता···न जाने किसकी लड़की है···' मृदुला की देह-भर काँप उठी···कहाँ छिपा था कुँवर में यह भेड़िया रक्त जबकि वह मृदुला भोली, कुमारी, बालिका को जाल में फँसा रहे थे··· मृदुला को जान पड़ा कि कुँवर के प्रियदर्शी मुख के पीछे से एक अत्यन्त भयंकर चेहरा झाँक-झाँककर घूर रहा है। वह कुछ कहना चाहती थी कि जिह्वा मानों जकड़ गई थी। मुँह से शब्द निकलते ही नहीं थे···कितने क्रूर हैं ये···कितने निर्दय···ठीक है···यह मुझे मार डालें···एक ही बार मार डालें·····मार ही क्यों नहीं डालते···काश कि मैं इनके हाथों मर जाती···काश कि बूढ़ी दाई की जगह मैं ही बीच में आ जाती···तो यह सब तो न होता···उसे दिखाई पड़ी दो जलती-जलती आँखें···कितना तेज भरा था उनमें·····उसे सुनाई पड़े अतीत के गर्भ से आते हुए शब्द··· स्वर···मिथ्या के भँवर में पड़कर सत्य की नाव छुप भले ही जाय डूब नहीं सकती·····शायद उसने सोचा कि डूब भी जाती हो···पर नहीं···उनके शब्दों पर अविश्वास नहीं करूँगी···और यदि अरुण ही अपने बचाव के लिए यह कह दे कि मुझे मृदुला ने बुलाया था···इससे पहले तो कई बार मृदुला ने मन-ही-मन चाहा था कि वह अरुण को बुलाये किन्तु साहस

नहीं हुआ था किन्तु उसने जाते समय अरुण को फिर आने का साग्रह निमन्त्रण तो दिया था फिर भी अरुण नहीं आया···उस अभागी काली रात को भी अपनी एक मात्र बहिन की मृत्यु-शय्या उसे खींच लाई···उसकी बहिन जो कि मेरी प्रिय सखी थी···तब क्या मैं यही नहीं कह सकती··· किन्तु इसे मानेगा कौन···मेरे और अरुण के आज के स्तर का अन्तर··· कुँवर की मान-प्रतिष्ठा···काश कि अरुण ही कुछ कह दे···किन्तु···किन्तु··· अरुण यदि कह दे कि मैंने ही उसे बुलाया था·····किन्तु·····वह नहीं कहेगा···प्राण जाने पर भी असत्य से जीवन-रक्षा नहीं करेगा···वह जानती थी···अपने मास्टर साहब को खूब जानती थी···उसे वह दिन याद आ गया जब ऐसी ही एक अँधेरी रात को नवयुवक अरुण···उसका हाल ही का मास्टर बना अरुण···चुपचाप उसके बँगले में आ गया था। तब मृदुला घर पर अकेली ही थी···प्रायः उस समय अकेली ही रहा करती थी···माँ, पिता सब व्यापार आदि में व्यस्त रहते थे और सब भी अपने कामों में···वह कितना घबराया हुआ था···उसके उलझे बाल उसके माथे पर कितनी सुन्दरता से खेल रहे थे···भारत स्वतन्त्र होने के तनिक पहले की ही तो बात है···उस समय शायद वह एम० ए० का छात्र था अथवा एल० एल० बी० का···अथवा···अथवा···उसने आते ही कहा था— 'मृदुला ! कुछ और पूछना नहीं···एक गुरु भार दिये जा रहा हूँ इसे प्राणों से भी अधिक सावधानी से छिपा कर रखना।' और वही दो जलती आँखें मेरे मुख पर टिका कर उसने कहा था—'साहस न हो तो अभी कह दो मैं कोई और द्वार देखूँ।' कहते हुए उसने कागजों का एक बंडल और एक पोर्टबिल टाइप राइटर मेरे हाथों में बरबस थमा दिया था। मैंने तनिक हलके दङ्ग से हँस कर पूछा था—'क्यों इसमें है ही क्या जिसे प्राणों से भी अधिक सावधानी से छिपा कर रखूँ और किससे छिपाना होगा ?' 'अधिक समय नहीं है···इसमें मेरे और मेरे साथियों के प्राण हैं। कागजों को तुम धीरे-धीरे चुपचाप सावधानी से जला डालना और

टाइप राइटर कहीं छुपा कर रख लेना। देखो बड़ी सावधानी से···तुम पर मेरा पूरा विश्वास है।' और वह झटपट चला गया। मैं अचकचा गई किन्तु मेरा इतना विश्वास तो अवश्य था कि वह कोई बुरा काम मुझसे नहीं करवायेंगे···रात भर कमरा बन्द करके गुसलखाने में मोटी मोमबत्ती जलाकर कागज जलाती रही किन्तु साथ-ही-साथ पढ़ने का प्रलोभन भी नहीं छोड़ सकी···कितने बड़े, किन्तु कितने छुपे-छुपाये···कितने सरल और कितने निरीह क्रान्तिकारी थे वह। यह मैंने उसी दिन जाना किन्तु उससे भी अधिक बड़े मनुष्य हैं यह मैंने तब जाना जबकि फिर कभी उनकी उस कार्य सम्बन्धी चर्चा भी नहीं सुनी···मैंने कल्पना की थी कि स्वराज्य यदि कभी हुआ तो मास्टर साहब भी कोई बड़े आदमी बन जायँगे···स्वराज्य हो गया···मेरे पिता जो किसी समय राय साहब, राय बहादुर, ओ० बी० इ० और न जाने क्या-क्या रहे थे या चन्दा-वन्दा कांग्रेस को भी देते ही रहते थे···न जाने कब, कैसे और कौन-कौन-सी सीढ़ियाँ देश भक्ति की चढ़ते हुए मिनिस्टर हो गये और मास्टर साहब जिन्होंने एक दिन अपने ढङ्ग से, भले ही वह बचकाना ही हो···घर-बाहर बिना किसी को जनाये-सुनाये हुए ही आजादी के लिये प्राणों की बाजी लगा दी थी हो गये बेकार··· गरीब और निरुपाय शायद इसीलिये कि वह अपनी आजादी की लड़ाई में की गई सेवाओं की पूँजी को भुना-भुना कर लौकिक सुविधाएँ नहीं खरीदना चाहते थे अथवा ऐसा कर पाते ही नहीं थे···यहाँ तक कि कभी कहीं उनकी सेवाओं की किसी ने कानोकान खबर तक भी नहीं पाई, चर्चा भी नहीं की और उन्होंने यह सब कराना चाहा भी तो नहीं। एक दिन मृदुला ने दबी जुबान से कहा—'मास्टर साहब! अब तो आजादी मिल गई। अब अपना टाइप राइटर तो ले जाइये।' और उन्होंने हँसकर कहा था—'ओह! तुम्हें वह अभी तक याद है? वह तो सब बचपना था। खैर दे देना। ले जाऊँगा।' और उनकी आँखें फिर जल उठी थीं···एक दिन शरारतन मृदुला ने कहा था—'मास्टर साहब! यदि आप पकड़े जाते

और टारचर होने पर मेरा नाम-पता बता देते कि टाइप राइटर वहाँ रखा है तो मेरी क्या दशा होती।' तो उन्होंने अपनी दोनों जलती हुई आँखें मेरे मुँह पर टिका कर कहा था—'मृदुला ! तुम मुझे इतना नीच समझती हो ?' मृदुला सहम गई थी···उससे उत्तर देते भी नहीं बन पड़ा। उसने सहमे स्वर में केवल इतना ही कहा—'शायद आप मनुष्य नहीं हैं।' और फिर वह सरल चित्त भोले-भाले इन्सान की-सी हँसी हँसकर कहने लगे थे—'तब क्या हूँ ? दानव।' 'नहीं देवता···' बात वहीं की वहीं समाप्त हो गई किन्तु मृदुला जानती थी कि प्राण जाने पर भी नारी की लज्जा को लेकर खिलवाड़ कर सके इतना कायर, इतना नीच, वह नहीं है···और···और··· यह व्यक्ति···जो मेरा पति है···मेरा स्वामी है···मेरा इहलोक और परलोक का आश्रय है···जन्म-जन्म का साथी है···छिः···छिः···इसके निकट उस देवता की, महाप्राण की प्राण-भिक्षा माँग कर मैं उसी का अपमान कर रही हूँ न···मास्टर साहब ने एक दिन कहा था—'इन्कार ही जिसके निकट दान पात्र में डालने योग्य एक मात्र वस्तु है उसके निकट याचना करके निज को छोटा बनाने से बढ़ कर लज्जा की बात मानव के लिये और क्या हो सकती है ?' उन्होंने यह भी तो कहा था एक दिन—'जिसके निकट कुछ भी अदेय नहीं है वही दान के महत्व को समझ पाता है।' किन्तु इनसे दान लेना···और दान कैसा वह तो सत्य की रक्षा मात्र ही है··· किन्तु क्या सत्य है और क्या असत्य इसकी मीमांसा करने उनकी मर्यादा नष्ट करने की भी अब मेरी इच्छा नहीं होती है···उन महाप्राणों की रक्षा कर सकूँ ऐसी क्षमता भी तो मुझ दुर्बल नारी में नहीं है···कुँवर साहब और कुछ देर बक-झक कर चले गये किन्तु फिर तीन-चार दिन तक शान्ति रही और उसके बाद एक दिन उसके पति ने फिर उसकी माँ और पिता के साथ दर्शन दिये। इस बार मृदुला की फिर इच्छा हुई कि कम से कम पिता के निकट सत्य का उद्‌घाटन कर ही दे किन्तु ज्यों ही उसकी दृष्टि पति की दृष्टि से मिली वह कसाई की छुरी के नीचे पड़ी हुई बकरी की

भाँति काँप उठी और तुरन्त ही अचेत हो गई···उपचार होते रहे···डाक्टर ने कहा कि इनका हृदय दुर्बल हो गया है···इनसे ज्यादा बातचीत नहीं की जाये···पिता ने केवल इतना ही कहा—'बेटा ! तुम्हारे लिए कमीशन अप्वाइंट करा देंगे । वे यहीं आकर तुम्हारा बयान ले लेंगे । दो-चार मिनट ही लगेंगे फिर वीरेश्वर तो तुम्हारे पास होंगे ही तुम्हें कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है ।'

कमीशन नियुक्त हुआ और उसी दिन प्रातः मृदुला ने अत्यन्त लाचारी से न जाने किन दुर्बल क्षणों मे पति से कह दिया—'वैसा ही होगा जैसा कि तुम चाहोगे ।' वकील आकर घंटों समझाता रहा किन्तु वहाँ होश ही किसे था । सुना जाता है कि बेचारे मजदूरों गाँववालों ने लुटिया-थलिया बेंच कर वकील का प्रबन्ध किया किन्तु अरुण ने वकील लेने से इन्कार कर दिया···सरकार की ओर से एक वकील पैरवी कर रहा था किन्तु अरुण पूरी तरह उदासीन था···जेल में भी वह प्रायः मौन ही रहा करता था । न जाने क्यों धनिया उससे बार-बार मिलने का प्रयत्न करती किन्तु अरुण की इच्छा किसी से भी मिलने की होती ही नहीं थी···वह अधिक समय चुपचाप बैठा-बैठा कुछ सोचता ही रहता था···प्रायः सभी की उसके प्रति सहानुभूति थी किन्तु उसे मानो उस सहानुभूति की भी कोई आवश्यकता नहीं थी । कमीशन नियुक्त हुआ और घर ही पर कमीशन के सामने मृदुला का बयान लिया गया···जिरह हुई···उत्तर दिये और लिखे गये किन्तु मृदुला को यह भी नहीं ज्ञान रहा कि उसने क्या कहा और क्या सुना···वह तो इतना ही जान पाई कि उससे पूछा गया कि गोली किसने चलाई···वह चुप ही रही···उसकी जिह्वा मानो अकड़-सी गई थी और फिर पूछा गया 'अरुण कुमार ने ?' शायद उसी समय उसकी दृष्टि पति की दृष्टि से मिल गई और उसका सिर जाने कैसे हिल गया···उसे बयान पढ़ कर सुनाये गये···शायद वह उसमें से एक अक्षर भी नहीं सुन पाई फिर उससे पूछा गया—'यह आपके बयान हैं ?' उसने यन्त्रवत् कह दिया—'हाँ ।' और

उसके बाद की कुछ बात उसे कोशिश करने पर भी याद नहीं आई··· शायद वह याद करना चाहती भी नहीं थी···सब कुछ समाप्त हो गया··· अचानक उसने अरुण की ओर देखा···आश्चर्य···उसे दो जलती हुई आँखें नहीं दिखाई दीं ··दिखाई दीं अत्यन्त मधुर···अत्यन्त स्निग्ध··· अत्यन्त स्नेहभरी···अत्यन्त आश्वासनभरी दो आँखें···कैसा निर्मल स्नेह झलक रहा था उन दो आँखों में···कितना प्रबल आश्वासन था उस दृष्टि में···मृदुला के सारे शरीर में जैसे तीव्र करेन्ट-सा फिर गया···उसे लगा जैसे अरुण कह रहा है—'मृदुला ! तुम निर्भय हो जाओ···प्राण देकर भी मैं तुम्हारी लज्जा की रक्षा करूँगा···प्राण देकर भी तुम्हारे वचन को सत्य करने की, प्रतिष्ठा ही देने की चेष्टा करूँगा···' मृदुला काँप कर अचेत हो गई । डाक्टर ने शीघ्र ही समाप्त कर देने की बात पहले ही कह दी थी··· अरुण के वकील ने अरुण को कई प्रकार की सलाहें दी थीं···उनमें से सत्य के अतिरिक्त एक ऐसी भी सलाह थी जिसे सुनते ही अरुण ने कहा था—'वकील साहब ! यदि सत्य की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती तो जाने दीजिये मैं असत्य का आश्रय लेकर प्राण-रक्षा नहीं करूँगा ।' वकील साहब ने जोर देकर यह भी कहा था कि फिर सत्य ही क्यों नहीं बताते और अरुण केवल हँसकर चुप हो गया था···वह सत्य की भी चर्चा नहीं करेगा···वह मृदुला···अपनी मृदुला···अपनी अत्यन्त स्नेह की, आदर की···सम्मान की वस्तु मृदुला का सुहाग अपने हाथों ही नहीं पोंछेगा । किसी प्रकार भी नहीं पोंछ सकेगा । उसकी सोने की प्रतिमा मृदुला···किसी प्रकार के भी असम्मान के बीच खड़ी हो यह भी वह नहीं कर सकेगा···तब···तब··· उसने निश्चय किया कि वह इन सब तमाशे के बीच तटस्थ रहकर मृदुला को सम्मान का जीवन भेंट करेगा···मंजुला चली गई···उसे इस विश्व में एकबारगी एकाकी छोड़ कर चली गई···वह किसी प्रकार भी मंजुला की सेवा करना तो दूर और अपनी मूर्खता से उसकी सरल, सुशीला सखी को भी एक अकारण ही विपत्ति में डालना भर ही कर सका···और उसे

जाकर करना भी क्या है···कुँवर की पत्नी है···बच्ची है···समाज में मान-प्रतिष्ठा है···किन्तु क्या वह मुझ पर विश्वास नहीं कर सकता था···वह यूँ ही यदि मुझसे कहता तो क्या···तो क्या···पर जाने दो···मृदुला के पति को किसी भी असम्मान में घसीटूँ ऐसी मेरी इच्छा ही नहीं है··· वकील साहब को इस सत्यनिष्ठ, आदर्शवादी युवक पर दया तो आती थी किन्तु उनके निकट दया का मूल्य ही कितना था जिस पर कुँवर साहब की कृपा से उनके मँझले पुत्र को एक बहुत अच्छी नौकरी भी अभी हाल ही में मिल गई थी···यह भी वकील साहब कैसे भूल सकते थे···फिर वह थे भी तो पेनल लाइयर ही···उन्हें डिस्ट्रिक्ट गवर्नमेन्ट काउन्सिल के साथ ही तो काम करना था···ठीक ही तो है···फाँसी लगवाना ही तो डि. ग. का. का काम था···तो होने दो···वकील साहब ने सोचा मुझे क्या ? जब मुलजिम खुद ही फाँसी का फन्दा गले में डालने को व्याकुल है तो मुझे ही क्या पड़ी है सिरदर्दी करने की···और अरुण सचमुच ही व्याकुल था फाँसी पाने के लिये···वह जीकर करेगा भी क्या···किसके लिये जिये वह इतनी बड़ी दुनिया में···किसके लिये···एक बार उसके मन में आया कि स्वयं से कह दे—'क्यों मानवता के लिये तो वह जी सकता है···धनिया क्यों आती है रोज-रोज···क्यों रोती है उसे छुड़ा पाने के लिए···वह उसकी कौन है···ये गाँव वाले···नंगे भूखे···गरीब···दीन-हीन दुत्कारे हुए चमार; जुलाहे उसके कौन हैं···ये पीड़ित सताये हुए दरिद्र मजदूर उसके कौन हैं···कितनों ने तो कुँवर साहब की मिल से काम भी छोड़ दिया···वे कहते थे कि भइया अरुण को फँसाने वाले का अन्न खाना भी पाप है। ये सब अरुण सोचता कि मेरे कौन हैं···किसलिये मेरे पीछे परेशान हैं···मैंने इनके लिये कभी क्या किया है शायद ये मानव हैं···इन्सान हैं···इन्सान की कीमत जानते हैं किन्तु···अब जीकर होगा भी क्या···कभी-कभी इस अपरिचिता, अनजानी धनिया के लिये अरुण की आँखें अनजाने में ही गीली हो जातीं किन्तु उसके लिये मार्ग था भी कौन-सा···वह करता

भी तो क्या करता ? एक ओर थे अपने नगण्य प्राण और दूसरी ओर मृदुला के पति उनके बहुमूल्य प्राण···कभी-कभी अरुण को लगता कि काश वह जीवित रह सकता पर तभी वह सोचता कि मंजुला बिना दवा पाई··· यहाँ तक कि बिना किसी प्रियजन की आँखों का एक बूँद जल भी देखे बिना इस भरी जवानी में अपने सभी अरमान, सभी आदर्श और सभी कल्पनाओं की रङ्गीन दुनिया लिये यत्न-रहित ही चली गई तब मैं क्यों जियूँ···किसके लिये जियूँ···एक हत्या हुई है···एक प्राण गये हैं···बदले में एक प्राण जायँगे ही तब मेरे ही सही···शराब के नशे में कुँवर ने, संयम की जिसे कभी शिक्षा ही नहीं मिली···मानव के प्राणों का मूल्य जिसके निकट नगण्य है उस कुँवर ने गलती तो की किन्तु वह मृदुला का पति है···उसकी सन्तान का पिता है। उसकी भरी-पूरी गृहस्थी है···उसका जग संसार है···उसे बचाना ही होगा···अवश्य ही बचाना होगा और यह काम उसी को करना होगा जिसे कि वह विश्व में अपना सबसे बड़ा शत्रु समझता है। कैसी विडम्बना है···कैसी विचित्रता है···फिर भी वह मृदुला का पति है···और फिर उस दिन मृदुला का···पीली पड़ी हुई...दुर्बल··· रोगिणी मृदुला का बयान हुआ तो अरुण को ऐसा जान पड़ा कि पत्नी मृदुला···नारी मृदुला···प्रणयिनी मृदुला उससे अपने प्रिय की···पति की···उसके अमूल्य प्राणों की भिक्षा माँग रही है···वह मेरी शिष्या है··· अरुण ने सोचा···विवश···असत्य की हिलती-डुलती-सी आधारशिला पर खड़ी मृदुला उसे अत्यन्त ही दयनीय जान पड़ी···उसे लगा कि उसे मृदुला के सुहाग की रक्षा करना होगा और बदले में अपने प्राण देना ही होगा। वह भूल गया धनिया को···सोना को···मुखिया को···उसके कान में गूँजते धनिया के स्वर फीके पड़ने लगे। उसने एक दिन बड़ी ही वेदनाभरी आवाज में कहा था—'एक दिन पहले भी किसी को फाँसी के तख्ते से बचाने की जीतोड़ कोशिश की थी पर बचा न सकी···तब मैं मूरख थी, दुर्बल थी, नासमझ थी···आज अरुण भइया मुझे फिर एक

बार कोशिश कर लेने दो···उससे मत रोको···मैं बुरी हूँ ···बहुत बुरी हूँ लेकिन जब तुमने एक बार मुझ पापिनी, हत्यारिन, बदनाम, कुल्टा, सभी से दुत्कारी जाने वाली वेश्या को बहिन कह कर पुकारा है तो मुझे भी अपने मन की कर लेने दो। पाप तो मैंने बहुत किये हैं पर जीवन में एक काम तो अच्छा भी कर लेने दो···' स्वर में न जाने कैसा कुछ एक कम्पन था कि अरुण को जान पड़ा कि धनिया धनिया नहीं है···है केवल एक नारी, ममत्व की साक्षात् प्रतिमा···क्षण भर को धनिया उसके नेत्रों से मिट गई···उसे जान पड़ा कि उसकी साध्वी माँ ही वहाँ खड़ी है···उसकी वात्सल्य से भरी-पूरी बहिन ही उसके सामने खड़ी है। किन्तु अचेत होती मृदुला को देखते-देखते अरुण भूल गया धनिया को···जगन को···विश्व को···ब्रह्माण्ड को···याद रही उसे केवल नारी···मृदुला···असहाय··· विवश···निरुपाय जिसके आँचल में था दूध और आँखों में पानी···

कुँवर साहब का काम सरल हो गया। अपराधी अरुण ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया···शान्त···स्थिर···तेजस्वी नेत्रवान अपराधी अरुण को देख कर जज को विश्वास ही नहीं हो रहा था कि वह अपराधी होगा···किन्तु मुकदमा साफ था···मुजरिम खुद ही तो जुर्म इकबाल कर रहा था···कहीं किसी ओर से कोई विरोध नहीं था यहाँ तक कि कोई लीगल फ्लां भी तो नहीं मिल रहा था···मुजरिम की ओर से वकील साहब ने बहस तो की किन्तु बहस में वह तेजी नहीं थी, शायद विशेष आग्रह भी नहीं था···गरीब लोगों की, फटे हालों की, अदालत के बाहर भीड़ लगती रहती और हथकड़ी-बेड़ी में सम्राट की भाँति गौरवपूर्ण दृष्टि और मधुर मुस्कान सभी की ओर बिखेरता हुआ अरुण उन्हीं के बीच से पुलिसवान में बैठकर चला जाता···धनिया तड़प उठती···उसकी आँखों से चिनगारियाँ छूटने लगतीं···मंजुला चली गई किन्तु अन्तिम समय तक उसके शव के पास वही खाली शीशी पड़ी थी जिसे एक दिन दरोगा जी से बड़ी मिन्नत समागत करके धनिया ने लाकर मंजुला के पास भिजवाया था···तो देवी जी उसे

अन्तिम समय तक नहीं भूली थी किन्तु उसमें ऐसा है क्या···उसने तो सदा पापिनी ही सुना था···उसे यही विश्वास था कि किसी दिन भी संसार में उसे साध्वी का-सा सम्मान नहीं मिल पायेगा किन्तु देवी जी ने उसे बहिन कहा था···वह सचमुच देवी थीं···इस धरती पर कैसे रहतीं··· यह उनके भाई हैं ··देवता हैं···मुझे बहिन कहते हैं···कभी तो किसी पुरुष ने उसे बहिन कह कर नहीं पुकारा था···उसके जले शरीर पर कभी तो किसी की दृष्टि पवित्र भाव से पड़ी नहीं थी और उसने भी एकान्त भाव से स्वीकार कर लिया था कि उसके शरीर का यही एक मात्र उपयोग है कि उसे किसी भी पुरुष को सौंप कर उसका मूल्य वसूल करके···चलती बने··· किराया ले ले···किन्तु कैसा है यह पुरुष···देवता है···सचमुच देवता··· और वर्षों बाद धनिया को अपने अभागे दुःखी पति की याद आ जाती जो न जाने जेल में ही मर गया या शायद जीता भी हो···धनिया उसे कौन-सा मुँह दिखाती···आज उसे जान पड़ा कि वह अपने पति के सम्मुख खड़ी होकर उससे कह सकती है कि वह एक देवता की बहिन है···वर्षों बाद उसने भक्ति से···अगाध श्रद्धा से शिव की प्रतिमा पर जल चढ़ाया··· जंगल से बीन-बान कर लाकर टूटे-फूटे चमारों के मन्दिर की टूटी-फूटी प्रतिमा पर बेलपत्र चढ़ाये और आँसू से टूटे-फूटे फर्श को भिगोती हुई बिलख उठी शिवजी के सामने ही···तुमने उस दिन मेरी नहीं सुनी थी भगवान···मेरा बेकसूर पति आज जेल में सड़ रहा है पर फिर भी भगवान मैंने उसे सह लिया। माना कि मैं पापिनी हूँ पर सरनागत हूँ इस बार मेरे भाई को बचा दो तो मैं अपने रक्त से तुम्हें स्नान कराऊँगी मेरे देव··· किन्तु अरुण ने अपराध स्वीकार कर लिया···गरीब पेड़ों के नीचे पड़े हुए उसके नंगे, भूखे सहायक मित्र तड़प उठे···चीख उठे···जज की आँखें नम हो गईं किन्तु दण्ड तो मिलना ही था और मिला···जज महोदय ने सदय होकर आजन्म कारावास का दण्ड दे दिया···अपील न होनी थी और न हुई···गरीबों के खून के आँसुओं के बीच उनका सफेदपोश, नेक ··भला

सलाहकार, मित्र जेल के भीतर ठूँस दिया गया···रात में एकान्त सन्नाटे में मन्दिर में जाकर धनिया ने शिव मूर्ति को उठाकर बाहर फेंक दिया···वह पागलों की तरह बड़बड़ा रही थी···देवता हो···तुम देवता हो···तुम पत्थर हो, निरे पत्थर हो···देवता क्या ऐसे होते हैं···नहीं···नहीं···तुम्हें कभी कोई नहीं पूज सकेगा···ऐ हम गरीब चमारों की गाढ़ी कमाई चूसने वाले तुम राच्छस हो···तुम्हें हटाना ही होगा···तुम निर्दयी हो···नहीं···नहीं··· उन्होंने कभी हत्या नहीं की···वह जायँगे चोरी करने···हत्या करने···छिः··· छिः···तब उन्होंने वैसा क्यों कहा···मैं क्या जानूँ···पर वह ऐसा नहीं कर सकते···वह देवता हैं···वह ऐसा नहीं कर सकते···वह चाहे हजार बार कहें···मैं नहीं मानूँगी···बदमास पुलिस की कोई चाल रही होगी···क्या मैं पुलिस को पहचानती नहीं···चोर हैं···बेईमान हैं सब···पर तुम भी बचोगे नहीं देवता और उसने उठा कर पिण्डी बाहर फेंक दी···गाँव भर में उदासी छाई हुई थी। किसना महराजिन तो उसी दिन से पागल-सरीखी हो रही थी जिस दिन सुबह सूने घर में मंजुला का शव मिला था···बात कोई ठीक-ठीक समझ नहीं पाया···पर रमिया का बड़ा भाई जो कि उसी दिन रात की गाड़ी से गाँव लौटा था और मीलों चलकर स्टेशन से पैदल ही गाँव आ रहा था केवल इतना ही बता सका कि आधी रात को झोपड़ी में रोशनी थी और कोई आवाज-सी भी सुनाई दी थी फिर कोई बदहवास-सा पानी में ही बाहर दौड़ा जा रहा था···रमिया ने बताया कि मंजुला को कुछ दिनों से ज्वर रहता था, खाँसी भी आती थी पर वह मानती ही नहीं थी···हिम्मत से अधिक काम करती थी···मैंने कई बार कहा कि अरुण भइया से कहो वैद्य जी को आन गाँव जाकर दिखा लायें तो हँसकर कहती— 'मुझे हुआ क्या है जो वैद्य को दिखाऊँगी। तुम लोग क्या जरा-जरा-सी बात में वैद्य को दिखाती हो' और बात टाल देती···उस दिन संध्या से ही उनकी तबियत अधिक खराब थी···खाना भी रमिया ही बना कर रख आई थी···अरुण देर से लौटा तो शायद उसने समझा होगा कि वह सो गई

सो आप ही रोटी खाकर लेट रहा होगा···तब न जाने फिर क्या हुआ। शायद रात तबीयत अधिक बिगड़ गई हो और शायद उन्हीं की आवाज खटपट रमिया के बड़े भइया ने सुनी हो। शायद वह वैद्य बुलाने आन गाँव जा रहे हों तब वह मिल के बँगले में कैसे जा पहुँचे यही सब समझ नहीं पा रहे थे। फिर भी इस विषय में तो सब एकमत थे कि अरुण भइया को बदमाश पुलिस ने बेकसूर ही फाँस लिया है···इससे पहले गाँव के कुछ और लोग भी तो फँसे हुए थे ही सो गाँव वालों को इसका परिचय तो था ही कि पुलिस के लिये निर्दोष को फँसा लेना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। किसना रोज प्रातः उनकी झोपड़ी के सामने जाकर बैठती और शाम तक बैठी न जाने क्यों रोती रहती···सभी तो उसे चार बातें सुना जाते थे··· क्यों महराजिन तब तो बंस नास कर रही थीं अब नास हो गया तो बैठी टसुए बहाती हो और वही किसना महराजिन जिसकी जिह्वा कभी गालियाँ देती थकती ही नहीं थीं केवल आँखें फाड़-फाड़ कर सबको देखती ही रह जाती। कुछ बोल भी नहीं पाती···मजदूरों में भी हाहाकार मचा हुआ था किन्तु कोई भी कर ही क्या सकता था···समाचार सुन कर केवल मृदुला ही तनिक-सी विचित्र-सी हँसी हँसी थी। उसने हलके स्वर में पति से कहा था 'मुबारक' और पति कुछ झेंप गया था।

३६

लगभग दो मास बीत चुके थे। मृदुला भी अब स्वस्थ हो गई थी किन्तु इधर प्रायः पति-पत्नी की बोलचाल ही बन्द थी। मृदुला को घर में कोई कष्ट नहीं था। धन का अभाव नहीं था। दहेज में पिता ने उसे अपनी एक बड़ी अच्छी मिल में कुछ हिस्से दिये थे। उनका वार्षिक डिवी-डेंड यूँ भी कभी आठ कभी दस हजार मृदुला के हाथ में आ ही जाता था। पति ने भी इन्कमटैक्स में कुछ गड़बड़ कर सकने की दृष्टि से अपने

व्यापार में भी उसका भाग रखा था···आभूषणों की तो कुछ गिनती ही नहीं थी···घर के खर्च के लिये भी पाँच हजार रुपये मास की पहली ही तारीख को उसके हाथ में आ जाते थे···इधर उसने देखा था कि कुँवर साहब भी उससे बोलना चाहते हैं···कोशिश भी करते हैं किन्तु मृदुला हर समय कुछ सोचती ही रहती है···रात-रात भर वह अपनी नन्हीं सी लड़की को छाती से लगाये रोती रहती···किसी प्रकार भी उसके आँसू थमते ही नहीं थे···उसे बार-बार दिखाई देती स्वप्न में···कल्पना में···जागते में दो किशोरिकाएँ···स्कूल के घास के फर्श पर आसपास लेटी हुई···एक कह रही है, 'सुख और दुःख दोनों के ही बीचोबीच जो अपना स्थान बना लेते हैं, बना पाते हैं क्या वे श्रद्धेय नहीं हैं···' और···और···फिर मस्ती से उसे उत्तर देने वाली प्रसन्न, लापरवाह, मस्त लड़की आज कहाँ हैं···वह गम्भीर, संयमी, दृढ़ और कुशाग्र बुद्धि लड़की जिसने जीवन भर सुख और दुःख दोनों के ही ठीक बीचोबीच अपना मार्ग बना कर चलना चाहा··· आज कहाँ है···आज कहाँ है वह आत्म-सम्मान की प्रतिमा···जिसने जीवन भर शान्त भाव से सुख और दुःख दोनों को ही परे करके, ठेल करके उनके ठीक बीचोबीच मार्ग बना कर चलने का प्रयत्न किया···चली और अपने सिद्धान्तों के अनुरूप ही गर्व से मस्तक ऊँचा किये हुए ही थोड़ी-सी ही आयु में ही संसार से चली गई···और कहाँ गई वह दूसरी किशोरी जो कह पाती थी तो क्या तू यह चाहती है कि मैं १५ वर्ष की आयु में ही तेरी भाँति वेद-पुराण की बात करने लगूँ···कहाँ गई उसकी वह मस्ती जो उससे कहला पाती थी···इन हरे-हरे पत्तों को देख···उस ओर खिले हुए रङ्ग-बिरंगे फूलों को देख···इन नन्हें-नन्हें पौधों को देख और पैरों तले बिछी हुई हरी-हरी घास को देख···सभी तो मस्त हैं फिर तू ही एक···कहाँ गई उसकी वह मस्ती···उसका हँसोड़पन···उसकी लापर-वाही···आज सत्ताइस-अट्ठाइस वर्ष की ही अवस्था में वह हँस क्यों नहीं पाती···गा क्यों नहीं पाती नाच क्यों नहीं पाती···क्यों···क्यों···

क्यों···और···अचानक उसे जान पड़ता कि मंजुला जाते-जाते भी अनेकों कोमल हृदयों पर अपने स्नेह की छाप डाल गई है···आज भी अनेकों मनिया, धनिया, गुनिया मन-ही-मन मंजुला की पूजा कर रही हैं किन्तु कहाँ है मृदुला···कहाँ है उसकी मस्ती···मंजुला जीवित है किन्तु मृदुला मर गई, मिट गई···मानवी···साधारण मानवी मंजुला जीवित है और सदा सर्वदा जीवित रहेगी किन्तु नहीं रहेगी मृदुला—मस्त, लापरवाह किन्तु कुँवरानी, धनी, मानी, सौभाग्यवती मृदुला···तब···तब··· मृदुला जीवित रखेगी मंजुला को···उसने अरुण के प्रति, गुरु के प्रति अपराध किया है···वही उसका प्रायश्चित करेगी···और अवश्य करेगी··· एकाकी ही करेगी···अरुण जियेगा और अवश्य जियेगा···स्वतन्त्र होकर जियेगा···अरुण के प्रति अनेकानेक मानवों की श्रद्धा जियेगी···अरुण जीवित रहेगा···मृदुला कुँवरानी को मार डालेगी···कुँवरानी मृदुला मर जायेगी और अरुण···अपराधी अरुण हत्या के अपराध में आजन्म कारा-वास भोगने वाला अरुण जीवित रहेगा और उसे आजन्म कारावास दिलाने वाली मृदुला···अभागी कुँवरानी मृदुला मर जायेगी···मंजु गई··· अरुण भी गया ही···कुँवरानी भी जायगी और अवश्य जायगी··· किन्तु मृदुला सोच रही थी कि ठगी तो मैं गई ही···भगवान···अनजाने, अनदेखे, अनचाहे भगवान पर विश्वास नहीं किया···मानव के समस्त बल, सारे स्नेह पर गम्भीर विश्वास किया किन्तु ठगी तो फिर भी गई ही···और जिन्होंने अनजाने का आश्रय लिया वही शायद बच गये··· नहीं ठगे जा सके···तब क्या जानती थी मैं एक दिन जब मैं श्रद्धा से मस्तक नत करना चाहूँगी तो मुझे विश्व भर में कहीं ढूँढ़े, खोजे भी वह मंजुला नहीं मिलेगी जिसने जीवन भर संघर्ष किया और अन्त में संघर्षों के बीच ही शान्त, गम्भीर और स्थिर मन-बुद्धि लिये सो गई ··किसी का स्नेह···किसी का आश्वासन···किसी की गीली आँखों की नयनकोरें उसने देखी हों या न देखी हों उसे मिली असंख्य मानव मनों की श्रद्धा···मास्टर

साहब कहा करते थे ··पाना ही क्या विश्व में सब कुछ है···देना क्या कुछ भी नहीं···यही प्रश्न जो मन कर पाते हैं वे मानव-मन हैं···मृदुला ने पाया बहुत कुछ पाया किन्तु पावने भर से ही क्या वह सुखी हो सकी ·· उसे शान्ति मिली··मंजुला ने···मास्टर साहब ने कभी कुछ भी नहीं पाया फिर भी उनका देना ही अवशेष रहा·· सदा सर्वदा दिये जाना ही जिन्होंने सीखा था उन्हीं की जय हुई···मास्टर साहब ने दिया और भरपूर दिया··· अन्त में नारी को उसके सुहाग का दान अपने प्राणों के मूल्य पर भी दे ही दिया किन्तु किस अधिकार से पल्ला फैलाकर मैंने उस दान को ग्रहण कर लिया यही मैं समझ नहीं पाती हूँ ··मृदुला सोचे जा रही थी···जैसे उसका सोचना कभी समाप्त नहीं होगा···जैसे उसके सोच्रने का कभी कहीं अन्त ही होने को नहीं है···वह तो दाता के गर्व से गौरवान्वित हुए··· उन्हें मिला···दाता का सन्तोष···दाता की गौरव-गरिमा किन्तु मुझे क्या मिला···दान ग्रहण का सन्तोष तक भी तो नहीं···क्या पाप मैंने···उस दान के उपभोग का आनन्द भी तो नहीं···उनका दान पवित्र था, शुभ्र था, शिव था किन्तु मैं उसकी पात्र ही कहाँ थी···कैसे ले पाई मैं उसे जो उनके हृदय-रक्त से सना था···कितनी मूर्ख थी मैं···कितनी अन्धी हो गई थी मैं···छली गई···इस बार फिर से छली गई ··उस दिन अंजनादास गुप्ता ने बताया था कि मैं ठगी गई किन्तु मैंने माना ही कहाँ था। आज मानो विधाता ही कानों में आकर कह रहा है कि मैं छली गई···इस बार भी छली गई किन्तु इस बार हँस भी सकूँ इतनी क्षमता भी तो मुझमें नहीं है। तब ? दान ग्रहण कर ही चुकी हूँ···उसे अमान्य नहीं करूँगी···लौटाने की न तो मुझमें क्षमता ही है और न उतनी सुविधा ही···तब मैं सिर झुका कर, पल्ला पसार कर उसे मन प्राण से ग्रहण कर ही लेती हूँ केवल इसी लिये कि मैं उसके योग्य हो सकूँ···पात्रता पा सकूँ···मैं तपस्या करूँगी··· ताकि उसे स्वीकार कर सकूँ···ग्रहण कर सकूँ···उसकी पीड़ा से निरन्तर जलती ही न रहूँ···निशिदिन जलना, जलते ही रहना···नहीं···नहीं···

यह असह्य है···यह नहीं चलेगा · नहीं चल सकेगा···और उसने एक बार अपनी पुत्री को बड़ी जोर से अपनी छाती से चिपटा लिया यहाँ तक कि वह जाग कर चीख उठी·· मृदुला का मन कुछ-कुछ शान्त हो चुका था···वह कुछ निश्चय-सा करके शान्त-सी होकर सो गई···लगभग सन्ध्या दीप के समय कुँवर साहब घर लौटे। आज उनका मन बहुत प्रसन्न था··· उन्हें एम० पी० होने के लिये निर्वाचन लड़ने के लिये काँग्रेस का टिकट मिल गया था···विजय प्राप्त करना कठिन नहीं था···इलाका अपना ही था···अभी तक राजा, महाराजा शब्द का रोब ही दरिद्र वोटरों पर काफी था···कुँवर साहब की प्रसन्नता की सीमा ही नहीं थी। सोचा कि आज चलो मृदुला से भी समझौता कर लूँ···आखिर उसके पिता ने ही तो अत्यन्त कष्ट करके उसे यह टिकट दिलाया है···उसे बनाये रखना ही ठीक है··· यूँ भी तो अपनी पत्नी ही है उसे बनाये रखना ही अच्छा है और फिर वह स्त्री है, मेरी आश्रिता है, हिन्दू स्त्री ही तो है। मुझे भी उस पर कुछ दया भाव रखना ही चाहिये। अच्छा आज उससे स्वयं ही बात करूँगा···उसे खुश कर देना क्या कठिन है···घर में आते ही वह अपने कमरे में गया··· मृदुला कहीं दिखाई नहीं दी। मृदुला की बीमारी ही से बालिका के लिये नर्स रख ली गई थी···नर्स ने नौकर को बुलाकर साहब के सामने उपस्थित किया किन्तु कुँवर साहब का उधर ध्यान नहीं था। उसने नर्स से पूछा— 'क्यों भई बहूरानी कहाँ हैं ?'

'आपको यह चिट्ठी देने को बोल कर कही गई हैं।'

कुँवर साहब को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ···मृदुला तो महीनों से कभी कहीं गई भी नहीं थी। दुर्बलता के कारण अभी कहीं आना-जाना आरम्भ भी नहीं किया था···तब अकेली कैसे और कहाँ चली गई···उन्होंने बन्द लिफाफा हाथ में लिया और पूछा--'किस कार में गई हैं ?'

'किसी में नहीं। कह गई हैं कि किराये की गाड़ी में ही जायँगी।'

'क्यों ?' कुँवर की त्यौरियाँ चढ़ गईं। यह तो उसकी प्रतिष्ठा का

प्रश्न था। इस औरत को हो क्या गया है? मेरी प्रतिष्ठा धूल में ही मिलाने पर लगी है कुँवर साहब ने सोचा, किन्तु दूसरे ही क्षण लिफाफा उठाकर खोल डाला। छोटा-सा ही पत्र था एक साँस में पढ़ लिया। क्रोध से उनकी मुट्ठियाँ भिंच गईं···आँखें लाल हो गईं और वह अपने होठ काटने लगे। दुबारा पत्र उठाकर पढ़ा मानो समझ नहीं पा रहे हों··· तनिक-सा ही तो था ···पूजनीय, चरण स्पर्श।

आपको सुख नहीं दे सकी। दुःख न दे सकूँ वही उपाय कर रही हूँ। इस बार आपको असत्य के बीच से पाया है, अतः रख नहीं सकी। क्षमा करें। आपका जो कुछ हो वह छोड़े जा रही हूँ। नीरू आपकी है, उसे भी आपको ही सौंपे जा रही हूँ···मुझे लौटाने की चेष्टा करके मुझे और अधिक काँटों में न घसीटिये यही अन्तिम निवेदन है। आशा है इसकी रक्षा आप करेंगे ही।

अन्तिम बार आपकी

मृदुला'

यह क्या तमाशा है···क्या बचपन है···बड़ी ही मूर्ख स्त्री है···वास्तव में बड़ी भावुक है···कुँवर मन-ही-मन सोच रहे थे। प्रकट में उन्होंने इतना ही कहा—'सिस्टर! बेबी को अपने पास ही सुलाना।'

नर्स की कुछ पूछने की हिम्मत भी नहीं हुई। बच्ची तब तक सो भी चुकी थी।

४०

'मैं कहीं नहीं जाऊँगा।' प्रेत की-सी लम्बी छाया जेलर के सम्मुख थी।

'किन्तु तुम्हारा समय जो हो गया है। तुम्हें जाना ही होगा।' जेलर को इस शान्त, परिश्रमी, सुशिक्षित, सुसंस्कृत युवक से हार्दिक सहानुभूति थी।

'मैं अब कहाँ जाऊँ ? लम्बे-लम्बे अनेकों वर्ष यहाँ पर व्यतीत करके अब मैं कहाँ जाऊँ···जेलर साहब। मेरे लिए तो घर और जेल दोनों एक ही-से हैं। मेरा घर तो यही है।' उसने तनिक अस्थिर होकर कहा।

'भाई ! ऐसा तो नियम नहीं है। अवधि पूरी करके तुम्हें जाना तो होगा ही। यहाँ और अधिक तुम्हें रहने देना क्या मेरे अधिकार में है ? तुम तो खुद समझदार हो।' जेलर ने सहानुभूतिपूर्ण स्वर में कहा। न जाने क्यों सदा का शान्त गम्भीर कैदी इस बार अकारण ही उत्तेजित हो गया। अत्यन्त दयनीय स्वर में वह कह रहा था—'मुझे मार डालो। मुझे विष दे दो किन्तु यहाँ से निकालो मत···यह यन्त्रणा···यह कल्पना ही असह्य है···' कैदी ने पिछले सभी वर्ष अत्यन्त शान्ति से निकाले थे। वह न तो कभी जिद ही करता था न गाली ही देता था। यहाँ तक कि सब की आज्ञा मान कर अपना पूरा काम अत्यन्त परिश्रम से कर के वह अन्य कैदियों का भी काम-काज कर दिया करता था। सभी कैदी इस विचित्र स्वभाव वाले कैदी को न केवल आदर ही देते थे वरन् उससे हृदय से स्नेह भी करने लगे थे। ऐसा निरीह, शान्त, भला व्यक्ति कभी खूनी भी हो सकता है इस पर उन्हें विश्वास ही नहीं होता था। कभी किसी ने उसे अस्थिर, अशान्त नहीं देखा था। अतः किसी को भी यह विश्वास नहीं था कि वह अचानक ही इतना अशान्त हो उठेगा। वार्डर आदि सभी आश्चर्य-चकित थे। जेलर को उसकी असमय में ही आई हुई वृद्धावस्था पर, नम्रता पर और दुःखभरी पुकार पर दया तो आई किन्तु वह कर ही क्या सकता था। समय से अधिक जेल में रहने देने का नियम जो नहीं है किन्तु यह कौन सोचे कि जीवन का सब से अच्छा समय जेल की चहारदीवारी के भीतर बिता देने के बाद उसे खुली वायु में साँस लेने का साहस ही कहाँ हो पायेगा···जेल-जीवन उसे बाहरी जीवन से कुछ इतना अधिक दूर परे कर देता है कि फिर वह बाहरी जीवन में घुल-मिल ही कहाँ पाता है··· स्थान ही कहाँ बना पाता है···किन्तु इससे किसी को क्या···कैदी सोच ही

नहीं पा रहा था कि वह कहाँ जायगा, क्या करेगा···उसका कौन है इस इतनी बड़ी दुनिया में जो उसके लिये आँखें बिछाये प्रतीक्षा करता रहा होगा इतने लम्बे वर्षों तक। 'क्या करूँ भाई ऐसा नियम जो नहीं है। बाहर जाओ। अब तो तुम मुक्त हो गये। तुम्हारे मित्र सम्बन्धी कोई तो होंगे ही। वे लोग तुम्हारा इन्तजार कर रहे होंगे ?' उन्होंने ज़रा नरमी से कहा।

'मेरा इस संसार में कोई नहीं है ?'

'ऐसा भी कहीं होता है ?'

'ऐसा ही है ?'

'फिर भी मैं क्या कर सकता हूँ। जाना तुम्हें होगा ही।' कहकर जेलर साहब आगे बढ़ गये। कैदी के पैर काँप गये। वह वहीं धरती पर बैठ गया। उसने सोचा · कहाँ जाऊँ···कौन होगा इस अखिल ब्रह्माण्ड में मेरा···अपना···अपना कहने योग्य मेरे पास रह ही कौन गया है···आज तो मेरे अपने···मेरा संसार यह जेल ही है जिसके भीतर इतने वर्ष मैंने बिताये हैं···जहाँ के जीव मेरे अपने हैं···जिनमें न तो किसी का साझा ही है और न जिन्हें अपनाने के लिये कोई बाधा ही है, जिन पर न तो किसी का ममत्व है और न किसी की उन्हें प्यार करने की आकांक्षा··· आग्रह···इनमें से भी अनेक आये···अनेक गये किन्तु मैं तो यहीं रहा··· स्थिर···एक-सा...बराबर···अब तो मैं बाहरी दुनियाँ को भूल ही चुका हूँ···एकदम एकबारगी भूल ही चुका हूँ···सदा सर्वदा के लिये···हमेशा के लिये···तो फिर यह अचानक वज्रपात क्यों···मेरे लिये धरती के ऊपर और आकाश तले कहाँ स्थान है जहाँ जाकर आज मैं···खूनी···हत्यारा··· खड़ा भी हो सकूँ···और करूँगा भी क्या···करने को शेष है भी क्या··· सुना है सरकार जेलों का सुधार कर रही है···सुधार हो रहे हैं किन्तु जेल की दुनियाँ से बाहर जाकर मुट्ठी भर अन्न का प्रबन्ध भी कर सके कोई इसका कौन-सा उपाय किसी ने किया है···यहाँ भोजन मिलता है, वस्त्र

मिलते हैं···हारी बीमारी में औषधि भी मिलती है किन्तु बाहरी दुनियाँ में परिश्रम करने की इच्छा करने पर भी काम कहाँ मिलता है···रोटी कहाँ मिलती है···कपड़े का क्या प्रबन्ध किया जा सकेगा···यही चिन्ता साधारण नागरिक···भले आदमी को मारे डालती है। योजनाएँ सुना है बनीं और···बनती गईं किन्तु हुआ क्या···बेचारी···गरीबी···दरिद्रता···भूख का क्या प्रबन्ध किया जा सका···धनिया···कहाँ होगी वह···इतने वर्ष बीत गये मालूम नहीं वह कहाँ है···कैसी है···क्या कर रही है और··· और···न चाहने पर भी एक नाम एक मधुर टीस की तरह उसके हृदय में चमक उठा···उसने उसे बरबस ठेल-ढकेल कर मन से निकाल देना चाहा किन्तु बार-बार सभी ओर से घिर-घिराकर उसका मन उसी नाम में छट-पटाने लगा···मृदुला···वह मेरी कौन है···नहीं···नहीं···उसकी कल्पना करना भी अपराध है···पाप है···वह तो एक ऐसी भूली हुई कहानी है जिसकी याद कभी भी नहीं आ सकेगी···आनी चाहिये भी नहीं···कहाँ वह···कहाँ मैं·· उसके और मेरे बीच का अन्तर पहले ही कौन था और अब तो वह और भी बढ़ गया है वह···वह···बड़े घर की बेटी··· बड़े घर की कुलवधु···सन्तान की माता···समाज में सर्वमान्या··· धनी···मानी···एक उच्चवर्गीय कुलीन सत्ताधारी की पत्नी···आज तो उसका पति भी सुना था कि मिनिस्टर है···शायद होम मिनिस्टर है···कहाँ मृदुला और कहाँ हत्यारा···पापी···खूनी···हत्या के दण्ड को भोग करके खड़ा मैं···नहीं···नहीं···उसकी बात नहीं सोचूँगा पर बिना सोचे ही··· बरबस ही···उसकी आँखों में दो बूँदें चमक उठीं···उसकी बात सोचकर उसका इस जीवन में किसी भी प्रकार का अनिष्ट चिन्तन कर सकूँ ऐसी दुर्बुद्धि मेरी कभी भी न हो यही आकांक्षा है···किन्तु और कहीं विश्व में कुछ भी तो अपना कहकर मानने को है नहीं। तब क्या करूँ···क्या करूँ···यही प्रश्न भयंकर रूप से उसके सम्मुख खड़ा था···क्या करूँ··· कहाँ जाऊँ···जाना तो होगा ही···जाना तो है ही···तब कहाँ जाऊँ···वहीं

जहाँ पिता जी गये···जहाँ माँ गई है और और गई···मंजुला भी··· मंजुला की स्मृति ने उसके हृदय को कचोट डाला ··वह आँखों की बूँदें रोक नहीं सका···इसके सूखे गालों पर से ढुलकती बूँदें सूर्य की अन्तिम किरणों के प्रकाश में चमक रही थीं ··तब ठीक है···वहीं-जाऊँ जहाँ सब गये हैं और मुझे भी जाना तो ही है···तब आज ही सही···वही मार्ग मेरे लिये ठीक है···उसके साथी···निरीह···सरल···पापी···समाज के अभिशाप ···समाज की शान्ति के लिये भयंकर···चोर···डाकू···हत्यारे साथी··· उसके वियोग की कल्पना से ही दुखी हो उठे थे···उन्हें जीवन में स्नेह मिला था, आश्वासन मिला था और मिला था वास्तविक जीवन दर्शन··· उस व्यक्ति से जो उपदेशक नहीं था, जो अपने ऊँचे आसन पर उन सबसे दूर परे अलग बैठकर उन्हें उपदेश नहीं दे रहा था वरन् उस व्यक्ति से जो भुक्तभोगी था···जो उन्हीं के वर्ग का था···जो खूनी था···हत्यारा था किन्तु जिसे पहले तो सभी घृणा की दृष्टि से देखते थे क्योंकि वह उनसे भिन्न जाति का जीव था, वह गालियाँ नहीं देता था, मारपीट नहीं करता था···यहाँ तक कि दाल-रोटी को लेकर रोज झगड़ा भी नहीं करता था··· कामचोरी भी नहीं करता था और सभी की कहनी-अनकहनी चुपचाप सहकर बिना कहे ही न सिर्फ सब का काम ही कर देता था वरन् कभी-कभी औरों के दोष अपराध अपने सिर ओढ़कर उनके हिस्से का दण्ड भी स्वयं ही भोग लिया करता था। कैसी अप्रत्याशित···कैसी विचित्र बात थी···कौन विश्वास करेगा इस पर···फिर यह न तो बीड़ी ही पीता है और न जमादारों···को दे-लेकर कुछ सुविधाएँ ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है···साथी कैदियों ने घृणा की···दुत्कारा ··कायर कहा···हँसी उड़ाई···उस पर थूका···जमादारों ने कंजूस···मक्खीचूस कहा···अनेकानेक कष्ट दिये किन्तु वह तो वैसा ही अटल बना रहा···मौन···मूक···सारे कष्ट चुपचाप बिना एक भी शब्द मुख से निकाले सहता हुआ··· फिर सबने कहा—'साला बड़ा बना हुआ···' कुछ दिन यूँ ही चलता

रहा किन्तु कुछ वर्ष बाद जब कालू पहलवान लम्बा-चौड़ा काला देव-दानव जैसा अपना शरीर लेकर आया उसने अपनी पुरानी आदत के अनुसार इसे सताना शुरू किया तो सब को यही यकीन हो गया कि अब देखें यह कहाँ तक चुप रहता है···अब तो बोलेगा ही··· शिकायत तो करेगा ही किन्तु वही कालू पहलवान जिसने एक दिन इसे धक्का देकर इसका सिर फोड़ दिया था जब भागने की कोशिश करने के अपराध में जेल में भेजा जाने लगा और जब उसने अचानक ही इसकी ओर देखकर सब दोष इसके सिर मढ़ने की मामूली-सी कोशिश की और जब इसने उसे सहर्ष अपने सिर ओढ़कर उसका दण्ड झेल लिया तो वातावरण कुछ बदलने-सा लगा···सभी अविश्वासभरी आँखों से इसकी ओर देखने लगे···और एक दिन बच्चों की तरह बिलखते हुए कालू ने इससे कहा—'तुम देवता हो। इस नरक में क्या हम सबका उद्धार करने आये हो···तुम यहाँ से निकल जाओ···मैं तुम्हें निकाल दूँगा···' तो उसने इतना ही कहा—'नहीं, मैं भी तुम्हारी ही तरह अपराधी हूँ···और हूँ भी तुम्हीं जैसा···देवता-लेवता कुछ भी नहीं हूँ···मैं यहीं ठीक हूँ···तुम भी कुछ दिन शांति से रहो फिर हो सकता है तुम्हीं दीवारविहीन सुधारों की पहली सीढ़ी खुली जेल में भेज दिये जाओ।' और फिर तो अवकाश मिलते ही कालू पहलवान जब तक हो सकता इसी से बातें करता रहता··· और सभी मन ही मन इसे महात्मा समझने लगे···देवता की भाँति पूजने लगे थे किन्तु यह एकरस था, शान्त था, स्थिर था···दो वर्ष पूर्व जेल से जाते हुए कालू पहलवान उसे छूटने पर अपने घर आने का निमन्त्रण दे गया था किन्तु उसे आज वह सब कुछ याद नहीं था···इन लम्बे वर्षों में उसे बहुत से बिछुड़ते साथियों के निमन्त्रण मिले थे किन्तु कहाँ थे वे सब याद उसे···वह सभी कुछ भूल चुका था···सभी कुछ भूल जाने के लिये ही तो वह इतने दिन तक सतर्क रहा था किन्तु कहाँ भूल पाया···भूल ही तो नहीं पाया उसे जान पड़ा कि जिस पथ पर उसके माता-

पिता गये ··मंजुला गई···वह पथ भी उसके लिये प्रशस्त नहीं है···वही पथ उसके लिये ठीक है यह तो नहीं है किन्तु कहां जा पाया उस पर भी वह···उस पथ का पथिक बन कर भी तो वह लौट ही आया···वह सोचता रहा है भगवान मुझे फाँसी क्यों नहीं मिली ? किसलिये बच गया मैं··· आजन्म कैद ओह ! कैसी भयंकर यन्त्रणा थी यह···जीवित रहते हुए भी मृतक के समान रहना···यह तो भीषण था ही किन्तु इसका मैं अभ्यस्त तो हो ही गया था और अब इससे भी कहीं अधिक भीषण है···कल बाहर जाने की कल्पना···कहाँ जाऊँ कहाँ जाऊँगा मैं···नहीं···नहीं···मैं डाका डालूँगा और फिर यहीं आ जाऊँगा···यहीं रहूँगा मैं अपनी अन्तिम श्वास तक हत्या करूँगा···जानबूझ कर हत्या करूँगा और फिर यहीं आ जाऊँगा···इन्हीं दीवारों के भीतर किन्तु कैसे डाका डालूँगा···कैसे कर सकूँगा हत्या···मैंने तो बड़ी चेष्टा की थी यह सब विद्याएँ सीखने की पर कालू तो कहता था कि मैं कभी यह सब सीख नहीं पाऊँगा कभी नहीं··· चाह कर भी नहीं···मैं कायर हूँ···अयोग्य हूँ···हत्या करना मेरे वश का रोग नहीं ··डाका डालना मेरी क्षमता के भीतर की बात नहीं है···मैं कुछ भी नहीं कर सकता···हूँ···मैं अयोग्य हूँ···मैं अक्षम्य हूँ···मैं···कायर हूँ··· फिर भी मैं हत्यारा हूँ···खूनी हूँ···हत्या करने के जुर्म में दण्ड पा रहा हूँ···उसकी दृष्टि धुँधली पड़ती जा रही थी···उसका मन और भी अधिक डूबता जा रहा था···कहाँ जाऊँगा मैं···हत्यारा···पापी···निसंग···एकाकी ···अपराधी···कुछ काम भी तो नहीं कर सकता···और मुझे···मुझ हत्यारे को काम देगा भी कौन···घर में रखेगा भी कौन और क्यों कोई मुझे काम दे···बाहर क्या योग्य बेकार व्यक्तियों का अभाव है···क्या खाऊँगा···कहाँ रहूँगा···क्या करूँगा···किन्तु जीवित रहना ही क्या आवश्यक है··· नहीं···नहीं ··मैं जाऊँगा, अवश्य जाऊँगा···वहीं जाऊँगा जहाँ कि सभी गये हैं···सभी को जाना है···इस बार मृत्यु मुझे धोखा देकर भाग नहीं सकेगी···हाथ में आकर किसी प्रकार भी फिसल नहीं सकेगी···और दूसरे

दिन मुक्ति प्राप्त करते ही उसके पैर लड़खड़ा उठे···वह धीरे-धीरे चल दिया उसी ओर जिधर···सब गये थे···चलते-चलते सन्ध्या घिर आई··· अन्धेरा होने ही वाला था और वह थक कर···मन प्राण से क्लान्त होकर··· देह से शिथिल होकर चलने के अनभ्यस्त पैरों को घसीटते हुए वहीं धूल-मिट्टी में···श्मशान की भयंकरता में थकी हुई श्वासों का असह्य बोझ लिये बैठ गया···गिर गया···उसे जान पड़ा कि क्षितिज में कुछ अदृश्य-सी अँगुलियाँ हिल रही हैं···उसे बुला रही हैं···उसके थके प्राण मानो और अधिक देह के···त्रसितर-थकित देह के आधार में टिकना नहीं चाहते हैं···उसकी वेदना का मानो स्रोत ही शुष्क हो गया है ··एकबारगी सूख गया है···उसके मन का समस्त रस मानो कभी का निचुड़ कर निःशेष हो चुका है···वह न जाने क्या सोच रहा था···उसका शरीर काँप रहा था···मन प्राण काँप रहे थे···वह युगों से थकित···चकित···व्याकुल-सा काँप रहा था।

उस दिन गाँव में बड़ा भारी उत्सव था···स्वावलम्बी गाँव में कालेज में नये भवन की नींव डाली जा रही थी···कालेज···नहीं कालेज तो क्या वह एक नवीन कल्पना का साक्षात् स्वरूप था···चमारों के गाँव में चमारों, जुलाहों के साफ-सुथरे परिश्रमी युवक इधर-उधर दौड़ रहे थे···पिछले कई वर्ष से स्वावलम्बन की, चरित्र निर्माण की, परिश्रम करने और कराने की इस पाठशाला, केन्द्र अथवा और कुछ भी कह लीजिये का निजी भवन नहीं था···भवन की आवश्यकता भी क्या थी···खुले आकाश के तले, पेड़ों के नीचे या जहाँ कहीं भी स्थान मिलता वहीं कार्य आरम्भ हो जाता···कार्य था भी क्या···कुटीर उद्योगों को लेकर उन्हीं के आधार पर शिक्षा, दीक्षा का प्रबन्ध कर पाने, मनुज को मनुज बनाने के प्रयोग का एक परीक्षण मात्र ही तो था···अरुण ने जो कार्य आरम्भ किया था मृदुला उसी को मन प्राण से गति देने···रूप देने की चेष्टा में संलग्न थी···जिस दिन मृदुला भरा पूरा धन वैभव से, ऐश्वर्य से लसा अपना घर छोड़ कर

आई थी उसी दिन से वह मंजुला की ही झोंपड़ी में रहती थी। पिता के दहेज में दिये हुए धन के अतिरिक्त और सभी कुछ उसने अपनी लड़की को दे दिया था। माता-पिता ने बहुत समझाया कि पागल न बनो···यदि समाज-सेवा ही करना है तो वैसे करो जैसे तुम्हारी माँ करती है, भाभियाँ करती हैं किन्तु मृदुला ने केवल यही कहा—'यह समाज-सेवा नहीं है पिता जी! यह प्रायश्चित है और प्रायश्चित व्यक्ति को स्वयं ही करना पड़ता है। उसके बदले कोई और नहीं कर सकता।···' पिता की समझ में कुछ भी नहीं आया···समझने की पूरी चेष्टा करके भी कुछ भी तनिक-सा भी समझ नहीं पाये किन्तु लड़की की ज़िद के आगे उनकी एक भी नहीं चली। हार कर उन्होंने कहा—'ठीक है, तब यहीं हम एक अच्छा-सा मकान बनवा देते हैं, तुम यहीं रहो।' मृदुला सुनकर हँस दी। उसने कहा—'पिता जी! मुझे मेरे ही मार्ग पर चलने दीजिये। इसी से मुझे शान्ति मिलेगी···सुख मिलेगा···आप मेरे जन्म के साथी थे किन्तु कर्म का साथी तो कोई नहीं होता था।' दीर्घ निःश्वास लेते···लड़की के पागलपन पर झींकते-रोते माता-पिता चले गये किन्तु जो वह चेष्टा करके भी नहीं समझ पाये वही कुँवर साहब ने अनायास ही समझ लिया किन्तु इच्छा करके भी पत्नी पर अधिकार के दावे से घसीट कर घर न ले जा पाये। तब उन्होंने भी मृदुला को वहीं अपना जीवन स्तर तनिक ठीक कर लेने का उत्कट आग्रह किया। उनके···पति के···अत्यन्त आग्रह करने पर भी मृदुला ने शान्त भाव से कहा—'तुमने मुझे मुक्ति का मार्ग दिखा दिया···तुमसे मुक्ति ले चुकी हूँ अब और कुछ भी नहीं लूँगी···ले सकूँगी ही नहीं। तुम्हारी किसी भी वस्तु पर मेरा तनिक भी न तो प्रलोभन है और न अधिकार ही।' 'किन्तु यह तुम्हारा कानूनी अधिकार है। तुम मेरी विवाहिता पत्नी हो। किसलिये अपना अधिकार छोड़कर व्यर्थ में ही दुःख पाने के लिये चेष्टा कर रही हो।'

'वह सब बातें तुम नहीं समझोगे।'

'तुम मेरी पत्नी हो क्या यह भी नहीं समझ सकूँगा ?'

'किसी दिन थी···संसार की दृष्टि में आज भी हूँ किन्तु जब तुमने स्वयं ही अपने हाथों विधाता के उस लेख को ज़ोर जबरदस्ती से मिटा दिया है तो आज उसकी चर्चा कैसी ? आज तो तुम और मैं दोनों ही जानते हैं कि यह निरा ढोंग ही है जिसे हम दोनों बहुत दिनों से न जाने क्यों निभाते चले आ रहे थे।'

'तुम जानती होगी किन्तु मैं तो नहीं जानता कि हमारा विवाह भी ढोंग ही था।'

'जानते हो, खूब जानते हो, खूब समझते हो। व्यर्थ में ही अज्ञान बनने का दूसरा ढोंग करके स्वयं अपनी दृष्टि में और छोटे न बनो।'

'क्या तुम्हारे निकट किसी के दावे का कुछ मूल्य नहीं है ?'

'जहाँ सहज स्नेह का, अधिकार प्रेम का, एकान्त दावा चुक गया हो वहाँ अन्य कुछ भी लेकर तुम्हें बाँधने की चेष्टा करने की-सी ओछी प्रवृत्ति मेरी नहीं होती है। वह तुम्हारी लड़की है तुम्हारे वैभव का वही उपयोग करे यही उचित है।' इस बार कुँवर साहब ने आर्द्र कण्ठ से कहा—'मुझे क्षमा नहीं कर सकोगी ? मृदुला !' मृदुला ने मुँह उठाकर एक बार कुँवर साहब की ओर देखकर कहा—'जहाँ से क्षमा की जाती है वह रस-स्रोत ही सूख गया है कुँवर साहब।' उसने मन-ही-मन काँपते हुए, थरथराते हुए स्वर में स्वयं अपने से दृढ़तापूर्वक कहा—'कुँवरानी अब मर चुकी है, उसे मरना ही चाहिये था·····किसी भी बहाने से अब वह जीवित नहीं हो सकेगी···हो पायगी ही नहीं···उसे जीकर मरना भी क्या है ···वह किस लिए···किसके लिए जिये···उसे जाने दो···मर जाने दो···फिर कुँवर साहब का किसी भी दिन यह साहस नहीं हुआ कि मृदुला को कुँवरानी के स्तर पर खींच-घसीट कर लाने की बरबस चेष्टा करें···थोड़े दिन तक सभी ने जोर लगाया किन्तु सभी थक कर बैठ गये···मृदुला ने स्वेच्छा से अपनाये हुए नये जीवन में अपने-आपको पूरी तरह डुबो लिया···पहले तो गाँव वालों को

यह साफ-सुथरी, सुन्दरी नारी विचित्र-सी लगी जिसके पास रोज ही मोटरों पर बैठकर लोग आते थे···जो रानी थी, महारानी थी···चेष्टा करने पर भी आसानी से मोटरों वाली कुँवरानी मृदुला···दिन-दिन नंगे पाँव आने वाली देवी प्रतिमा-सी अन्नपूर्णा-सी मंजुला का स्थान न ले सकी···किन्तु मृदुला तो यहाँ लौटने के लिए आई नहीं थी—धीरे-धीरे तनाव कुछ कम हुआ···आभूषण बनाव-शृङ्गाररहित इस रानी को गाँव वालों को अपने बीच स्थान देना ही पड़ा। मंजुला के नाम का जादू था ही···अरुण को अभी तक ग्रामीण देवता ही समझते थे···नहीं विश्वास किया तो मजदूरों ने··· जगन ने···मृदुला ने कठिन तपस्या करना आरम्भ कर दिया···गाँव में जुलाहे थे···गाँव में चमार थे···मृदुला के पास धन भी तो था···थोड़े ही समय में गाँव का कपड़े बुनने और जूते बनाने का केन्द्र प्रान्त भर में अच्छे नमूनों, मजबूती और अच्छे काम के लिए प्रसिद्ध हो गया···अब वहाँ शिक्षा-दीक्षा भी इन्हीं उद्योग-धन्धों के आधार पर दी जाने लगी··· मृदुला···स्वयं भी अकेली अभी तक सब काम कर रही थी किन्तु अब सहायक भी मिलने लगे···स्वावलम्बी गाँव के आत्माभिमानी बच्चे तक परिश्रम से धन और विद्या का उपार्जन करने लगे···सभी सेवा-संस्थाओं का ध्यान उधर खिंचने लगा किन्तु मृदुला का ध्यान उधर नहीं था। अशिक्षित धनिया, बूढ़ी किसना और ईर्ष्यालु सोना तो मृदुला की सहायिकाएँ थीं ही किन्तु मंजुला की प्रिय शिष्या रमिया तो मृदुला के केन्द्र की प्राण ही थी···गाँव को समृद्धि कभी-कभी नगर से सफेद लाल और काली टोपी पहने समाज-सेवियों, राजनीतिक दलों के नेताओं को भी खींच कर ले आती थी किन्तु मृदुला केवल मृदुला ही रहना चाहती थी···फिर भी वह कुँवरानी बनी ही रही। इच्छा न होने पर भी प्रबल अस्वीकृति के बावजूद भी विश्व ने उसे यह भूलने ही कहाँ दिया कि वह बड़े आदमी की लड़की हैं-और बड़े आदमी की पत्नी हैं···नगर के पत्रों में मृदुला के कार्य की प्रशंसा में पृष्ठ रँगे जाने लगे। अमुक मिनिस्टर की लड़की और अमुक मिनिस्टर की पत्नी

के अपूर्व त्याग, समाज-सुधार की प्रबल लगन और विचित्र बलिदान की गाथाओं से पत्रों के कालम के कालम भरे रहते थे···चित्र भी निकलते थे और तरह-तरह की स्तुतियाँ भी···कभी भूले-भटके जब यह पत्र मृदुला के पास पहुँच ही जाते तो वह हँस देती थी···कभी-कभी उसे जान पड़ता कि उसके पति अब भी उसके सम्बन्ध को आगे करके खोटे रुपये की भाँति भुना ही लेना चाहते हैं किन्तु उसे क्या·····उसने केन्द्र के लिए न तो सरकार से सहायता कभी ली ही थी और न उसे लेने की आकांक्षा ही थी···इन प्रशंसा-पत्रों का भी उसे क्या करना था···दो बार उसे निर्वाचन में···असेम्बली अथवा पार्लियामेंट के लिए चुनाव में खड़े होने का निमन्त्रण भी मिला किन्तु उसने हँसकर यही कहा—'मैं क्या करूँगी एम० एल० ए० अथवा एम० पी० होकर···मैं तो इस गाँव में ही भली हूँ···' तर्क-वितर्क में न पड़ कर वह यही कह दिया करती थी कि उसे गाँव से बाहर की दुनियाँ से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना है···वर्षों के परिश्रम ने गाँव को बिल्कुल बदल ही दिया था। कभी-कभी मृदुला सोचती काश कि अरुण यह सब देख सके···और वह यह सब कर ही क्यों रही है··· किसके लिए कर रही है और उसे दिखाई दे जाती दो जलती हुई आँखें··· और फिर तुरन्त ही देखती वह दो स्निग्ध स्नेहभरी आँखें जिन्हें उसने वर्षों पूर्व अन्तिम बार ही देखा था···उस दिन गाँव के उस विचित्र कालेज के भवनरहित···ऊँचे-ऊँचे मकानों रहित, आडम्बरशून्य झोंपड़ियों के पुञ्ज स्वरूप भवन का उद्घाटन था जिसमें गाँव के बालकों के हित सम्बन्धी योजनाओं का निर्माण और उनका परीक्षण किये जाने का प्रबन्ध किया गया था। मृदुला को जान पड़ा कि बापू···के स्वप्नों का···अरुण की कल्पना का···मंजुला के जीवन-ध्येय का यह एक छोटा-सा जीवित स्वरूप है···उसे मंजुला के शब्द याद हो आये कि 'यदि कभी अवसर मिला तो बापू की कल्पना को अकेले ही सार्थक करने की चेष्टा करूँगी।' '···चरित्र निर्माण की शाला मानव के मन में होती है ··पत्थर के ऊँचे-ऊँचे प्रासादों

में नहीं···' अरुण कहा करता था···किन्तु कहाँ है आज मंजुला···कहाँ है आज अरुण···भवन का उद्घाटन धनिया के हाथों से होना था···उसी धनिया के जो हत्यारी थी, पापिनी थी, बदमाश थी···काश कि अरुण यहाँ होता···काश कि अरुण देख पाता···उत्सव में मृदुला जाना नहीं चाहती थी किन्तु उसे जाना ही पड़ेगा···उसे छोड़ेगा ही कौन···वही तो उन सबकी गुरु है···अग्रणी है···उसे वह कैसे छोड़ेंगे···उसे जाना तो पड़ा किन्तु उसका मन वहाँ नहीं लग रहा था। उसे जाना था···नगर जाना था···भले ही विश्व भर में अन्य कोई भी प्राणी याद न रखे किन्तु मृदुला किसी प्रकार भी भूल नहीं सकती आज का दिन···कितने चुपके-चुपके... कितनी कठिनाई से तो उसने यह खबर पाई थी कि आज अरुण की आजन्म कैद की अवधि के वर्ष···दण्डावधि के वर्ष पूरे हो चुकेंगे··· किन्तु वह उन्हें चुपचाप···कंजूस के धन की नाईं अकेले ही मिलेगी··· अकेले ही लायेगी···कौन-सा मुँह लेकर जायगी वह कहने कि देखो···यह तुम्हारा काम मैंने पूरा किया है, करने की चेष्टा की है···नहीं···नहीं··· इतना साहस उसमें नहीं है···वह ऐसा कदापि नहीं कर सकेगी ··जिन्हें कभी किसी दिन एक क्षण भर के लिए भी भूल नहीं पाई थी उन्हीं के निकट साक्षात् सशरीर उसे जाना होगा···साहस चुक रहा था किन्तु उसे जाना तो होगा ही···वह क्या समझेंगे···उन्हें विश्वास होगा क्या कि वह उन्हें ही लेने आई है···मिलने आई है···उन्हें मुझ पर विश्वास हो सकेगा···नहीं भी हो तो क्या उसे शिकायत करने का कोई अधिकार है··· किन्तु उसे तो जाना ही होगा···निरपराध, निर्दोष···अकारण उसी के लिए आजन्म कैद का दण्ड पाने वाले व्यक्ति को वह आज विश्व में एकाकी कैसे छोड़ दे···उसे ही तो···एकमात्र उसे ही तो आगे बढ़कर अकेले ही उनका स्वागत करना होगा···अरुण···अरुण ··मास्टर साहब·· आप··· तुम···एकाकी नहीं हो····नहीं हो···अरुण तुम्हारे जीवन का यह क्षण····यह भयंकर क्षण भी सर्वथा शून्य नहीं है किन्तु अब कौन-सा रस भर सकूँगी मैं भी

इन भयंकर क्षणों में····ओह ! कितना भयानक अपराध कर बैठे थे····उस समय हम····पति····पत्नी····धर्मपत्नी होने का क्या इतना कठोर दण्ड भी आजकल किसी पत्नी को मिला होगा···क्यों किसलिए क्या इसीलिए कि वह नारी है····धर्मपत्नी है···आश्रिता है···पुरुष की सन्तान की जननी है···क्या मैं उस समय कुछ भी नहीं कर सकती थी···जीवन के अनेकों लम्बे-लम्बे सुन्दर वर्ष जेल की काल कोठरी में निरपराध बिता कर आने वाले व्यक्ति से क्या कहूँगी मैं···कैसे कहूँगी मैं···वह मुझे पहचान भी पायेंगे···मृदुला का सिर चकरा गया···ताँगे से जेल के द्वार पर उतर कर उसे निराशा का ही सामना करना पड़ा···वह जा चुका था···कौन जाने किधर···किस ओर···थोड़ी ही देर पूर्व तो···यही तो कह रहा था चौकीदार और वह चल दी दिखाई हुई दिशा की ओर···उसे खोजने··· किसे ? उसे जो कि उससे युगों पूर्व खो चुका था····नहीं····वही····कभी पकड़ाई दिया ही नहीं था····उसके हाथों में आकर फिसल गया था और शायद कभी हाथों में आया ही नहीं था···खोजते-खोजते सन्ध्या हो आई··· वातावरण धूमिल हो उठा····वह बढ़ी चली जा रही थी····ओह ! गहन, गम्भीर, उदासी, धुँधला-सा वातावरण और वे बोझिल पलकें···कंकालप्राय शरीर यही उसका अरुण है····अरुणिमा लिए हुए अरुण···स्वर्ण कान्ति-वान अरुण···कैसा अन्याय है । उसका जी चाहा कि वह स्वयं अपना स्वरूप भी देख पाती···वह भी तो···वह भी तो···नहीं-नहीं···उसे अरुण को जीवित रखना होगा···वह उसे जीवित रखेगी···उसके समस्त अविश्वास, उसकी समस्त यदि हो तो घृणा को···उसके समस्त उत्पीड़न को सहन करके भी उसे जीवित रखेगी···उसे जीवित रखना ही होगा किन्तु क्यों··· किसके लिए···मानवता के नाम पर···जो हो···उसे जीवित रखना ही होगा···शायद सकारण···शायद अकारण···

रात्रि के अन्तिम प्रहर में भयंकर सन्नाटे और घनघोर अन्धकार के बीच एक नारी मूर्ति का हाथ पकड़े उसके कन्धे का आश्रय लिये चला जा

रहा था···पुरुष थका, टूटा, हारा, माँदा और उसका भार उठाये चली जा रही थी नारी, अपनी पूरी ऊँचाई पर तनी···चलती हुई पुरुष का भार ढोती हुई शान्त, गम्भीर और महिमामयी···पुरुष ने अपने समस्त भार को नारी के हाथों सौंपकर मुक्ति की श्वास ली थी किन्तु नारी···वह···उस भार को उठाकर ही मुक्ति की श्वासें भर पाई थी···और बोझिल-सा वातावरण अधिकाधिक गम्भीर होता ही चला, जा रहा था···पुरुष ने पूछा—'कहाँ चलना होगा?' 'जहाँ मैं ले चलूँ। क्यों स्वीकार है?' प्रश्न में तनिक-सा कम्पन भी था। 'और चारा क्या है?'

'क्यों प्रसन्न नहीं हो?' प्रश्न में व्यंग्य नहीं था किन्तु स्वर तप्त था, भीगा-भीगा-सा नहीं···किन्तु जलता हुआ-सा 'निष्ठुर।' युगों, वर्षों पूर्व का स्वर मचल उठा···उन युगों···वर्षों का व्यवधान मानों पलक भर में ही उड़ गया···तनिक निकट आकर मृदुला ने धीरे से मानो स्वयं अपने को भी न सुनाते हुए कहा—'एक दिन तुम्हें पहचानने में भूल हो गई थी··· अरुण! मास्टर साहब···वह भूल किसी दिन भी सुधरी नहीं, किन्तु आज भी न पहचान पाऊँ, ऐसी अन्धी मैं नहीं हूँ।' अरुण की समझ में कुछ भी नहीं आ रहा था किन्तु इतना वह भी समझ ही गया था कि उसकी गति इस नारी के स्नेहांचल की छाया के नीचे चुपचाप चले जाने में ही है···महिमामयी, गौरवमयी यह नारी उसकी पथ प्रदर्शिका है···स्वामिनी है और न जाने क्या-क्या है···मृदुला को देखते ही अरुण गत अनेकों वर्षों को भूल गया···उसे जान पड़ा कि एक दुःस्वप्न था जो कि बीत गया··· चला गया···समाप्त हो गया···उस स्वप्न की भीषणता मानो क्षणमात्र में ही कपूर की तरह उड़ गई थी। उसने धीरे से चलते-चलते अपना सिर मृदुला के कन्धे पर टिका दिया। उसे जान पड़ा कि उसके हृदय का समस्त भार हल्का हो गया···वह हल्का हो गया···एकबारगी हल्का हो गया···मृदुला एक हल्के कम्पन के साथ पुनः स्थिर होकर शान्त भाव से पैर बढ़ाये···पुरुष के मस्तक का भार अपने नाजुक कन्धे पर उठाये चली

जा रही थी···वायु सनसनाती हुई बह रही थी···वातावरण कैसा ही बोझिल था किन्तु दो थके-हारे टूटे मन शान्त थे···एकबारगी शान्त···बहुत ही अधिक शान्त···भरे-भरे···से···पूर्ण···पूर्ण से···एक अकारण ही पराया भार ढो रहा था और दूसरा अकारण ही अपना समस्त भार अनधिकार रूप से दूसरे पर डालकर शान्त था···नितान्त चिन्तारहित था···नितान्त निश्चिन्त था···शून्य···एकबारगी, शून्य ··मुक्त···निर्द्वन्द्व···अरुण सोच रहा था कि विश्व में कब, किसको, क्यों किसी का भार स्वेच्छा से अकारण ही ढोना पड़ता है इसका हिसाब-किताब ही कहाँ है···कैसे है और कब है··· और दूसरी ओर मृदुला सोच रही थी कि पराया भार भी अकारण ही कब, क्यों और कैसे मधुर हो उठता है इसकी जान-पहचान ही किसे है और शायद दोनों ही सोच रहे थे कि कब ? क्यों ?? और कैसे ??? 'अन चाहा', अनजाना, अनमाना, मन कल्पित ही जीवन में अचानक आकर उसे असमय की आँधी की भाँति झकझोर डालता है इसकी मीमांसा कर पाना भी मानव के भाग्य में शायद नहीं है···सो क्यों ?